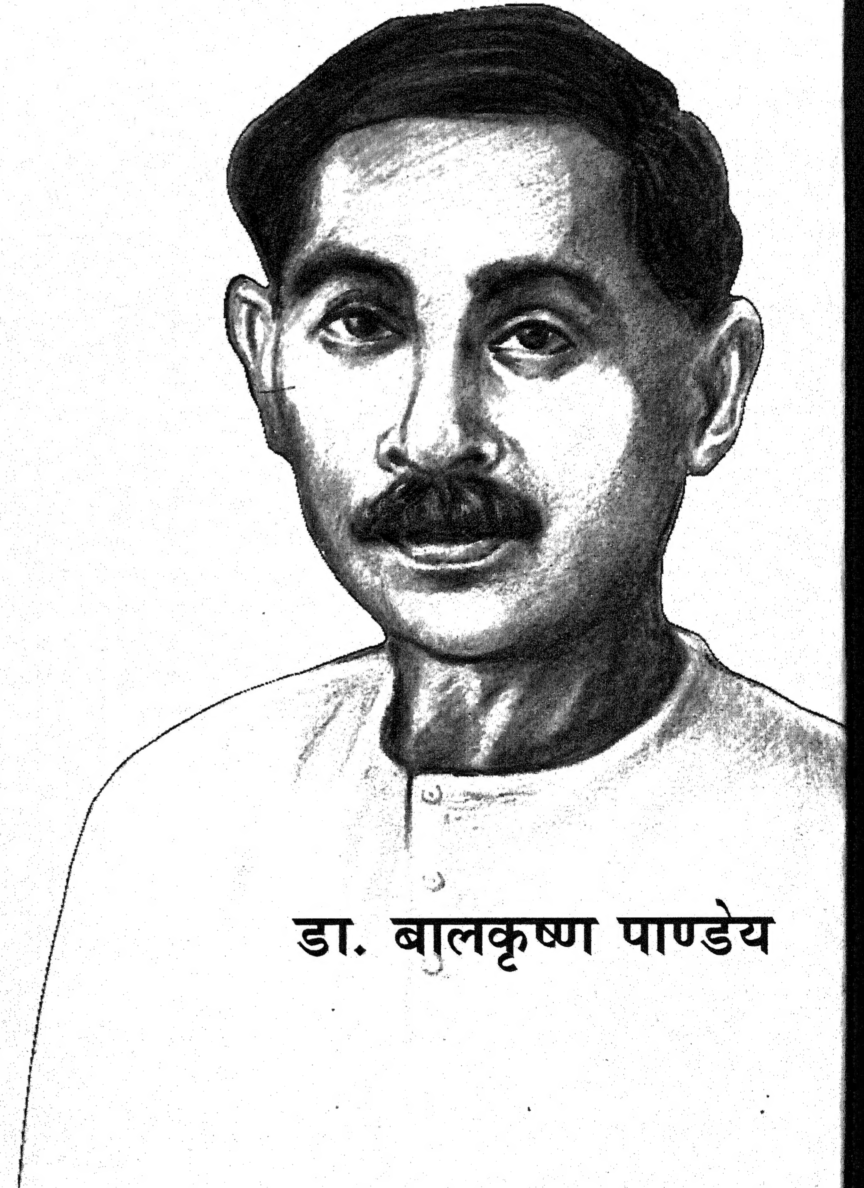
प्रेमचन्द
विचारधारा और साहित्य





डा. बालकृष्ण पाण्डेय

यह पुस्तक

यह पुस्तक—प्रेमचन्द : विचारधारा और साहित्य, उस रचनाकार के सम्बन्ध में एक समझ विकसित करने में समर्थ हैं, जिसने अपने कथा साहित्य में भारतीय समाज के द्वैत और अन्तर्द्वंद्व के यथार्थ को चित्रित करने में कोई कोताही नहीं बरती। डा0 बालकृष्ण पाण्डेय ने बड़े श्रम से इस पुस्तक में प्रेमचन्द के समग्र साहित्य की विवेचना ऐसी शैली में की है जिससे आज के सन्दर्भों में भी प्रेमचन्द उतने ही अर्थ पूर्ण लगते हैं जितने बीसवीं शती के तीसरे और चौथे दशक में लगते रहे होंगे।

प्रेमचन्द्र की कृतियों ने हिन्दी साहित्य और भारतीय इतिहास को न केवल नई दिशा प्रदान की बल्कि भारतीय समाज के ऐसे पात्र और ऐसे विचार चर्चा के विषय बने जिनकी उपेक्षा और अवमानना के कारण भारतीय समाज में संडाद्य उत्पन्न हो रहा था। डा0 पाण्डेय ने अपने इस आलोचनात्मक ग्रन्थ में उस चेतना को बखूबी उकेरा है जिससे प्रेमचन्द के यथार्थवाद को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। प्रेमचन्द्र पर खूब लिखा गया है पर इस पुस्तक की भी खूबी है कि यह प्रेमचन्द का सम्पूर्ण अध्ययन एक साथ उपलब्ध कर देती है। डा0 पाण्डेय में सम्भावनायें हैं साहित्य को समझने और समझाने की एक विशिष्ट क्षमता है। विश्वास है, कि उनकी सम्भावनायें क्षीण नहीं होगी और उनकी कृतियाँ भविष्य में भी प्रकाश में आती रहेगी।

डॉ0 चन्द्रविजय चतुर्वेदी

प्राचार्य

राजकीय पी.जी. कालेज, चन्दौली

और
में ए
जिस
सम
को
बरत
से इ
की
आर
अर्थ
तीस

सा
केव
भार
विच
उपे
सम
डा
ग्रन्थ
जि
सम
प्रेम
पुस
का
कर
हैं
एक
उन
उन
आ

प्रेमचन्द
विचारधारा और साहित्य

डॉ० बाल कृष्ण पाण्डेय

शिल्पी प्रकाशन
इलाहाबाद

शिल्पी प्रकाशन
117सी/7 मीरापुर
फोन : 2658930
इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित

•

प्रथम संस्करण : 2003

•

•

लेजर टाइप सेटिंग :
एवन स्क्रीनर प्रिंटर्स
इलाहाबाद

•

द्वारा मुद्रित :
भार्गव आफसेट
बाई का बाग, इलाहाबाद

मूल्य : दो सौ पचास रुपये

ममतामयी अम्मा की
स्मृति को
जो इस बहुप्रतीक्षित कृति को
देखे बिना
13 अप्रैल, 2003 को
अचानक महायात्रा पर
निकल पड़ीं

प्रेमचन्द : एक युग पुरुष

• दूधनाथसिंह

भारतीय साहित्य में प्रेमचन्द एक ऐसे व्यक्तित्व थे, जिन्होंने साहित्य की परंपरा को एक नया मोड़ दिया। उनके पहले भारतीय साहित्य के विषय अधिकतर राजसत्ता, राजपुरुष और आभिजात्य वर्ग के चरित्र हुआ करते थे। प्रेमचन्द ने पहली बार इस परंपरा को सामान्य जनता की ओर मोड़ दिया। उनके लेखन के साथ ही भारतीय साहित्य में एक नये युग का प्रारंभ होता है। यह एक ऐसा मोड़ है जिसकी दूसरी मिसाल भारतीय साहित्य में नहीं है। उनकी कहानियों और उपन्यासों के साथ ही कथानायक और चरित्रों की एक नयी परंपरा की भी शुरूआत हुई। कह सकते हैं कि वे पहले लेखक हैं जिन्होंने सामान्य जन समाज की समस्याओं को, उसके सुख-दु:ख और उसके संघर्षों की अजेय गाथा को अपने साहित्य का विषय बनाया। प्रेमचन्द्र के पहले ये सारे विषय गोस्वामी तुलसीदास के शब्दो में 'प्राकृतजन के गुणगान' थे, जिससे सरस्वती के नाराज होने का खतरा बना रहता था। प्रेमचन्द ने अपने दुस्साहस से यह खतरा मोल लिया और 'प्राकृत जन के गुणगान' को सरस्वती की आराधना का विषय बनाया।

प्रेमचन्द के विचारों का क्रमबद्ध विकास होता हैं, अपने प्रारंभिक जीवन में वे अनेक सुधारवादी आंदोलनों से प्रभावित रहे। उनमें एक नीति और नैतिक आदर्श बहुत प्रबल था। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में गाँधीजी के शुभागमन के साथ ही वे सत्याग्रह और अहिंसा जैसे उनके विचारों के प्रभाव में आये। जिस तरह गाँधीजी उपनिवेशवाद के खिलाफ समग्र भारतीय जनता को एकजुट करना चाहते थे, उसी तरह प्रेमचंद की कृतियां भी इसका आवाहन करती हैं। प्रेमाश्रय, कर्मभूमि, रंगभूमि और गबन उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष में भारतीय जनता की कथात्मक दस्तावेज हैं। लेकिन इस एकजुटता के बावजूद प्रेमचन्द भारतीय समाज के भीतर अवस्थित और उसे कीड़े की तरह खाने वाले सामंतों, जमीदारों सूदखोरों, पाखण्डी और कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के बरक्स किसानों, मजदूरों स्त्रियों और दलितों के शोषण और दमन को भी अपनी कहानियों, उपन्यासों, व लेखों का विषय बनाते हैं। इस तरह प्रेमचन्द पर दोहरा लेखकीय दबाव है- 1. गाँधी जी का वर्ग समन्वय, सत्याग्रह और

अहिंसा, 2. भारतीय समाज के भीतर, द्वन्द्व, संघर्ष और शोषण की अवस्थाएं।

इन्हीं अन्तर्विरोधों के बीच से प्रेमचन्द के कथा साहित्य का वैचारिक विकास होता है और सेवासदन से लेकर गोदान तक धीरे-धीरे उनकी निष्ठा भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के नारों के बजाय भारतीय जनता के शोषण और संघर्ष की कथा लिखने की ओर बढ़ाने लगता है।

प्रेमचन्द के चरित्र विशिष्ट न होकर 'मॉडल' है। अर्थात् वे अपने माध्यम से एक दूसरे जनसमूल का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोई जमींदार का, कोई मिल मालिक का, तो कोई किसान और मजदूर का। इस तरह प्रेमचन्द ने केवल हिन्दी कथा साहित्य का प्रारंभ ही नहीं किया वे उसके जनक ही नहीं हैं, बल्कि उन्होंने उसको यथार्थवादी चित्रण का धरातल भी दिया। हम कह सकते हैं कि हिन्दी कथा साहित्य के युगपुरुष और निर्माता हैं। अपने साहित्य में उन्होंने समग्र भारतीय समाज और उसकी ऐतिहासिक जनचेतना को समेटने का प्रयास किया। 'जनता की बोली में जनता का साहित्य'- यही है प्रेमचन्द का साहित्यिक आदर्श।

डॉ0 बालकृषण पाण्डेय ने प्रेमचन्द को इस महान आदर्शों उनके विचारधारात्मक विकास और भारतीय जन समाज के प्रति उनकी अटल निष्ठा और उनके संघर्ष के तेवर का बहुत ही सुविचारित, सरल लेकिन संश्लिष्ट व गहरा विश्लेषण अपनी इस पुस्तक 'प्रेमचन्दः विचारधारा और साहित्य' में किया है। प्रेमचन्द पर लिखी पुस्तकों की परंपरा में यह प्रेमचन्द का पहला संपूर्ण अध्ययन है। श्री नन्द दुलारे बाजपेयी, इन्द्रनाथ मदान, डॉ0 रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द के साहित्य के संबंध में जो आलोचनात्मक कार्य किया है, उसे बाल कृष्ण पाण्डेय की यह पुस्तक और आगे बढ़ाती है। यह प्रेमचन्द की समस्त कृतियों का पहला सम्पूर्ण अध्ययन और विश्लेषण है। इससे उनके आलोचक व्यक्तिव का एक नया रूप प्रकट होता है।

मैं समझता हँ और आशा करता हूँ कि प्रेमचन्द के सुधी पाठक और विद्वान विश्लेषक तथा आलोचक उनकी इस आलोचनात्मक पुस्तक को सराहेंगे और इससे प्रेमचंद सम्बन्धी आलोचना के विकास में और मदद मिलेगी। उपर्युक्त विद्वान आलोचकों की परंपरा की अगली कड़ी 'प्रेमचन्द : विचार धारा और साहित्य' है। डॉ0 बालकृष्ण पाण्डेय मरे विद्यार्थी रहे हैं और इस पुस्तक की रचना पर मैं उन्हें व्यक्तिगत बधाई देता हँ

इलाहाबाद
25-5-2003

विषयानुक्रम

प्रक्रिया
संवेदनशी
प्रभावित
य
अनिवार्यत
भावसत्ता
है। हम उ
युग चेतन
लेखक क
चेतना के
वह लिख
साथ–साथ
बहुत कुछ
है।"6" आच
हैं, स्पष्ट है
वहाँ की स
पड़ती है।
शताब्दी में
विघटित अ
निर्माण वर्ग–
शती के अंत
या स्वतंत्रत
यही नहीं
नारायण मि
लक्षण रंग–
समस्याओं
है।"9"
समा
यद्यपि प्रत्येक
में इसे सहा
समाज, राम
ने प्रभावित
पड़ा है। गांध
इसी तरह रू
नया आयाम
देश



लेखक की विचार प्रक्रिया

रचना कृतिकार का दर्पण होती है जिसमें कृतिकार के विचारों की प्रतिच्छाया दर्शित होती है। लेखक अपनी विचार प्रक्रिया ही रचना में ढालता है, इसीलिए रचना विचाराभिव्यक्ति का साधन है। कहा जा सकता है कि विचार प्रक्रिया का प्रतिफलन ही रचना है। रचना ही विचारों की संवाहिका होती है, उसमें विचारों को चिरस्थायी बनाये रखने की सामर्थ्यशक्ति निहित होती है। इस प्रकार विचार प्रक्रिया और रचना का अन्तर्सम्बन्ध होता है। यह अन्तर्सम्बन्ध रचनाकार ही स्थापित करता है। उसके विचार मूर्त होने के लिये रचना का आधार ग्रहण करते हैं।

लेखक एक अतिरिक्त संवेदनशील प्राणी होता है। उसकी विचार–प्रक्रिया का निर्माण राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं वैयक्तिक परिस्थितियों के सम्मिश्रण से होता है। प्रेमचंद का विश्वास है, "साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है।"[1] देश–काल और वातावरण लेखक की विचार प्रक्रिया को निर्मित करने में सहायक होते हैं। गंगा प्रसाद विमल के शब्दों में, "कोई भी लेखक अपने परिचित सामाजिक जीवन से ही सामग्री या आधार सामग्री लेता है। उस सामग्री को वह ठीक उसी ढंग से कभी नहीं स्वीकारता जिस ढंग की वे हैं। अपने उद्देश्यों या कला उद्देश्यों के अनुसार उनका उपयोग करता है। कथाकृतियाँ जीवनी बेशक न हों पर जीवनानुभवों से अप्रभावित नहीं हैं।"[2]

सामाजिक वातावरण विचार निर्माण का कारण होता है। प्रेमचंद के सन्दर्भ में भी डॉ० शिवकुमार मिश्र यही विचार व्यक्त करते हैं–"प्रेमचंद को अपनी साहित्यिक रचना के लिये मूलवर्ती प्रेरणा तो बृहत्तर सामाजिक जीवन से प्राप्त हुई किन्तु उनकी रचना अल्पांश में ही सही अपने इन पूर्ववर्ती प्रयासों की भी ऋणी है। अपने कृति की इमारत प्रेमचंद ने शून्य में नहीं खड़ी की जो भी जमीन उनके पूर्ववर्ती उन्हें दे सके उन्होंने उसी पर उसका निर्माण किया है, जैसे–जैसे उनके जीवनानुभव प्रगाढ़ होते गये हैं, उनकी अनेकानेक सीमाएँ अपने आप मिटती गई हैं।"[3] यहाँ मिश्र जी विचार प्रक्रिया और रचना प्रक्रिया दोनों के निर्माण का संकेत करते हैं, सामाजिक जीवन के साथ पूर्ववर्ती लेखकों की विरासत और वैयक्तिक अनुभवों की महत्ता भी स्वीकार करते हैं।

सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमताओं का प्रभाव लेखक पर पड़ता है विषमताओं को दूर करने के लिए किये जाने वाले प्रयासों, आन्दोलनों और सुधारों की वर्तमान धारा से लेखक जुड़ा होता है। फलतः सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव भी लेखक की विचार

प्रक्रिया का निर्माण करता है। कमल किशोर गोयनका के शब्दों में–''लेखक का संवेदनशील मन सामाजिक जीवन की विषमताओं, समस्याओं, कुरीतियों आदि से प्रभावित होता है।"[4]

यही बात कमलाकान्त पाठक इस तरह कहते हैं–''सामाजिक परिस्थितियाँ अनिवार्यतः साहित्यिक कर्तृत्व को प्रभावित करती हैं। संकट के समय सम्पूर्ण समाज की भावसत्ता एकरस हो जाती है। उस युग की चेतना में सामूहिकता का तत्व सर्वोपरि होता है। हम अपने–अपने पृथकत्व को भी किसी न किसी रूप से उस समग्र भावसत्ता और युग चेतना से सम्बद्ध अनुभव करते हैं।"[5] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सामाजिक चेतना को लेखक की विचार प्रक्रिया और रचना–प्रक्रिया दोनों से जोड़कर देखते हैं। सामाजिक चेतना के अनुसार ही लेखक की विचार प्रक्रिया गठित और परिवर्तित होती रहती है। वह लिखते हैं ''प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"[6] आचार्य शुक्ल आदिकाल को लड़ाई भिड़ाई और वीरता के गौरव का समय कहते हैं, स्पष्ट है कि साहित्य में इस युग की छाप है। हर काल और हर देश के साहित्य में वहाँ की सामाजिकता की छाप रहती है। हिन्दी ही नहीं हर साहित्य में यही बात दिखाई पड़ती है। जर्मन साहित्य की परम्परा में भी यही बात लक्षित होती है–''उन्नीसवीं शताब्दी में प्राकृतिक विज्ञानों के तेजी से उदय होने के कारण आदर्शवादी दर्शन विघटित और अस्वीकृत होने लगा।"[7] रूसी साहित्यकार गोर्की की विचार प्रक्रिया का निर्माण वर्ग–संघर्ष के युग में हुआ। डॉ० केशरी नारायण शुक्ल के अनुसार–''उन्नीसवीं शती के अंत में गोर्की का निर्माण या गठन होता है और यही समय है जब कि स्वाधीनता या स्वतंत्रता आंदोलन का नया युग शुरू होता है। जिसमें मजदूर वर्ग सबंसे आगे हैं।"[8] यही नहीं इंग्लैण्ड में भी विक्टोरिया के राज्यकाल का प्रभाव वर्णन करते समय श्री नारायण मिश्र तथ्य को रेखांकित करते हैं–''सामाजिक अशांति इस काल का विशिष्ट लक्षण रंग–रखा था, उत्साहपूर्ण उद्योग, समाजसेवा की आकांक्षा तथा जीवन की समस्याओं का गम्भीरता से सामना करने की प्रवृत्ति इस काल के साहित्य में प्रतिध्वनित है।"[9]

समाज में होने वाले सामाजिक सुधार आंदोलन लेखक को प्रभावित करते हैं। यद्यपि प्रत्येक लेखक के लिये यह प्रभाव आवश्यक नहीं किन्तु विचार प्रक्रिया के निर्माण में इसे सहायक कारण माना जा सकता है। अकेले प्रेमचन्द की विचारधारा को आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी, गांधीवाद और समाजवादी आंदोलन ने प्रभावित किया है। इसी तरह आर्य समाज का प्रभाव द्विवेदी युगीन लेखकों पर अधिक पड़ा है। गांधीवाद 1916 ई० से लेकर 1936 तक के साहित्य को पूरा प्रभावित करता है। इसी तरह रूस में मार्क्सवादी विचारधारा तत्कालीन रूसी लेखकों की विचार प्रक्रिया को नया आयाम देती है।

देश की राजनीतिक गतिविधियाँ भी लेखक के विचार निर्माण का हेतु बनती है।

अमृतराय लिखते हैं—"देश की जवान पीढ़ी ने तिलक का असर लिया क्योंकि वह आवाज एक व्यक्ति की नहीं, हमारी बलवान होती हुई राष्ट्रीयता की आवाज थी, युग की आवाज थी, मुंशी जी ने भी उस आवाज को सुना और समझा।"[10]" राष्ट्रीयता की यह भावना तत्कालीन साहित्य में प्रमुखतः मुखर है। रूसी साहित्यकारों में भी क्रांति युग में क्रांतिकारी विचारों की सरगर्मी से ओत–प्रोत है। राजनीतिक गतिविधियाँ विचारों को प्रभावित करती रहती हैं। गोर्की भी प्रेमचंद की तरह विचारों का ग्रहण और त्याग राजनीतिक परिवर्तन के साथ करते गये हैं। धीरे–धीरे गोर्की का नरोदवादी विचारधारा से मोहभंग होकर मार्क्सवादी विचारधारा से लगाव होता गया, क्योंकि उस समय मार्क्सवाद रूसी राजनीति में हस्तक्षेप करने लगा था। "जैसे–जैसे गोर्की की राजनीतिक चेतना बढ़ी, तैसे–तैसे नरोदवादी विचारधारा और उसकी कार्यनीति में उनकी आस्था डंवाडोल होने लगी, धीरे–धीरे उस राजनीतिक विचारधारा की ओर खिंचने लगे जो इन्हीं वर्षों में उनमें अधिकाधिक बलवती होता जा रही थी। यह मार्क्सवादी विचारधारा थी।"[11]" चेखव के सम्बन्ध में श्रीमती फिलिप मेरी केम्प का यही मत है "सन् अस्सी के जमाने में निरंकुश शासन के बीच की कटु वास्तविकताओं और गिरती हुई सामाजिक भावना के कारण वह निराशा के भावों से न बच सका।"[12]" जर्मन साहित्यकार शिलर के बारे में भी वर्नर पाउल फ्रीडरिख यही भाव व्यक्त करते हैं—"फ्रांसीसी राज्यक्रांति की करुण विफलता ने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य को उस समय तुच्छ बाह्य स्वाधीनता के लिये संघर्ष नहीं करना चाहिये जब तक उसमें आंतरिक स्वातंत्र्य भावना विद्यमान न हो। इस तरह सरकारों को सुधारने से पहले मनुष्यों के लिये आत्म परिष्कार अपरिहार्य हो गया।"[13]" टाल्स्टाय, तुर्गनेव, चेखव, गोर्की, गोगोल आदि रूसी साहित्यकार अपने ऊप राजनीतिक प्रभाव स्वीकारते हैं।

समसामयिक साहित्यकारों और पूर्व साहित्यकारों की विचारधारा का प्रभाव भी लेखक की विचार प्रक्रिया में लक्षित होता है। लेखक पूर्व साहित्यकारों के विचार और साहित्यिक परम्परा का युगीन प्रभाव आवश्यकतावश ग्रहण करता है। युगीन साहित्यिक वातावरण तथा पूर्व साहित्यिक स्थापनाओं की सुदीर्घ परम्परा लेखक की विचार प्रक्रिया की पृष्ठभूमि होती है। लेखक जीवन के आरम्भ में पढ़ा गया साहित्य तद्वत स्वीकार नहीं करता और न तो केवल यही उसके विचार प्रक्रिया निर्माण के एकमात्र कारण होते हैं क्योंकि ऐसा होता तो कभी मौलिक साहित्य का सृजन ही न हो पाता और न मौलिक विचारों की उद्भावना ही। इसलिए लेखक परम्परा से जो विचार सूत्र ग्रहण करता है उसे अपने निजी अनुभव और सौन्दयानुभूति का सहारा लेकर अर्जित संस्कारों के सम्पर्क से उद्भाषित करता है। लेकिन इतना निश्चित है कि परम्परा को लेखक नींव की तरह प्रयोग करता है क्योंकि उस पर उसके विचारों का महल तैयार होता है। गोर्की अपने विषय में इसे स्वीकार करते हैं—"पुस्तकें पढ़ने की अपनी इस धुन के कारण मुझे क्या कुछ नहीं सहना पड़ा। इन पुस्तकों ने मेरे हृदय को निखारा और उन खरोंचों और दाग–धब्बों को साफ कर दिया जो कटु और मैली कुचैली वास्तविकता से रगड़ जाने के बाद मेरे हृदय पर पड़ गये थे। अच्छी किताबों का महत्व, उसका मूल्य अब मैं समझता

प्रक्रिया का निर्माण करता है। कमल किशोर गोयनका के शब्दों में–''लेखक का संवेदनशील मन सामाजिक जीवन की विषमताओं, समस्याओं, कुरीतियों आदि से प्रभावित होता है।"4"

यही बात कमलाकान्त पाठक इस तरह कहते हैं–''सामाजिक परिस्थितियाँ अनिवार्यतः साहित्यिक कर्तृत्व को प्रभावित करती हैं। संकट के समय सम्पूर्ण समाज की भावसत्ता एकरस हो जाती है। उस युग की चेतना में सामूहिकता का तत्व सर्वोपरि होता है। हम अपने–अपने पृथकत्व को भी किसी न किसी रूप से उस समग्र भावसत्ता और युग चेतना से सम्बद्ध अनुभव करते हैं।"5" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सामाजिक चेतना को लेखक की विचार प्रक्रिया और रचना–प्रक्रिया दोनों से जोड़कर देखते हैं। सामाजिक चेतना के अनुसार ही लेखक की विचार प्रक्रिया गठित और परिवर्तित होती रहती है। वह लिखते हैं ''प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"6" आचार्य शुक्ल आदिकाल को लड़ाई भिड़ाई और वीरता के गौरव का समय कहते हैं, स्पष्ट है कि साहित्य में इस युग की छाप है। हर काल और हर देश के साहित्य में वहाँ की सामाजिकता की छाप रहती है। हिन्दी ही नहीं हर साहित्य में यही बात दिखाई पड़ती है। जर्मन साहित्य की परम्परा में भी यही बात लक्षित होती है–''उन्नीसवीं शताब्दी में प्राकृतिक विज्ञानों के तेजी से उदय होने के कारण आदर्शवादी दर्शन विघटित और अस्वीकृत होने लगा।"7" रूसी साहित्यकार गोर्की की विचार प्रक्रिया का निर्माण वर्ग–संघर्ष के युग में हुआ। डॉ० केशरी नारायण शुक्ल के अनुसार–''उन्नीसवीं शती के अंत में गोर्की का निर्माण या गठन होता है और यही समय है जब कि स्वाधीनता या स्वतंत्रता आंदोलन का नया युग शुरू होता है। जिसमें मजदूर वर्ग सबसे आगे हैं।"8" यही नहीं इंग्लैण्ड में भी विक्टोरिया के राज्यकाल का प्रभाव वर्णन करते समय श्री नारायण मिश्र तथ्य को रेखांकित करते हैं–''सामाजिक अशांति इस काल का विशिष्ट लक्षण रंग–रखा था, उत्साहपूर्ण उद्योग, समाजसेवा की आकांक्षा तथा जीवन की समस्याओं का गम्भीरता से सामना करने की प्रवृत्ति इस काल के साहित्य में प्रतिध्वनित है।"9"

समाज में होने वाले सामाजिक सुधार आंदोलन लेखक को प्रभावित करते हैं। यद्यपि प्रत्येक लेखक के लिये यह प्रभाव आवश्यक नहीं किन्तु विचार प्रक्रिया के निर्माण में इसे सहायक कारण माना जा सकता है। अकेले प्रेमचन्द की विचारधारा को आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी, गांधीवाद और समाजवादी आंदोलन ने प्रभावित किया है। इसी तरह आर्य समाज का प्रभाव द्विवेदी युगीन लेखकों पर अधिक पड़ा है। गांधीवाद 1916 ई० से लेकर 1936 तक के साहित्य को पूरा प्रभावित करता है। इसी तरह रूस में मार्क्सवादी विचारधारा तत्कालीन रूसी लेखकों की विचार प्रक्रिया को नया आयाम देती है।

देश की राजनीतिक गतिविधियाँ भी लेखक के विचार निर्माण का हेतु बनती है।

अमृतराय लिखते हैं—"देश की जवान पीढ़ी ने तिलक का असर लिया क्योंकि वह आवाज एक व्यक्ति की नहीं, हमारी बलवान होती हुई राष्ट्रीयता की आवाज थी, युग की आवाज थी, मुंशी जी ने भी उस आवाज को सुना और समझा।"[10]" राष्ट्रीयता की यह भावना तत्कालीन साहित्य में प्रमुखतः मुखर है। रूसी साहित्यकारों में भी क्रांति युग में क्रांतिकारी विचारों की सरगर्मी से ओत–प्रोत है। राजनीतिक गतिविधियाँ विचारों को प्रभावित करती रहती हैं। गोर्की भी प्रेमचंद की तरह विचारों का ग्रहण और त्याग राजनीतिक परिवर्तन के साथ करते गये हैं। धीरे–धीरे गोर्की का नरोदवादी विचारधारा से मोहभंग होकर मार्क्सवादी विचारधारा से लगाव होता गया, क्योंकि उस समय मार्क्सवाद रूसी राजनीति में हस्तक्षेप करने लगा था। "जैसे–जैसे गोर्की की राजनीतिक चेतना बढ़ी, तैसे–तैसे नरोदवादी विचारधारा और उसकी कार्यनीति में उनकी आस्था डंवाडोल होने लगी, धीरे–धीरे उस राजनीतिक विचारधारा की ओर खिंचने लगे जो इन्हीं वर्षों में उनमें अधिकाधिक बलवती होता जा रही थी। यह मार्क्सवादी विचारधारा थी।"[11]" चेखव के सम्बन्ध में श्रीमती फिलिप मेरी केम्प का यही मत है "सन् अस्सी के जमाने में निरंकुश शासन के बीच की कटु वास्तविकताओं और गिरती हुई सामाजिक भावना के कारण वह निराशा के भावों से न बच सका।"[12]" जर्मन साहित्यकार शिलर के बारे में भी वर्नर पाउल फ्रीडरिख यही भाव व्यक्त करते हैं—"फ्रांसीसी राज्यक्रांति की करुण विफलता ने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य को उस समय तुच्छ बाह्य स्वाधीनता के लिये संघर्ष नहीं करना चाहिये जब तक उसमें आंतरिक स्वातंत्र्य भावना विद्यमान न हो। इस तरह सरकारों को सुधारने से पहले मनुष्यों के लिये आत्म परिष्कार अपरिहार्य हो गया।"[13]" टाल्स्टाय, तुर्गनेव, चेखव, गोर्की, गोगोल आदि रूसी साहित्यकार अपने ऊप राजनीतिक प्रभाव स्वीकारते हैं।

समसामयिक साहित्यकारों और पूर्व साहित्यकारों की विचारधारा का प्रभाव भी लेखक की विचार प्रक्रिया में लक्षित होता है। लेखक पूर्व साहित्यकारों के विचार और साहित्यिक परम्परा का युगीन प्रभाव आवश्यकतावश ग्रहण करता है। युगीन साहित्यिक वातावरण तथा पूर्व साहित्यिक स्थापनाओं की सुदीर्घ परम्परा लेखक की विचार प्रक्रिया की पृष्ठभूमि होती है। लेखक जीवन के आरम्भ में पढ़ा गया साहित्य तद्वत स्वीकार नहीं करता और न तो केवल यही उसके विचार प्रक्रिया निर्माण के एकमात्र कारण होते हैं क्योंकि ऐसा होता तो कभी मौलिक साहित्य का सृजन ही न हो पाता और न मौलिक विचारों की उद्भावना ही। इसलिए लेखक परम्परा से जो विचार सूत्र ग्रहण करता है उसे अपने निजी अनुभव और सौन्दयानुभूति का सहारा लेकर अर्जित संस्कारों के सम्पर्क से उद्भाषित करता है। लेकिन इतना निश्चित है कि परम्परा को लेखक नींव की तरह प्रयोग करता है क्योंकि उस पर उसके विचारों का महल तैयार होता है। गोर्की अपने विषय में इसे स्वीकार करते हैं—"पुस्तकें पढ़ने की अपनी इस धुन के कारण मुझे क्या कुछ नहीं सहना पड़ा। इन पुस्तकों ने मेरे हृदय को निखारा और उन खरोंचों और दाग–धब्बों को साफ कर दिया जो कटु और मैली कुचैली वास्तविकता से रगड़ जाने के बाद मेरे हृदय पर पड़ गये थे। अच्छी किताबों का महत्व, उसका मूल्य अब मैं समझता

था। मैं उन्हें पढ़ता और एक अडिग विश्वास से मेरा मन भर जाता। तुर्गनेव को तो जैसे मैं एक साँस में पढ़ गया। गोगोल कृत 'मृत आत्माएँ' पढ़ी मगर बेमन से मृत आत्माएँ, मुर्दाघर, तीन मौतें, जिन्दालाश–ये सभी पुस्तकें एक ही थैली के चट्टे–बट्टे मालुम होती और उनके नामों को देखकर ही उनकी ओर से मेरा मन फिर जाता लेकिन डिकेन्स और वाल्टर स्काट के उपन्यास मैं बड़े चाव से पढ़ता।"[14]

ध्यातव्य है कि प्रेमचंद की तरह गोर्की भी तिलिस्मी ऐय्यारी–जासूसी उपन्यासों को पढ़ कर भी वैसी विचार–प्रक्रिया का निर्माण नहीं करते बल्कि रुचि और युगीन आवश्यकतावश प्रभाव ग्रहण करते हैं। गोगोल को पढ़ने के बाद भी गोर्की उसे पसन्द नहीं करते और उसके प्रभाव से बचते हैं जबकि तुर्गनेव, डिकेन्स आदि से प्रभावित होते हैं। प्रेमचन्द भी स्वीकार करते हैं–"मेरे ऊपर टाल्सटाय, विक्टर ह्यूगो और रोमे–रोला का असर पड़ा है।"[15] इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरदचंद्र जैसे बंगला साहित्यकारों, शेक्सपियर, माटरलिंक, गाल्सवर्दी जैसे अंग्रेजी साहित्यकारों और गोर्की, तुर्गनेव, अनातोले फ्रांस, रतननाथ शरसार आदि विदेशी साहित्यकारों का प्रभाव ग्रहण करते और स्वीकार करते हैं। हंसराज रहबर इस मत की पुष्टि करते हैं कि लेखक पर पूर्व और समकालीन साहित्य का प्रभाव पड़ता है–"इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक लेखक पूर्वजों से सीखता और अपने समकालीन लेखकों से प्रभावित होता है।"[16] महादेवी वर्मा बहुत कुछ गांधी और रवीन्द्र से प्रभावित हैं। वह स्वीकार करती हैं–"इसके अतिरिक्त बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखमय समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।"[17]

जर्मन साहित्यकार ग्योठे के सम्बन्ध में वर्नर पाउल फ्रीडरिख का यही मत है–"अभिजात्यवाद की ओर ग्योठे के उन्मुख होने का अन्य कारण था उसके हृदय में बढ़ता हुआ ग्रीक तथा लैटिन साहित्य का प्रेम, ग्योठे पर इस शताब्दी के प्रमुख यूनानवादी और पुरातत्वज्ञ योहान याआखिम विंकल मन्न का बहुत प्रभाव पड़ा।"[18] केशरी नारायण शुक्ल ने गोगोल पर भी प्रभावों की चर्चा किया है–"पुश्किन, रील्येव, तथा प्रगतिवादियों की रचनाओं ने गोगोल के प्रगतिशील दृष्टिकोण निर्माण में बड़ा योग दिया।"[19] श्री नारायण मिश्र ने अंग्रेजी उपन्यासकार थैकरे, टामस हार्डी, डिकेन्स, वाल्टर स्काट आदि पर भी साहित्यिक प्रभावों की महत्ता स्वीकार किया है। "हार्डी पर इलियट का प्रभाव पड़ा था। इसी के समान हार्डी भी मनोवैज्ञानिक और वास्तववादी है।"[20]

सांस्कृतिक परिवेश भी लेखक की विचार प्रक्रिया को निर्मित करता है। समाज का रहन–सहन, गतिविधि, धर्म, सम्प्रदाय और जाति की समस्याएँ किसी न किसी रूप में लेखक के संस्कारों का निर्माण करती हैं। कभी–कभी लेखक को सांस्कारिक करने का यही पहला कारण होता है। फ्रेंच साहित्यकार आंद्रे जीद के विषय में ऐसा ही संकेत है–"दो धर्मों के विरोधी प्रभावों में उन्हें अपने बौद्धिक विरोधों का मूल दिखाई देता है और अपनी लेखनी प्रयुक्त करने का एक कारण भी।"[21] निराला–प्रसाद–पंत–कबीर और तुलसी आदि पर संस्कृति का प्रभाव इस बात का द्योतक है कि संस्कृति लेखक की विचार प्रक्रिया को निर्मित करती है। निराला ने वेद–उपनिषद्, पुराण और दर्शन–ग्रन्थों

का अध्ययन किया था, उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में भारतीय संस्कृति का पुरोधा कवि बोलता है। प्रसाद पर भी बचपन में पढ़े गये वेदोपनिषद तथा शैव मत सम्बन्धी ग्रंथों की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। कबीर, तुलसी से लेकर भारतेन्दु, निराला तक हिन्दी साहित्य में सर्वत्र संस्कृति की अनुगूँज है। स्पष्ट है कि लेखक संस्कृति और पूर्व समकालीन रचनाकारों से प्रभावित होकर अपनी विचार प्रक्रिया का निर्माण करता है।

यह बात नहीं कि लेखक जो कुछ भी पढ़ता है उसका अन्धानुकरण करता है। बल्कि पढ़ने के बाद देश–काल–परिस्थिति के अनुकूल अपनी तथा सामाजिक रुचि का परिष्कार करते हुये अध्ययन से उत्पन्न कच्चे माल को स्वानुभूति की मशीन में अपने जागृत विवेक के बल से मथ कर विचार रूपी पक्का माल तैयार करता है। इसलिए लेखक के लिये स्वानुभूति की गहराई और जागृत विवेक की ओजस्विनी शक्ति (प्रतिभा) आवश्यक होती है। वह समकालीन और पूर्व का तद्‌वत अनुकरण नहीं करता बल्कि वस्तु का अन्तर्वस्तु बनाकर वह यथार्थ और सच्चाई का सबूत देता है। अनुभव और विचार एक साथ गतिशील रहते हैं, वे एक साथ चलते–बदलते और बनते रहते हैं। अनुभवों की तीव्रता लेखक को बार–बार उसके वैचारिक धरातल पर ले जाती है जहाँ पहले के विचारों से उसके सद्यः प्रस्तुत अनुभवों की टकराहट होती है और विचारों की पुरानी (स्वनिर्मित भी) नस्ल कहीं न कहीं से टूटती है और नयी नस्ल की संगति होती है। यह प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती है। जीवन पर्यन्त बनती बिगड़ती चलने वाली यही सतत प्रक्रिया विचार प्रक्रिया कहलाती है। बनने बिगड़ने और पुनः बनने की यह प्रक्रिया इसलिए उत्तरोत्तर यथार्थ और विश्वस्त होती जाती है क्योंकि विचारों और अनुभवों में हर स्तर पर टकराहट और समझौता होता रहता है। अनुभव तो राजनैतिक मूल्यों, सामाजिक सांस्कृतिक, और व्यक्तिगत जीवन के संघर्षण से सदैव लेखक प्राप्त करता है। डॉ० शिवकुमार मिश्र प्रेमचन्द के संदर्भ में यही तर्क देते हैं–"जैसे–जैसे उनके जीवनानुभव प्रगाढ़ होते गये हैं, उनकी अनेकानेक सीमाएँ आपसे आप मिटती गई हैं, आदर्शवादी सुधारवादी संस्कार उनमें अंत तक रहे हैं किन्तु बाद में उतने प्रधान नहीं रह गये हैं।"[22]" अपनी दूसरी पुस्तक में डॉ० मिश्र ज़ागृत विवेक की महत्ता को भी रेखांकित करते हैं–"वे समाज की मुख्यधारा से जुड़े हुये रचनाकार थे और इसी कारण उनके पास अनुभवों की विशाल पूंजी भी थी, यदि उनके मानसिक बनावट में तमाम प्रकार के संस्कार थे तो उन संस्कारों को चुनौती देता हुआ वह जागृत विवेक भी था जिसे उन्होंने यथार्थ जीवन के अपने ठोस अनुभवों के क्रम में राजनीतिक–सामाजिक गतिविधियों के तर्कसंगत विश्लेषण के क्रम में अर्जित किया था।"[23]" यहाँ डॉ० शिवकुमार मिश्र संस्कार, जागृत विवेक और अनुभव शब्दों का प्रयोग कर विचार–प्रक्रिया निर्माण के तीन कारणों की ओर संकेत करते हैं। संस्कार की जीवंतता का संकेत भी करते हैं जो आदर्शवादी–सुधारवादी और मध्यवर्गीय संस्कार प्रेमचंद में जन्म से अंत तक रहे भले ही बाद में अनुभवों ने उनकी छवि धूमिल कर दी हो लेकिन ध्यातव्य यह है कि ये संस्कार कमोवेश अंत तक रहे। यही सत्य प्रत्येक लेखक के साथ जुड़ा होता है। हंसराज रहवर प्रेमचंद के विरासती संस्कार की बात भी इस प्रसंग से करते हैं "आस्तिकता उन्हें विरासत में मिली

थी लेकिन वह अपने निजी अनुभव से जीवन की अंतिम घड़ियों में नास्तिक बन गये थे।"[24]" प्रेमचंद अपने 7 दिसम्बर 1934 के पत्र में इन्द्रनाथ मदान को यही लिखते हैं–"पहले मैं एक परमसत्ता में विश्वास करता था। विचारों के निष्कर्ष रूप में नहीं, केवल एक चले आते हुए रूढ़िवादी विश्वास के नाते वह विश्वास अब खण्डित हो रहा है।"[25]"

रूसी साहित्यकार टालस्टाय पर भी अंत तक उसके बचपन के संस्कार बने रहते हैं। सामन्ती परिवेश का टालस्टाय अनुभवों के द्वारा क्रांतिकारी विचारों का हो जाता है किन्तु तब भी वह "युद्ध और शांति" जैसे महान उपन्यास में अपराध, न्याय, दण्ड, शासन आदि की प्रचलित अवधारणा का विरोध करता है। केशरी नारायण शुक्ल उनकी मानसिक बनावट का संकेत करते हैं–"जन्म अभिजात कुल में हुआ। अतीतवादियों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध आरम्भ से था जिसके प्रभाव ने ही उसे क्रांतिकारी विचारों से दूर रखा किन्तु रूसी साहित्य के अन्य लेखकों के समान वह क्रांति के पक्ष में आ गया।"[26]" उसकी प्रगतिशीलता और साथ ही प्रतिक्रियावादिता को लेनिन ने अपने कई लेखों में स्पष्ट किया है। उसने उसके समकालीनता और प्राचीनवादिता के कारण बताये हैं।" टाल्सटाय की कृतियों दृष्टिकोणों, शिक्षायें और स्कूल की विषमताएँ बड़ी मुखर हैं। एक ओर तो वह मौलिक कलाकार है दूसरी ओर वह जमींदार और ईश्वर में विश्वास करने वाला सनकी।"[27]" तात्पर्य यह कि संस्कारों के कारण ही टालस्टाय अभिजात वर्ग का वैसा विरोध नहीं कर पाता जैसा तुर्गनेव, चेखव या गोर्की करते हैं वह तो सिर्फ अभिजात्य वर्ग की बुराइयों की निंदा करता है साथ ही उनके अस्तित्व की सार्थकता भी बताता है। विलियम हेनरी हडसन अंग्रेजी उपन्यासकार जार्ज इलियट के सम्बन्ध में भी यही कारण प्रस्तुत करते हैं–"जिस प्रकार डिकेन्स का संसार लन्दन की सड़कों का संसार तथा थैकरे का संसार क्लबों और ड्राईंगकारों का संसार था उसी तरह उसका संसार अधिकांश में पुरातनपंथी प्रांतीय जीवन का संसार था जिससे वह अपनी बाल्यावस्था में परिचित रही थी। उसके स्वभावानुसार उसका केन्द्रीय विषय सदैव मुख्य तथा निम्न जीवन अर्थात कर्तव्य और अभिरुचि के बीच होने वाला संघर्ष होता था।"[28]" श्री नारायण मिश्र के अनुसार–"रिचर्डसन घर के वातावरण में और उसकी शिक्षा को दुराचार को समाज का द्रोही समझने लगा था। यही कारण था कि रिचर्डसन बिना जाने और बिना प्रयास के अपनी कहानी में नैतिकता और सदाचार पर इतना बल देता चला गया था।"[29]"

लेखक का व्यक्तिगत जीवन उसकी विचार–प्रक्रिया के निर्माण का हेतु होता है क्योंकि लेखक का व्यक्तित्व ही विचारों का उद्भावक होता है इसलिये व्यक्तित्व के निर्माण से ही विचारों का निर्माण होता है और इसी से प्रेरित हो रचना का जन्म भी होता है। "किसी भी शिशु में जन्मजात काव्य के अंकुर हो सकते हैं किन्तु पालने से लेकर उसके पद संचालन काल तक उसे एक दीर्घ आधारभूत विकासमयी जीवनयात्रा तय करनी पड़ती है। अस्तु इस माध्यमिक काल में उसे परिवार, पड़ोस, समय और समाज, अपने चतुर्दिक की प्रकृति से बहुत कुछ आदान–प्रदान करना पड़ता है वह आदान–प्रदान वस्तुओं का नहीं, भावनाओं, संस्कारों, अनुभवों एवं संवेगों का होता है जिनकी छाया में

उसके व्यक्तित्व की नींव पड़ती है। व्यक्तित्व के विकासार्थ पारस्परिक निर्भरता के नियम ही समाज के मूल हैं।"[30]" पारस्परिक निर्भरता के सिद्धांत की यही व्याख्या काडवेल अपनी पुस्तक "इल्युजन एण्ड रियलिटी" के पृ० 105 पर करता है।

व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियाँ आरम्भ से ही किसी न किसी रूप से रचनाकार की विचारधारा को निर्मित करती हैं। महादेवी वर्मा के साहित्य में जो मानवीय संवेदना और दुःख का भाव निहित है, उसे वह अभावों की अनुभूति की पीड़ा से निःसृत मानती है। उनका दुःखवाद उनके वैयक्तिक जीवन की तमाम अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रत्याघात से निर्मित हुआ है। वह वेदना के वास्तविक कारण "असफल दाम्पत्य" को छिपाकर भी बार–बार उसकी अभिव्यक्ति कर जाती है–"मैं कण–कण में ढाल रही सखि आंसू के मिस प्यार किसी का। मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का। "वह ब्राउनिंग की तरह अतृप्ति को जीवन मानकर इसी का संकेत करती हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी 'यामा का दार्शनिक आधार' नामक आलोचना में लिखते हैं–"मौलिक आधार पर सुख और दुख का जो कांट्रास्ट (व्यतिरेक) महादेवी जी ने दिखाया है उसे मैं उनका व्यक्तिगत सात्विकता का परिणाम मान सकता हूँ। उसे दार्शनिक सत्य या काव्य की कसौटी मानने के लिये तैयार नहीं हूँ।"[31]" यही नहीं शचीरानी गुर्टू ने तो महादेवी के साथ ही अंग्रेजी कवयित्री क्रिस्टिना रोज्जेटी की तुलना करती हुई उनकी विचार प्रक्रिया को व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं से प्रेरित माना है–"महादेवी वर्मा और क्रिस्टिना के दिल के अरमान जो परिस्थितियों के मरुस्थल में झुलसकर सारवत हो गये थे उनके हृदय में यंत्रणा की ज्वाला धधका गये।"[32]" कारण की ओर शचीरानी गुर्टू खुलकर तात्विक व्याख्या करती है–"क्रिस्टिना की कृतियों में कुमारीत्व की अमल–धवल पावनता, भोली सरलता और यत्किंचित अल्हड़पन भी है जिसमें विराग की धूमिल अरुणिमा यत्र–तत्र बिखरी हुई है। महादेवी के काव्य में नारीत्व का क्रन्दन, असफल पत्नीत्व की खीझ और द्विविधाग्रस्त भावजन्य उपराम है जिसमें नारी सुलभ समर्पण भावना और जीवन की गुत्थी न सुलझने के कारण दुर्भेद्य नीरवता व्याप्त हो गयी है।"[33]"

महादेवी की तरह प्रसाद के आँसू को भी नन्ददुलारे वाजपेयी कवि का आत्मस्वीकार मानते हैं–"आंसू कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। प्रत्यक्ष जीवन का वियोग अधिक मार्मिक और सत्य है।"[34]" पंत और निराला का साहित्य भी जीवन की अनुभूतियों के संयोग से निर्मित हुआ है। "दुख की जीवन की कथा रही" उनका साहित्य संस्कृतशास्त्र, पारिवारिक–सांस्कारिक धार्मिक वातावरण और जीवन की दुखद अभावजन्य घटनाओं की छाया लेकर सप्राण हुआ है। पूरे साहित्य में उनका सनातनी वैष्णव संस्कार क्रियाशील है। श्री दूधनाथ सिंह "आत्महन्ता आस्था" का नाम देते हुए उनके अन्तर और बाह्य का सामंजस्य करते हैं–"निराला का काव्य व्यक्तित्व इतना विराट, गहन, गम्भीर और कुछ ऐसा सीमाहीन लगता है जिसके अन्दर बाहरी विचार और सिद्धान्त और अध्ययन रेखायें तिरोहित हो जाती हैं। फिर जो कुछ भी रचकर बाहर आता है वह सिर्फ निराला होते हैं। सामयिकता उनके व्यक्तित्व में घुलकर

एक निजी और मौलिक रूप धारण करती है।"[35]"

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विचार प्रक्रिया के निर्माण में उपन्यासकार, साहित्यकार को जो कारण प्रभावित करते हैं वही कवि को भी प्रभावित करते हैं—हाँ उपन्यायसकार और कवि की रचना प्रक्रिया अवश्य भिन्न होती है किन्तु विचार प्रक्रिया नहीं। भले ही कवि की विचार प्रक्रिया बुद्धिगत कम भावगत अधिक होती है।

प्रेमचंद को भी जीवन की परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं। मदनलाल मधु के शब्दों में—"धनपत राय ने बचपन और किशोरावस्था में जितना कुछ देखा—जाना और सहा था वह उसे दीन दुखियों और शोषितों के प्रति संवेदनशील बनाने के लिये पर्याप्त था।"[36]" गोर्की भी अपने जीवन की परिस्थितियों को कारण मानते हैं—"मैंने अभी सोलहवें साल में ही पांव रखा था लेकिन कभी—कभी ऐसा मालुम होता मानो मैं काफी बूढ़ा हो गया हूँ। जीवन में इतना कुछ मैंने देखा और भुगता था, इतना कुछ पढ़ा और बेचैनी से सोचा विचारा था कि मुझे अपना अन्तर भारी मालुम होता था।"[37]"

यही नहीं फ्रेंच साहित्यकार आंद्रे जीद जीवनपर्यन्त प्रेम और कर्तव्य के बीच अस्थिर रहकर वैसी विचारधारा के निर्माण में फंसा रहा। भूपेन्द्रनाथ सान्याल लिखते हैं—"प्रेम और कर्तव्य के बीच यह संघर्ष उसके जीवन के प्रायः अंत तक चलता रहा। कुछ उपन्यासों का इसे आधार भी बनाया।"[38]" वर्नर पाउल फ्रीडरिख जर्मन साहित्यकार ग्योठे के विषय में यही लिखते हैं। "ग्योठे के चरित्र (विचार) पर अत्याधिक प्रभाव उस विफल वासना का पड़ा जो उसके हृदय में वाइमर के एक दरबारी की पत्नी के प्रति जाग उठी थी।"[39]" अंग्रेजी उपन्यासकार डिकेन्स के विषय में श्री नारायण लिखते हैं—"जीवन की कठिनाइयों और अनुभवों ने समय से कहीं पहले उसे विचारशील बना दिया।"[40]"

तात्पर्य यह कि लेखक की विचार—प्रक्रिया के निर्माण में युगीन सामाजिक—राजनैतिक—सांस्कृतिक परिस्थितियों, पूर्व और वर्तमान के साहित्यकारों, रचनाकार के व्यक्तित्व और जीवनानुभवों का प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक रचनाकार की विचार—प्रक्रिया को ये सारे कारण एक साथ नहीं प्रभावित करते बल्कि प्रभाव का क्षेत्र न्यूनाधिक होता रहता है। किसी को ये बिन्दु सम्पूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं किसी को आंशिक। प्रभाव ग्रहण कर अनुभवों के अंतिम सत्य के रूप में रचनाकार की विचार—प्रक्रिया प्रस्फुटित होती है और रचना का रूप धारण करती है।

संदर्भ :

1. साहित्य का उद्देश्य—प्रेमचंद—पृ०-24.
2. प्रेमचंद आज के संदर्भ में—गंगा प्रसाद विमल—पृ०-14-15.
3. यथार्थवाद—डॉ० शिवकुमार मिश्र—पृ०-189.
4. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान—कमल किशोर गोयनका—पृ०-23.
5. रचना और आलोचना—कमलाकांत पाठक—पृ०-79.
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल—पृ०-1.

7. जर्मन साहित्य की परम्परा–(अनु०) नेमिचन्द्र जैन–पृ०-167.
8. रूसी साहित्य का इतिहास–केशरी नारायण शुक्ल–पृ०-149.
9. अंग्रेजी उपन्यास का विकास और रचना प्रक्रिया–श्री नारायण मिश्र–पृ०-259.
10. कलम का सिपाही–अमृत राय–पृ०-89.
11. गोर्की और प्रेमचंद–मदनलाल मधु–पृ०-111.
12. रूसी साहित्य–फिलिप मैरी कैम्प–पृ०-17.
13. जर्मन साहित्य का इतिहास–वर्नर पाउल फ्रीडरिख–पृ०-93.
14. गोर्की और प्रेमचंद–पृ०-58.
15. चिट्ठी–पत्री–भाग दो–प्रेमचंद.
16. प्रेमचंद : जीवन, कला, कृतित्व–हंसराज रहबर–पृ-157.
17. महादेवी वर्मा–(सं०) शचीरानी गुर्टू–पृ०-157.
18. जर्मन साहित्य का इतिहास–पृ०-90.
19. रूसी साहित्य का इतिहास–पृ०-59.
20. अंग्रेजी उपन्यास का विकास और रचना–प्रक्रिया–पृ०-342.
21. फ्रेंच साहित्य का इतिहास–भूपेन्द्र नाथ सान्याल–पृ०-285.
22. यथार्थवाद–पृ०-187.
23. प्रेमचंद विरासत का सवाल–शिवकुमार मिश्र–पृ०-57.
24. प्रेमचंद : जीवन, कला, कृतित्व–पृ०-260.
25. चिट्ठी–पत्री–भाग दो.
26. रूसी साहित्य का इतिहास–पृ०-260.
27. वही, पृ०-131.
28. अंग्रेजी साहित्य का इतिहास–पृ०-304.
29. अंग्रेजी उपन्यास का विकास–पृ०-145.
30. आधुनिक हिन्दी काव्यभाषा–रामकुमार सिंह–पृ०-166.
31. महादेवी वर्मा–पृ०-185.
32. वही, पृ०-185.
33. वही, पृ०-249.
34. प्रसाद की काव्य प्रतिभा–नन्ददुलारे वाजपेयी–पृ०-84.
35. निराला : आत्महन्ता आस्था–दूधनाथ सिंह–पृ०-17.
36. गोर्की और प्रेमचंद–पृ०-87.
37. वही, पृ०-62.
38. फ्रेंच साहित्य का इतिहास–पृ०-286.
39. जर्मन साहित्य का इतिहास–पृ०-90.
40. अंग्रेजी उपन्यास का विकास–पृ०-269.



प्रेमचंद की विचार-प्रक्रिया के निर्माण की पृष्ठभूमि

प्रेमचंद का जन्म 31 जुलाई सन् 1880 ई० को हुआ था। प्रेमचंद के पूर्वसे हमारा तात्पर्य प्रेमचंद के पूर्व इतिहास की उन शक्तियों की क्रियाशीलता से है जिन्होंने लेखक (कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार और विचारक) प्रेमचंद को मानसिक विकास के स्तर पर प्रभावित किया अर्थात उनकी रचनात्मक मानसिक बनावट में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की क्योंकि कोई भी रचनाकार अपने समय और इतिहास की शक्तियों की उपज होता है और उसका लेखन उन ऐतिहासिक शक्तियों का प्रतिफलन। अतः प्रेमचंद के पूर्व के इतिहास से हमारा तात्पर्य प्रेमचंद के जन्म के पूर्व और उनकी बचपन की उन ऐतिहासिक परिस्थितियों से है जिनके भीतर से प्रेमचंद की लेखकीय रचनात्मक ऊर्जा का विकास हुआ और प्रतिफलन हुआ। सन् 1857 ई० भारतीय इतिहास में एक ऐसी विभाजक रेखा है जो आधुनिक भारत के निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसलिए प्रेमचंद पूर्व भारतीय इतिहास के काल निर्धारण का आधार हमें 1857 ई० ही अधिक वैज्ञानिक जान पड़ा। सन् 1880 ई० यानी प्रेमचंद के जन्म के वर्ष को हमने प्रेमचंद पूर्व का अन्तिम छोर न मानकर सन् 1900 ई० को माना है। इसके पीछे भी हमारा तथ्यात्मक निर्णय है क्योंकि जन्म के समय से सोचने की ये रचनात्मकता की क्रिया नहीं उद्भूत होती और सच पूछा जाय तो बचपन की अनुभूतियाँ ही व्वारिक स्तर पर प्रभावित करती हैं तभी रचनात्मकता की प्रेरणा मिलती है। प्रेमचंद 1900 ई० तक सिर्फ द्रष्टा बने रहकर भारतीय समाज का प्रत्यक्ष दर्शन और अनुभव करते रहे और सबसे बड़ी बात यह कि–"प्रेमचंद की साहित्यिक जिन्दगी 1901 ई० से आरम्भ होती है।"[1]" इसलिए प्रेमचंद पूर्व भारतीय इतिहास को मुख्यतः मैंने 1857 ई० से 1900 ई० तक का काल माना है।

प्रेमचन्द पूर्व भारतीय आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ

उन्नीसवीं सदी का भारतीय समाज सभी दृष्टियों से एक परतंत्र तथा शोषित समाज का नमूना है। अनेक विसंगतियों–गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, बेरोजगारी, सामाजिक रूढ़ियों, साम्प्रदायिक वैमनस्य आदि से किसान, मजदूर और मध्यम वर्ग आक्रांत था। "गरीबी के हैवानी पंजे के निशान हर एक के माथे पर लगे हुए थे।"[2]"

जमींदारी प्रथा का जन्म साम्राज्यवादी नीति की पहली शर्त थी। इससे अंग्रेजी

सरकार को समय पर बिना बदनाम हुए लगान मिल जाता था और जमींदार अधिक फायदे में भी रहता था। यही कारण था कि यह वर्ग आने वाले दिनों में राष्ट्रीय संघर्ष के समय अंग्रेजी राज्यका वफादार बना रहा।"[3]" इस प्रकार सामाजिक धरातल पर सतह से लेकर शिखर तक एक नये सामाजिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। शिखर पर जमींदार, उनके बिचौलिए और कर्ज देने वाले महाजन तथा सतह पर मर्जी के काश्तकार, बंटाईदार और खेतिहर मजदूर पैदा हुए। उपनिवेशवाद द्वारा निर्मित इस नये ढांचे को अर्द्धसामंती और अर्द्ध उपनिवेशिक कहा जाता है।"[4]"

जमींदार और उनके बिचौलिए निजी लाभ के लिए हर प्रकार के हथकण्डे अपना कर किसानों का शोषण करते थे। सरकार ने लगान और कराधान का बोझ किसानों पर लाद दिया था, ऊपर से जमींदार तथा उनके बिचौलिए अधिकतम लगान, जुर्माना, नजराना, बेगार आदि वसूलते थे। किसान की पीठ पर पचासों छोटे–छोटे मुफ्तखोर लदे थे जो उनका रक्त पीकर मोटे होते थे। पुलिस और अदालत उनके पक्ष में थी। खेती व्यावसायिक हो गयी थी और सदैव अकाल पड़ते थे। फलतः समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कर्ज लेना पड़ता था। कर्ज देने वाला महाजन वर्ग जमींदारी–प्रथा का आवश्यक अंग था। उसका जन्म ही इसीलिए हुआ था कि तुरंत किसानों को सूद पर कर्ज देकर अंग्रेजों की मालगुजारी और लगान समय से वसूल कराने में मदद देना और बदले में अधिक सूद लेकर शोषण में सहयोग करना।

किसानों द्वारा समय पर कर्ज न चुका पाने से उनकी भूमि महाजनों तथा जमींदारों के कब्जे में चली जाती थी। इस तरह किसान खेतिहर मजदूर बन जाते थे। जो किसान किसी तरह खेतिहर मजदूर होने से बच जाते थे उन पर तीन तरह का बोझा पड़ता था–एक सरकार की मालगुजारी का बोझा, दूसरा जमींदार के लगान का बोझा और तीसरा साहूकार के कर्ज का बोझा।

नेताओं तथा समाज सुधारकों का एक वर्ग शोषण और गरीबी के विरुद्ध आवाज उठाये जा रहा था। पत्र–पत्रिकाओं में भी शोषकों का विरोध किया जा रहा था किंतु तीव्र विरोध नहीं; क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन में वे उन्हें पैसा देते थे।

किसान अनपढ़ होने के कारण उन सुविधाओं का भी लाभ नहीं उठा पाते थे जो अकाल के पश्चात् राहत के लिए (चिकित्सा, अन्न इत्यादि) आंशिक तौर पर सरकार द्वारा प्रदान किया जाता था।

पूंजीवाद से मजदूर वर्ग भी उत्पीड़ित था किंतु किसानों की अपेक्षा वे अधिक संगठित थे। शोषण से तंग आकर वे कभी–भी गुस्से से उबल पड़ते थे, असहयोग कर बैठते थे या बगावत कर हथियार तक उठा लेते थे किन्तु अशिक्षाजन्य असंगठन के कारण असफल हो जाते थे और ब्रिटिश दमन चक्र में पिसने को मजबूर हो जाते थे। किसान मजदूर के आन्दोलन यत्र–तत्र हो रहे थे जिनसे उनकी जागृति का अंदाज लगता है।

समाज में किसान–मजदूरों के रहन–सहन का स्तर भी काफी गिरा हुआ था औसत मजदूर परिवार के पास रहने को एक कोठरी भी नहीं होती थी।

भारतीय समाज ही परम्परा से रूढ़िवादी रहा है। 19 वीं शताब्दी में हिन्दू—मुस्लिम सम्प्रदायवाद के फलस्वरूप और धर्म सुधार आंदोलनों के आरम्भ होने के साथ समाजगत अनेक कुरीतियों—कुप्रथाओं की ओर भारतीय जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। ये आन्दोलन सामाजिक सुधार आन्दोलन थे जो धर्म के अन्दर की तमाम कुरीतियों के विरोध में उठ खड़े हुए थे।

भूमि का इस्तमरारी बन्दोबस्त कर शोषण को स्थायी बना दिया गया था। इससे किसान और जमींदार दोनों जमीन को बेच सकते थे। अब जमींदार लगान वसूलने वाले दलाल नहीं, जमीन के मालिक थे। नारी शिक्षा का कोई प्रयास नहीं किया गया। नारी शोषण भी पहले जैसा मौजूद था।

इसके अतिरिक्त वर्णाश्रम व्यवस्था अपने परम्परित रूप में विद्यमान थी जिससे ऊँच—नीच, और छुआ—छूत की भावना सर्वोपरि थी। सवर्णों के विरुद्ध सरकार उन्हें उकसाती थी और 'फूट डालो और राज करो' की नीति के फलस्वरूप हमेशा हिन्दू—मुस्लिम वैमनस्य बढ़ता जाता था।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक भारतीय समाज सामाजिक—धार्मिक रूढ़ियों का शिकार था और ब्रिटिश पूंजीपतियों से शोषित होकर गरीबी व मरभुंखी की विकट स्थिति में फंसा था और उससे मुक्त होने के लिए हाथ—पांव चलाने लगा था।

धर्म सुधार आंदोलन

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध ने 19 वीं सदी की भारतीय मनीषा के बारे में एक बड़ी मौलिक उद्भावना की है। ''उन्नीसवीं सदी के मध्य से बीसवीं सदी के मध्य तक तमाम महापुरुष हमारे मध्य आये और हमारे धर्म में फैली हुई विषमताओं, कुरीतियों पर प्रहार करके सुधारात्मक कार्य किये। इसलिए हम पिछले सौ सालों के धर्म सुधारकों को 'महानों का मन्वन्तर' भी कह सकते हैं।"[5] मुक्तिबोध ने आगे लिखा ''उन दिनों शिक्षित जनों में दो मुँही प्रवृत्ति थी, एक वह थे जो पश्चिम के ज्ञान को आत्मसात करके भारत को रूढ़ि की दासता से मुक्त करना चाहते थे और दूसरे वे थे जो हमें प्राचीन संस्कृति का भान करा रहे थे। इन दोनों के मध्य संघर्ष होना भी स्वाभाविक था।"[6]

यह कहना भी उचित है कि राष्ट्रीय जागरण की अभिव्यक्ति धार्मिक जागरण के प्रतिबिम्ब के रूप में हुई। के० दामोदरन ने लिखा है कि प्रारम्भिक अवस्था में तो स्वयं धार्मिक चेतना राष्ट्रीय चेतना का प्रतिबिम्ब थी। सामाजिक तथा राजनीतिक धारणाएँ, जनतांत्रित तथा देशभक्तिपूर्ण आकांक्षाएँ, एक श्रेष्ठतम जीवन के लिए आशाएँ—ये सब धार्मिक रूपों में प्रकट हुई थीं। नवजात राष्ट्रवाद की राजनीतिक और आर्थिक अन्तर्वस्तु ने स्वयं को धार्मिक सुधार के रूप में व्यक्त किया और उसका एक राष्ट्रीय नवजागरण के रूप में विकास किया। जिसने प्रतिक्रियावादी सामाजिक संरक्षण में पुरानी रीति—रिवाजों को ठुकरा दिया।

ब्रह्म समाज नवजागरण का पहला धार्मिक आन्दोलन था जिसकी स्थापना 1828 ई० में राजाराम मोहन राय ने की थी। जातीय भेद भाव में परिवर्तन करना उनका मुख्य

ध्येय था। समाज में व्याप्त साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा और बहुदेववाद की विभीषिका के वे घोर विरोधी थे। उपनिषदों पर उनकी आस्था थी। वह ब्रिटिश साम्राज्य को दैवी वरदान मानते थे क्योंकि उससे भारत का सर्वांगीण विकास हो रहा था किन्तु अंग्रेजी साम्राज्य की कुछ बुराइयों का वह विरोध भी करते थे। वह अंग्रेजी भाषा तथा स्त्री शिक्षा के समर्थक थे। सती प्रथा के उन्मूलन के लिए आन्दोलन का श्रीगणेश 1818 से उन्हीं ने किया था। सरकार ने 1829 में इस प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर दिया। उन्होंने रैयत के अधिकारों का समर्थन भी किया।

तात्पर्य यह है कि राजाराम मोहन राय सार्वभौमिकता के सन्देश वाहक और स्वतंत्रता के सभी पक्षों के समर्थक थे और उन्होंने धार्मिक रूढ़ियों का खुलकर खण्डन किया था। यद्यपि तत्कालीन प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणों और कुछ ईसाई मिशनरियों ने उनका विरोध किया किन्तु नवजात शिक्षित समाज ने उनका आधुनिक भारत के प्रमुख निर्माता और भारतीय सभ्यता के विकासकर्ता के रूप में यथोचित स्वागत भी किया। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मसमाज में बुद्धिवाद, सार्वभौमवाद, मानवतावाद तथा पूर्व–पश्चिम के समन्वय के आदर्श से भावी राष्ट्रीयवाद आंदोलनों की नींव तैयार कर दी। वह गम्भीर व्यक्तिवाद–विरोधी आन्दोलन था। पतनोन्मुखी रूढ़ियों के विरुद्ध वैयक्तिक बुद्धि तथा अन्तःकरण का द्योतक था फिर भी हिन्दू समाज में वह अपनी जड़ें न जमा सका। हिन्दुओं ने (अधिकांश) घृणा की दृष्टि से देखा।

आर्य समाज को इस मन्वन्तर का दूसरा किन्तु सर्वव्यापी प्रभावी आन्दोलन माना जा सकता है। इसकी स्थापना 1877 में लाहौर में की गयी। यद्यपि सर्वप्रथम बम्बई में 1875 में ही औपचारिक ढंग से इसे स्थापित किया गया था। दयानन्द सरस्वती इसके निर्माता प्रचारक और प्राण थे। वह समाज सुधारक थे लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन की भूमिका तैयार करने में उन्होंने मुख्य कार्य किया।

प्रथम कार्य उन्होंने ब्रह्म समाज की आधारभूत बुराई को समाप्त करने का किया था। ब्रह्म समाज के प्रभाव से प्रबुद्ध वर्ग का एक हिस्सा ईसाई मत के निकट आने के लिए हाथ पैर चला रहा था। दयानन्द ने इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म के प्रभाव से हिन्दू धर्म को मुक्त कराने का बीड़ा उठाया। अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राष्ट्र–भाषा स्वीकार कर 'सत्यार्थ प्रकाश' जैसी आक्रामक एवं तर्क–सिद्ध पुस्तक हिन्दी में लिखी। वैदिक धर्म को हिन्दू धर्म का स्रोत एवं तर्क प्राण मानकर भी वेद के नाम पर फैली सामाजिक रूढ़ियों का खण्डन कर वेद की अपने ढंग से व्याख्या की, हिन्दी में वेदभाष्य लिखे, दलितों तथा स्त्रियों के उद्धार के लिये धर्म–युद्ध चलाया तथा शिक्षा पर अत्याधिक बल दिया। आर्य (हिन्दू) समाज में सभी वर्ण जाति के लोग दीक्षित हो सकते थे किन्तु ईसाई तथा इस्लाम धर्म को वह सामाजिक पतन का कारण मान कठोर निन्दा करते थे। वह वैदिक वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे किन्तु समाज में विद्यमान जाति प्रथा से सम्बन्धित अन्याय के कटु आलोचक थे। आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन ने इतिहास की दिशा ही बदल दी। ब्राह्मणों की उच्चता तथा वर्णाश्रम धर्म की ब्राह्मण विवेचित व्याख्या से वह असंतुष्ट थे। वेद पठन का अधिकार सब वर्ण वालों का माना है। अस्पृश्यता का विरोध

किया और स्त्री की मुक्ति के लिये सर्वाधिक प्रयास किया। अन्त्यजों के उद्धार का आन्दोलन उनका प्रमुख दायरा था।

विवाह के सम्बन्ध में भी उसकी धारणा प्रगतिशील है। स्वयंवर को उत्तम माना अनमेल विवाह का विरोध, वयस्क विवाह का समर्थन किया। वैदिक धर्म के बिना स्वतंत्रता असम्भव मानते हुये सत्यार्थ प्रकाश में दयानंद ने लिखा है–"भारत के पतन का मुख्य कारण है–पारस्परिक फूट, धार्मिक भेद, जीवन में शुद्धता का अभाव, शिक्षा की कमी, बाल विवाह, इन्द्रिय परायणता, असत्यता तथा अन्य बुरी आदतें, वेदाध्यन की अवहेलना तथा अन्य कुरीतियाँ। कर्म की सफलता के लिये आदर्श आवश्यक है। भारतीय स्वतंत्रता के प्रति उनका तीव्र अनुराग था किन्तु निर्भीकता उसकी कसौटी होनी चाहिये। सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में उन्होंने लिखा–"विदेशी शासन जनता को पूर्ण रूप से सुखी कभी नहीं बना सकता, चाहे वह धार्मिक दुर्भाव से मुक्त हो।" वह वैदिक स्वराज्य का गुणगान करते थे।"८"

दयानंद प्रबुद्ध राजतंत्र चाहते थे जो लोकतंत्र के नियमों से सिद्ध हो। उन्होंने जिस ग्राम प्रशासन की रूपरेखा प्रस्तुत की है वह आधुनिक लोकतंत्रात्मक प्रणाली के अनुरूप है। देश की–खासकर गाँवों के राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के पतन पर खेद प्रकट करते हुये दयानंद ने गांधी जी से बहुत पहले ही न्याय की आवाज उठायी थी।

राष्ट्रीयता के साथ ही आर्य समाज ने हिन्दू धर्म की आवाज उठायी अतः राष्ट्रीयता की पूर्ण भावना का विकास न हो सका और अन्य मत धर्मावलम्बी असंतुष्ट हो गये यहाँ तक कि हिन्दू धर्म में ही एकता न हो सकी।

ब्रह्म सामाज के अनुकरण पर प्राथर्ना समाज 1870 ई० में महादेव गोविन्द रानाडे ने स्थापित किया। वह स्वतंत्रता के पक्षधर थे पर भारत में अंग्रेजों का आगमन ईश्वरी विधान मानते थे। वह पाश्चात्य दूषित संस्कारों का शमन तथा हिन्दू धर्म की शुद्धि पर जोर देते थे।

लगभग इसी समय 1882 ई० में थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना हुई।"9" श्रीमती एनीबेसेंट प्रमुख वक्ता तथा नेता थी। उन्होंने हिन्दू धर्म को उसके सड़े–गले रीति–रिवाजों और कर्मकाण्डों तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त सहित ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। उन्होंने जाति प्रथा तक का समर्थन किया लेकिन बाद में जाति प्रथा की आलोचना करने लगीं।"10" पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन उन्होंनें विदेशियों के मुँह से कराया। विश्वबन्धुत्व उनका उद्देश्य था अतः हिन्दू मुसलमान ईसाई सभी इस सोसायटी में स्थान पा सकते थे।"11"

वह अभिजात्य तंत्रीय समाजवाद का समर्थन करती थी, जनता समाजवाद का नहीं। अद्वैतवेदान्त उनका आदर्श था लेकिन हिन्दुओं को इससे ठोस आधार नहीं मिलता।

"इसी बीच गहरी गतिशीलता भी उभरी जिसने राष्ट्र के मस्तिष्क पर छाप छोड़ी। इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले स्वामी विवेकानन्द थे। वह गुरू द्वारा स्थापित

'रामकृष्ण मिशन' के प्रकाण्ड व्याख्याता थे जो धार्मिक विद्वेषों को समाप्त करने का बीड़ा उठाया था।"[12]" देश की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर गहरा असंतोष व्यक्त करते हुये विवेकानन्द ने बार–बार गरीबी के शमन के लिये विचार व्यक्त किया। उनका विश्वास था ''भूख से व्याकुल देशवासियों के गले में धर्म उड़ेलना उनका अपमान करना है'' उन्होंने एक बार लिखा ''गरीबों के लिए काम की व्यवस्था करने के लिए भौतिक सभ्यता की, यहाँ तक कि विलास बाहुल्य की आवश्यकता है। मैं यह नहीं स्वीकार करता कि जो ईश्वर मुझे यहाँ रोटी नहीं दे सकता वह स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख कैसे देगा। उफ ! भारत को ऊपर उठाया जाना है, गरीबों की भूख मिटायी जानी है, शिक्षा का प्रसार किया जाना है, पण्डों पुरोहितों को हटाया जाना है।"[13]" अतः आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए देश का आर्थिक तथा राजनैतिक उत्थान करना उनकी एक पूर्व शर्त थी।

वह प्रबल समाजवादी थे और कहते थे कि सभी के लिए धन, विद्या और ज्ञान के उपार्जन के लिये समान अवसर मिलना चाहिये। गांवों की सत्ता पर उन्हें विश्वास था। बिना ग्रामीण उन्नति के स्वतंत्रता व धार्मिकता सम्भव नहीं। उन्होंने लिखा–''स्मरण रहे, राष्ट्र झोपड़ियों में बसता है।"[14]"

उनका कहना था–''ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण एक के बाद एक संसार का शासन करते हैं अब शूद्र जाति का समय आ गया है, उसे कोई रोक नहीं सकता।"[15]" वह गांव–गांव जाकर सोते मनुष्यों को जगाने के लिये लोगों से आह्वान करते थे। वह भारतीय जनता में साहस और आत्मविश्वास पैदा करने का उपदेश देते थे। अंधविश्वासी मूर्खों के बजाय पक्के अनीश्वरवादी अच्छे हैं। उनका तर्क था–''यह कहीं ज्यादा अच्छा है कि तर्क और मुक्ति का अनुसरण करते हुए लोग अनीश्वरवादी बन जायें।"[16]" वह पुरोहितों को भी 'आनुवांशिक परम्परागत व्यवसाय' कह कर निंदा करते थे।

उच्च वर्ग के लिए उनके निर्देश थे कि निम्न वर्ग मजदूर वर्ग को उनके अधिकार हासिल करने में सहायता करें, इसी में उनका कल्याण है। बहुत पहले ही उन्होंने मजदूर शक्ति को पहचान लिया था। किन्तु वह राष्ट्रीयता तक ही सीमित न रह सके। क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होते गये। उन्होंने कहा–''भारत के पतन का कारण है अपने घरौंदे में जाकर बैठ जाना।"[17]" उन्होंने कांग्रेस की भी आलोचना की। सर्वजन सुखाय ही उनका ध्येय था। वह मनुष्य में ईश्वर को खोजने का उपदेश देते थे क्योंकि संसार के परे कोई ईश्वर नहीं।

अतः देश के धार्मिक और राष्ट्रीय नवजागरण में विवेकानन्द के विचार अधिक सुदृढ़ और तर्कसंगत थे। उन्होंने जनता में साहस, अधिकार मांगने की गरिमा और धार्मिक चेतना का विकास किया। रूस की समाजवादी क्रांति के दो दशक पहले ही भारत में समाजवाद का नारा बुलन्द करने वाले स्वामी विवेकानन्द ने सुसुप्त प्राणियों में ओज और शक्ति भर दिया था।

भारतीय समाज की वर्ग स्थितियाँ

19 वीं शताब्दी के हिन्दुस्तान में प्रारम्भिक औद्योगिक विकास के फलस्वरूप

भारतीय वर्ग–व्यवस्था में परिवर्तन कुछ तेजी पकड़ने लगा। यद्यपि भारतीय मनुष्य के वर्ग संघर्षों में कोई महत्वपूर्ण क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। औद्योगिक विकास के पक्षधरों ने भारतीय सामंतवाद से अपना समझौता कर लिया जिससे भारतीय सामंतवाद को अपने जड़ बनाये रखने और उसे दूसरे रूपों में ढालने में मदद मिले अर्थात औद्योगिक विकास के कारण भारतीय वर्ग परिस्थितियों में वैसा अन्तर नहीं आया जैसा कि होता है। सामंतवाद की जड़ों पर प्रहार नहीं किया बल्कि और भी स्थायी बना दिया। इसीलिए हिन्दुस्तान में आगे चलकर भारतीय जनता के शोषण में पूँजीपतियों और सामंतवादियों ने शोषण का सम्मिलित बंटवारा किया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जब भारतीय समाज कबीलाई समाज से आगे बढ़ा और निजी सम्पत्ति का उदय हुआ तो वर्णाश्रम व्यवस्था कर्म के आधार पर ही निर्भर थी। वेदों में ऐसे विवरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जिनमें कोई व्यक्ति कर्म के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तन कर सकता था लेकिन धीरे–धीरे समयके अन्तराल में वर्ण व्यवस्था वंशानुगत और जन्म के आधार पर निश्चित हो गयी और कर्म वर्ण के बाद द्वितीय स्थान पर आने लगा अर्थात कर्म वर्ण को बदल नहीं सकता था। बल्कि वर्ण और वंश आगे चलकर जाति कर्म को निश्चित, नियंत्रित और अनुशासित करने लगा। इस वर्ग विकास के बावजूद परम्परागत वर्णाश्रम व्यवस्था स्थापित रही। ब्राह्मण वर्ण सर्वोच्च था भले ही वह निर्धन हो क्योंकि वह धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ और पूज्य था। "विप्र निरक्षर लोलुप कामी" होने पर भी निम्न वर्ग से तथा पूँजीपति वर्ग से श्रेष्ठ था। यद्यपि पुरोहित भी सामंत माना ज.ता था। स्वामी विवेकानन्द ने पौरोहित्य को व्यवसाय माना है।

वर्ण व्यवस्था की जटिलता को वर्गों की संक्रमणता से थोड़ी भी क्षति नहीं पहुँची। वर्ण व्यवस्था के तथाकथित दोनों वर्ग उच्च और निम्न क्रमशः शोषक और शोषित बने रहे। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि यह स्थिति धर्म प्रधान समाज की देन थी और समाज का धार्मिक पक्ष दुर्बल होने के बजाय अधिक कठोर बनता गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उच्च वर्ग में थे और शूद्र वर्ण निम्न वर्ग में। उच्च वर्ग में बड़ी जिम्मेदारियाँ प्रायः क्षत्रिय वर्ण के अधिकार में थीं किन्तु ब्राह्मण वर्ण का पुरोहित वर्ग भी जमींदार, मठाधीश एवं क्षत्रियों की तरह शोषक था। अन्य व्यवसाय करने वाला वैश्य वर्ण साहूकार दूकानदार आदि होने के नाते शोषक था। अर्थात उच्च वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य धार्मिक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग शूद्र वर्ण का शोषक था। सामाजिक दृष्टि से निरक्षर और निर्धन ब्राह्मण वर्ण साक्षर और धनी निम्न वर्ण से श्रेष्ठ था क्योंकि मंदिरों, धर्मशालाओं, कुओं आदि पर निम्न वर्ण का अधिकार नहीं था।

वर्ग के भीतर से अनेक जातियाँ उत्पन्न होती हैं। एक ही वर्ग में अनेक जातियाँ उपजातियाँ पैदा हुई जिसका आधार गुण और कर्म था। ये अपने पेशे के आधार पर विकसित हुई। वर्ण व्यवस्था को भी गुण कर्म के आधार पर विभाजित करने की बात कृष्ण ने गीता में कही है। राम मनोहर लोहिया की सम्मति ठीक लगती है कि भारत में जातियाँ ही वर्ग हैं। वह कहते हैं–"वर्ग जड़ हो कर जाति का गुण ले लेता है। वर्ग चलायमान होता है। उसके विपरीत जाति में आदमी और स्थान बंध सा जाता है। वर्ग

में परिवर्तन और संघर्ष चलता रहता है। चलायमान जाति को वर्ग और जड़ वर्ग को जाति कहते हैं।"[18]"

निश्चय ही भारत में जातियाँ वर्ग के भीतर से निकली थीं और कठोरता की जड़ता में बंध गयी थीं। प्रत्येक जाति के लिये कठोर नियम बना दिये गये थे। निम्न वर्ग उच्च जाति में परिवर्तित नहीं हो सकता था। क्योंकि समाज में उच्च वर्ग के प्रभुत्वशाली लोग की बहुत्ववादी संस्कृति और मूल्य व्यवस्था के प्रमुख प्रहरी होते थे। वे ही एक जाति को दूसरी जाति का पुश्तैनी धंधा अपनाने से रोकते थे। खेती और कुछ अन्य वस्तुओं के व्यापारों पर यह प्रतिबन्ध नहीं था निम्न जाति उच्च जाति में पर्दापण करते समय ही दण्डित की जाती थी और उसे दमित कर दिया जाता था। एम०एन० श्रीनिवासन ने अपनी पुस्तक में ऐसी एक घटना का उल्लेख किया हैं। 1921 में उत्तर भारत के अहीरों को क्षत्रियों ने यज्ञोपवीत पहनने से रोका तथा पीटा था।"[19]"

धार्मिक आर्थिक शोषण के साथ ही निम्न वर्ग का राजनैतिक शोषण भी। किसी निम्न जाति का मेधावी व्यक्ति उन्नति करके राजनैतिक पद प्राप्त नहीं कर पाता था। जवाहर लाल नेहरू के अनुसार जाति का एक निश्चित दायरा निश्चित था। कभी–कभी नीचे वर्गों के लोग अपनी योग्यता के कारण ऊँचे ओहदे तक उन्नति करके पहुँ जाते थे लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।"[20]"

भारत में जन्म के आधार पर जाति का निर्धारण होता था क्योंकि वर्ण जड़ होकर जाति बन जाती है। यद्यपि गीता में गुण कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था की बात कही गयी है किन्तु गुण–कर्म के आधार पर स्वेच्छा से कोई वर्ण या वर्ग परिवर्तन नहीं कर सकता था। डॉ० हरिदत्त शास्त्री का मत कितना समीचीन है–"गीता में वर्ण को कर्मानुसार कहा गया है किन्तु जाति के अनुसार ही कर्म करने पड़ते थे। अर्जुन को क्षत्रिय कर्म करने को बाध्य या प्रोत्साहित किया गया।"[21]" ठीक यही स्थिति उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज की थी जैसा कि पीछे भी एक अन्य अहीरों के उदाहरण से स्पष्ट किया जा चुका है। वर्ग और वर्ण के अन्तर्सम्बन्ध की स्थिति सामाजिक विकास के प्रारम्भिक दौर में कुछ–कुछ ऐसी ही थी।

वर्ग संघर्ष

भारतीय समाज में वर्णों का स्वतंत्र अस्तित्व कायम रहा किन्तु औद्योगीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न हुये दो वर्गों ने परम्परित वर्ण व्यवस्था की नींव हिला दी थी। कारखानों–मिलों में एकसाथ काम करने वाले विभिन्न वर्णों के मजदूर लोगों ने अपना वर्गीय स्वरूप ढालना शुरू कर दिया था। किन्तु ध्यातव्य है कि एक साथ रहने की आवश्यकता ने केवल वर्गी हित साधन के लिए ही उन्हें एक दूसरे के समीप आने पर बाध्य किया लेकिन वे अपनी सामाजिक व्यवस्थागत वरदानों को नहीं त्याग सकते। उच्च वर्ण अपने सामाजिक अधिकारों और सुविधाओं का पूर्ववत उपभोग करते रहे। निम्न वर्ण पर उनकी निरंकुश ज्यादतियाँ कम नहीं हुई। निम्न वर्ण वाले उच्च वर्गीय लक्षणों को प्राप्त करने के लिए इधर–उधर हाथ–पांव मारने लगे थे और उच्च वर्ण के प्रतिभावान

उन्हें बलात रोकने और अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिये हर सम्भव दमन चक्र चलाने के लिये कटिबद्ध हो चुके थे। इन दोनों वर्णों में उच्च (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) और निम्न (शूद्र) को यदि वर्ग मान लें तो यहीं हमें वर्ग संघर्ष का एक रूप दृष्टिगत होने लगता है।

वर्ग–संघर्ष का दूसरा और प्रमुख बृहत्तर रूप औद्योगीकरण की व्यवस्था से जुड़ा है। श्रमिक आन्दोलों का विकास इसी औद्योगीकरण की देन है। सामन्तवादी व्यवस्था में इस तरह के श्रमिक आन्दोलनों का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। अतः मान सकते हैं कि औद्योगिक विकास के दौरान वर्गों के तीव्र विकास से वर्ग चेतना भी जन्म लेती है और इसी मात्रा में वर्ग–संघर्ष भी तीव्रता ग्रहण करता है। मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद के विश्लेषण में वर्ग उपक्रमों और वर्ग चेतना तथा वर्ग संघर्ष के इसी तीव्रतर होती जाती प्रक्रिया का उल्लेख किया है। मार्क्स ने इन्हीं दो वर्गों के संघर्षों को वर्ग संघर्ष की संज्ञा दी है। एमिल बर्न्स ने लिखा है–"वर्ग संघर्ष ऐसी उत्पादन व्यवस्थासे पैदा होता है जो समाज को वर्गों में बांट देती है। जिनमें से एक वर्ग सचमुच पैदावार करता है (गुलाम, अर्द्धगुलाम, किसान, मजदूर) और दूसरा वर्ग उत्पादन के लिये बिना हाथ–पैर हिलाये ही पैदावार के एक भाग का उपभोग करता है। (गुलामों के मालिक, सामंती भूस्वामी, पूंजीवादी मिल मालिक)।"[22]

कल–कारखानों की स्थापना के साथ ही पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों का शोषण शुरू हुआ। रजनी पामदत्त ने पहली मजदूर हड़ताल का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। यह हड़ताल 1877 ई० में नागपुर के एक्सप्रेस मिल के मजदूरों ने मजदूरी–वृद्धि के लिए किया था।"[23]" इसके अतिरिक्त सूबा बंगाल (पश्चिम–बंगाल, बंगलादेश, बिहार, उड़ीसा) में भी अनेक हड़तालों का उल्लेख अयोध्या सिंह ने अपनी पुस्तक में किया है जो 1770 से 1880 तक हुई।"[24]" किन्तु यह आधुनिक ढंग की मजदूर हड़ताल नहीं मालूम होती। क्योंकि इसके कोई ठोस हल नहीं मिल सके थे। ये असफल हड़तालें थीं किन्तु इनके मजदूर वर्ग की उभरती चेतना और सजग आक्रोश का अंदाजा मिलता है।

1882 से लेकर 1890 तक के काल में बम्बई और मद्रास प्रांत के लगभग पचीस हड़तालों का उल्लेख मिलता है। वर्ग–संघर्ष का तीसरा पहलू औद्योगिक सामंतवाद से सम्बद्ध देखा जा सकता है। जमींदारी व्यवस्था लागू होने पर देश में नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं। मध्यकालीन उपनिवेशवादी विस्तार के लिए मुगलकालीन सामन्ती शक्तियाँ उतनी विश्वस्त नहीं थीं। भूमि की नयी 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' के साथ ही किसानों के शोषण की जो प्रक्रिया उत्पन्न हुई उससे किसान संघर्ष की ओर उन्मुख होने लगे। यह संघर्ष दो रूपों में विकसित हुआ। एक तो भारतीय किसानों का सीधे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर हुई जिसमें वे अपनी जमीन बचाने के लिए अंग्रेजों से लड़ते रहे। दूसरे, किसान स्वदेशी जमींदारों के विरुद्ध शक्ति प्रदर्शन करते रहे।

1860-61 का नील विद्रोह किसानों के नेतृत्व में जमींदारों, उपनिवेशवादियों और अंग्रेज निलहे पूँजीवादी जमींदारों के विरुद्ध था। 1860 से 63 ई० तक का जयन्तिया विद्रोह और 1860 से 1880 ई० तक चलने वाला कूकियों का विद्रोह इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। ये विद्रोही, किसान होने के नाते कर्जी हो गये थे। ये विद्रोही किसान

सरकारी कर्मचारियों व सामंत जमींदारों को लूटते थे और त्रिपुरा की त्रस्त प्रजा की आर्थिक सहायता किया करते थे। अन्यत्र भी ये किसान विद्रोह 1900 ई तक होते रहे।

तात्पर्य यह कि 1990 तक भारत में वर्ग–संघर्ष की सभी परिस्थितियाँ पैदा हो गयी थीं और इसकी शुरूआत भी किसान मजदूरों के छिटपुट आन्दोलनों में देखी जा सकती है।

सामन्तवाद

भारतीय सामन्तवाद में सर्वोच्च सत्ता राजा की थी। वह सबसे बड़ा सामन्त प्रभु था। उसके बाद उसके दरबारी पदाधिकारी तथा सामन्ती जागीरदार होते थे। जमींदार और किसानों के मध्य जटिल सम्बन्ध कायम थे जिससे किसानों का बहुबिध शोषण होता था। डॉ० कमला गुप्ता ने लिखा है कि "सबसे छोटा राजा सम्भवतः सबसे अधिक राजस्व लेता (वसूलता) है। क्योंकि उसे अपने से बड़े राजा को सामंती कर भी देना पड़ता है।"[25]

जनमानस में भी सामंती प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं क्योंकि समाज में उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के मध्य दीवार चौड़ी होती जा रही थी। नारियों के सारे स्वतंत्र अधिकारों पर पुरुष प्रधान समाज का कब्जा हो चुका था। नारी केवल भोग्या बनकर रह गयी थी। उद्योग और व्यापार का भी सामंतीकरण हो गया था।

धर्मगुरू, महन्त, मठाधीश धर्म और ईश्वर के नाम पर अधिकाधिक जमीन और राजस्व जमा करके स्वतंत्र जमींदार बन गये और धर्म के नियमों को तोड़–मरोड़ कर अपने अनुसार बना लिया। उन्होंने जादू–टोने और अन्य अंधविश्वासों के माध्यम से जनता का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। राजाओं, जमींदारों, साहूकारों, सामंतों, धर्मगुरूओं, पण्डे–पुरोहितों, भ्रष्ट पदाधिकारियों, व्यापारियों, उद्योगपतियों के अलग–अलग वर्ग भारतीय जनता का शोषण कर रहे थे। जमींदार वर्ग अंग्रेजों की इच्छा से उत्पन्न था। इसलिए 'जब भारत की जनता स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रही थी और किसानों के संघर्ष राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य प्रेरक शक्ति बने हुए थे तब हर प्रांत में जमींदार संघ, जमींदार एशोसिएशन या ऐसी ही दूसरी संस्थाएँ अंग्रेजी राज की वफादारी की कसमें खाया करती थीं।"[26]

यह जमींदारी प्रथा रैयतवारी बन्दोबस्त में भी तेजी से विस्तार पाती जा रही थी। जिसके साथ सरकार बन्दोबस्त करती थी वह दूसरे को जमीद ने सकता था या लगान पर उठा सकता था। शिकमी बनोन की यह क्रिया चलती जाती थी। इससे जमींदारों का वर्ग पैदा होता जाता था जो बिना मेहनत के उत्पादन में हिस्सा बंटा लेता था। धीरे–धीरे ऐसा होता गया कि बन्दोबस्त से जमीन किसानों से साहूकारों के पंजे में आती जाती थीं और जैसा कि स्पष्ट है खेती को व्यवसाय मान कर पूंजी लगाने वाले अधिक पूंजी प्राप्त करने में जुट गये। परिणामतः भूस्वामित्ववाद पूरे देश में भूमि सम्बन्धी रिश्तों का एक प्रभुत्वपूर्ण अंग बन गया। यह अर्द्धसामन्ती और अर्द्ध उपनिवेशिक कहा जाता है।

सामंती शोषण के साथ महाजनी शोषण भी चरम पर था जिससे किसान वर्ग

त्रस्त था। नारी–शोषण भी सामन्ती शोषण का एक अंग था उनको धार्मिक–आर्थिक, सामाजिक रूप से शोषण कर मात्र भोग्या बना दिया गया था और वे भी जागृत होकर अधिकारों के लिए लड़ने लगी थीं।

औद्योगिक पूंजी का विकास

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति अठारहवीं शताब्दी में ही शुरू हो गयी थी। औद्योगिक पूंजीवाद के द्वारा भारत में शोषण का नया काल 1813 से आरम्भ हुआ जब कारखानेदारों और दूसरे व्यापारियों का हमला कामयाब हो गया तथा भारतीय व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। किन्तु इसका स्पष्ट संकेत 1833 में मिला जब अंग्रेजों को भारत में जमीन खरीद कर बागानों के मालिकों के रूप में बसने की इजाजत दी गयी ताकि अधिकाधिक माल बाहर भेजा जा सके। देश की अर्थव्यवस्था के सभी आवश्यक स्थानों पर ब्रिटिश पूंजी का दबदबा था।

सामाजिक धरातल पर नीचे से ऊपरी शिखर तक एक नये सामाजिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। शिखर पर भूस्वामी, बिचौलिए, महाजन तथा नीचे सतह पर मर्जी के काश्तकार और खेतिहर मजदूर पैदा हुये। यह ढांचा उपनिवेशवादी अर्द्ध सामन्ती और अर्द्ध–उपनिवेशिक कहा गया। भारत से अधिकाधिक कच्चा माल का उत्पादन कर बाहर भेजा जाने लगा और ब्रिटेन का तैयार माल भारत में ठूँसा जाने लगा। देश दरिद्रतर होता गया।

भारत के शहरी और ग्रामीण हस्तशिल्प उद्योगों के ह्रास हो जाने से भारतीय पूंजी को जबर्दस्त धक्का लगा क्योंकि अब भारत के हाथ से सिर्फ यूरोप तथा एशिया के ही बाजार नहीं निकल गये, भारतीय बाजार भी विदेशी मशीनों व सस्ते मालों से भर गया।

स्वदेशी आन्दोलन भारतीय पूंजी–संवर्द्धन के उद्देश्य से शुरू किया गया था। 1867 में बंगाल में हिन्दू राष्ट्रीय मेले के द्वारा स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। फिर औद्योगिक संघ बने व सम्मेलन किये गये। कई जगह औद्योगिक प्रदर्शनियाँ लगायी गयी। स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय पूंजीपतियों को लाभ हुआ और वे कुछ बड़े उद्योगधन्धों के विकास में सफल होने लगे। इस तरह भारतीय पूंजी भारत में ही इकट्ठी होने लगी किन्तु भारतीय जनता को इससे कुछ लाभ न हुआ और उसका पूर्ववत शोषण जारी रहा।

1857 के युद्धोपरान्त भारतीय पूंजीपतियों के पास पूंजी इकट्ठी हो गयी थी अतः भारतीय औद्योगीकरण की मांग बढ़ने लगी। अंग्रेजों ने नयी चाल चली और भारतीय पूंजीपतियों से समझौता करके साझे में व्यवसाय करने की बात चलायी।"[27]" किन्तु इस समझौते से न तो औद्योगीकरण का ही विकास हो सकता न तो पूंजी की निकासी रोकी जा सकी।

तात्पर्य यह कि भारत के पूंजीपति वर्ग का विकास 1858 के बाद ही हुआ किन्तु उसकी गति अंग्रजों की साम्राज्यवादी नीति के कारण बहुत ही धीमी रही। देश के कृषि

तथा उद्योगों का व्यापक पैमाने पर शोषण होता रहा और भारतीय पूंजी ब्रिटेन की ओर पानी की तरह बहती रही। भारत गरीब असहाय होकर भुखमरी का शिकार होता रहा और कर्ज का दानव सामाजिक सुख शांति को निगलता रहा। औद्योगिक क्रांति के पश्चात जैसा कि प्रायः होता है भारत में भी आन्दोलन होने शुरू हो गये थे।

सम्प्रदायवाद

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाज के दो धार्मिक वर्ग एक दूसरे के विरुद्ध अपनी राजनीतिक एवं धार्मिक मांगों के लिये संघर्षरत दिखाई पड़ते हैं। हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म परम्परा से ही वैमनस्यता की चक्की में पिसते रहे हैं। हिन्दू मुस्लिम विद्वेष की नींव मुस्लिम शासन काल में ही पड़ चुकी थी।"[28]" यह अधिक न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि धार्मिक विद्वेष के होते हुए भी दोनों धर्मावलम्बी अपनी वर्गगत चुनौतियों के समक्ष सजग और एकताबद्ध थे। उच्च वर्ग और निम्न वर्ग अर्थात धनी और निर्धन दोनों धर्मों में समान थे ओर वे वर्गीय शोषण में धर्म का लिहाज नहीं करते थे। उच्च वर्गीय हिन्दू या मुसलमान दोनों गरीब हिन्दू और मुसलमान जनता का पूरी बेरहमी से शोषण करता था। हिन्दू और मुसलमान जनता यद्यपि समान शोषित थी अतः वर्ग–संघर्ष के दौरान दोनों ने मिल कर हिन्दू और मुसलमान जमींदारों, पूंजीपतियों का विरोध किया। 1857 के महायुद्ध में भी हिन्दू मुसलमानों की सम्मिलत शक्ति ने धार्मिक राग–द्वेष भूल कर सिर्फ वर्गीय आधार पर (या राष्ट्रीय चेतना से अभिप्रेरित हो) अंग्रेजों से संघर्ष किया। अतः विपिनचंद्र का मत युक्तिसंगत लगता है कि "अंग्रेजों के भारत में आने और धीरे–धीरे यहाँ की जमीन पर अपनी सरकार कायम करने के पहले तक हिन्दू और मुसलमान जनता में कुज मिलाकर कोई कड़वाहट या वैर भाव नहीं था।"[29]"

1857 के विद्रोह का दमन करने के पश्चात अंग्रेजों ने हिन्दू मुसलमान एकता को खण्डित करने के लिए विभिन्न बहानों से सम्प्रदायवाद की नींव रखी। कांग्रेस की स्थापना के बाद इसे बढ़ाने का उन्हें अच्छा मौका मिल गया। उद्योग व्यापार पर भी हिन्दुओं का अधिकांश कब्जा साम्प्रदायिकता का ठोस बहाना था।

इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्म सुधार आन्दोलनों ने भी सम्प्रदायवाद को संबल दिया।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम तीन दशकों में मुसलमान साम्प्रदायिकता की लहर जोरों से चली। इसके जन्मदाता सर सैयद अहमद थे। उनके विचारों में यह आकस्मिक परिवर्तन 1885 के बाद अधिक स्पष्ट हो गया। कांग्रेस की स्थापना के तुरन्त बाद उन्होंने कांग्रेसी नेता सर तैयब जी को लिखा–"भारत को एक राष्ट्र मानने वाली किसी भी कांग्रेस का चाहे उसका जो स्वरूप और प्रकार हो, मैं विरोध करता हूँ। भारत में अनेक राष्ट्र बसते हैं।"[30]" उन्होंने 'यूनाइटेड इण्डियन पैट्रिआटिक एशोसिएशन' नाम मुस्लिम संस्था स्थापित की जिसके सदस्य हर समुदाय के लोग बन सकते थे। आन्दोलनों विशेषतः आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन ने धूमिल साम्प्रदायिकता को यह संजीवनी पिला दी कि मृत प्राय विषाक्त सर्प पुनः जीवित हो

उठा। विभिन्न धार्मिक–आन्दोलन ही सम्प्रदायवाद की वृद्धि के अधिक जिम्मेदार हैं।

1857 के उभार की पृष्ठभूमि

यह सशस्त्र महायुद्ध कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। 1857 के संगठित सशस्त्र महाविद्रोह की नींव बहुत पहले पड़ चुकी थी क्योंकि 1857 के विद्रोह को देखते हुये यह अनुमान भी लगाना सरल हो जाता है कि इसके पहले जनता कितनी खिसियाई हुई और अवसर की तलाश में थी। सामंत सरदारों के सहयोग से राख में ढकी जन विद्रोह की आग भभक उठी थी।

वास्तव में भारतीय किसान ब्रिटिश सरकार की भू–राजस्व की नीति से संतुष्ट नहीं थे क्योंकि उनकी जमीनें छूट गयी थी, वे भूख–प्यास और बेकारी के शिकार हो गये थे। इसके अतिरिक्त भी वे सरकारी कर्मचारियों, विशेषतः गोरे अधिकारियों तथा पुलिस सिपाहियों के क्रूर एवं अमानवीय अत्याचारों से ऊब गये थे। उनकी पंचायतें खत्म कर दी गई थीं और अदालतों में उन्हें झूठे मुकदमों में उलझना पड़ता था तथा अन्याय, भ्रष्टाचार, दुराचार से प्रतिदिन साक्षात करना पड़ता था। उनकी नारियों के साथ पुलिस–सिपाहियों के घृणित अत्याचार आये दिन होते रहते थे। उत्तर भारत के नौकरी पेशा मध्यवर्गीय लोगों और कुछ उच्च वर्गीय लोगों को उनकी सरकारी नौकरियों से निकाल दिया गया था जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उनका एक हो जाना स्वाभाविक था।

अवध की जनता के तत्काल क्षुब्ध होने का एक मंहत्वपूर्ण कारण यह भी था कि 1856 में भारी विद्रोह–दमन के पश्चात् अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में संयुक्त कर लिया गया था। वहाँ के राजा–महाराजा, जमींदार और सूबेदारों को अधिकारच्युत कर दिया गया था। उन पर कड़ी आक्रामक निगाह रखी गयी। उल्लेखनीय है कि 1857 के विद्रोह में उत्तर भारत के मौलवी, पंडे, पुरोहित और धर्मगुरू भी अंग्रेजों के विरुद्ध थे। इसका भी यही कारण था कि उनके आश्रयदाता राजाओं–जमींदारों की अधिकार समाप्त कर दिया गया था अतः उनकी आमदनी जरूरत से ज्यादा घट गई थी।

· अवध के सैनिकों के विद्रोह में सम्मिलत होने के भी दो कारण थे एक तो यह कि कारतूसों (सुअर की चर्बी लगे) के प्रयोग से उनकी धार्मिक भावना को क्षति पहुँचती थी और वे लगातार इसका विरोध करने पर भी कोई आश्वासन राजा की ओर से न पाने से झल्लाए हुए थे। किन्तु दूसरा कारण इससे भी बड़ा था जिसका उल्लेख विपिनचंद ने किया है–"सैनिक अधिकांश अवध के रहने वाले थे। उन्हें अधिक भूमि–कर देना पड़ता था क्योंकि उनके परिवार के लोग अवध में रहते थे।"[31]" भारतीय सिपाहियों के साथ भी रंगभेद नीति अपनायी जाती थी और उन्हें कम तनख्वाह तो दी ही जाती थी साथ ही उनकी पदोन्नति के बहुत कम अवसर दिये जाते थे।

जिन जमींदारों या ताल्लुकेदारों के इलाके अभी अविजित थे वे भी पूर्णतः आशंकित और भयातुर थे क्योंकि वफादारी की कसम खाकर और अंग्रेजों के प्रति समर्पित होकर भी वे किसी तरह आश्वस्त नहीं थे। किसी भी समय अधिकार शून्य हो

जाने के खतरे को वे पहचान गये थे और अवसर पाते ही अंग्रेजों के विरुद्ध एकजुट हो गये थे। क्योंकि नाना साहब, झाँसी की रानी और बहादुरशाह जैसे अंग्रेजों के विश्वासपात्रों ने ही इस महाविद्रोह का नेतृत्व किया था। अयोध्या सिंह ने लिखा है कि–''इसमें पड़ोस के किसान और नागरिक भी हाथ बँटा रहे थे।"[32]" लेकिन इसके पहले भी 22 जनवरी को कलकत्ता के निकट बैरकपुर में सिपाहियों ने कारतूस लेने से इंकार कर दिया था और आग लगा दिया था।

देश भर में पलटनों ने बगावत का झण्डा अलग–अलग बुलन्द किया। इसके बाद भारत के प्रायः सभी सरदार और जमींदार विद्रोह में शरीक हो जाने को बाध्य हो गये। जनता की क्रांतिकारी भूमिका भी उल्लेखनीय रही। वह बौखलाई हुई थी। तुरन्त हिंसात्मक विद्रोह कर ज्वाला में कूद पड़ी। अध्योध्या सिंह ने उल्लेख किया है कि–''यह गदर जनता के विद्रोह में बदल गया। आम आदमी अक्सर कुल्हाड़ी और भाले, तीर–धनुष, लाठी, दरांती और देशी बन्दूकों से लड़ा। खास तौर से आज के उत्तर प्रदेश और बिहार में किसानों और कारीगरों ने उस आंदोलन में व्यापक पैमाने पर हिस्सा लिया। अवध में डेढ़ लाख और बिहार में एक लाख जनता शहीद हुई थी।"[33]"

हिन्दू मुस्लिम एकता इस विद्रोह की सबसे बड़ी अच्छाई थी। बहादुर शाह जफर को सर्वसम्मति से प्रतिनिधि नायक घोषित करना तथा जनता का बिना किसी धार्मिक भेद–भाव के सम्मिलत रूप से लड़ना इसका ज्वलंत प्रमाण है कि 1858 के पहले भारतीय समाज में सम्प्रदायवाद की जड़ का कहीं पता नहीं था।

1859 ई० तक विद्रोह प्रायः दब गया था और अंग्रेजी शासन पुनः स्थापित हो गया था। विद्रोह के कुचले जाने के कई कारण थे। जिनमें सिपाहियों का असंगठन प्रमुख था। इसके अतिरिक्त सामंत सरदारों की विलास प्रियता भी बाधक बनी, छापाभार नीति को निष्ठा और विवेक से नहीं अपनाया गया, सिख–सामंतों और गुरखा सामंतों, निजाम हैदराबाद और ग्वालियर के सिंधिया के देश द्रोह ने विद्रोह की असफलता में बड़ा योग दिया। किन्तु विद्रोह बेकार नहीं गया था। यह ब्रिटानी साम्राज्य से भारतीय जनता को मुक्त करने का पहला बड़ा संघर्ष था।"[34]" और यहीं से भारतीय जन संघर्ष के इतिहास का दूसरा अध्याय शुरू होता है। दमन के बाद भी आंदोलन समाप्त नहीं हुआ। किसान–मजदूर जगह–जगह असंगठित विद्रोह करते रहे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का प्रमुख कारण जनाक्रोश को दबाना था क्योंकि मजदूर और किसान आन्दोलनों में कमी नहीं आयी थी बल्कि शिक्षित वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करके देश के कोने–कोने में अनेक संगठनों और संस्थाओं का जन्म हो रहा था और जिनसे अंग्रेजों को देशव्यापी जन आन्दोलन का खतरा पैदा हो रहा था। कांग्रेस के एक इतिहासकार सी०एफ० एण्ड्रयूज ने लिखा है कि–''1857 के बाद इतना खतरनाक वक्त कभी नहीं आया था जितना कांग्रेस की स्थापना के पहले आया था।"[35]"

दिसम्बर 1873 में 'इण्डियन एसोशिएशन' की स्थापना हुई इण्डियन एसोशिएशन

की गति इतनी तेजी से बढ़ रही थी कि अंग्रेज भयाक्रांत हो उठे। किन्तु दमन की नीति अपनाने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ रही थी। अतः राज्य की शक्ति को बाँटने और उसे शासकों की इच्छानुसार मर्यादित करने के विचार से, अंग्रेज सरकार के परामर्श से सन् 1885 में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ।"[36] रजनी पामदत्त ने भी इस संदर्भ में मि० ह्यूम के लेख का हवाला देते हुये स्वीकार किया है कि–''यह भी ख्याल था कि जब बदमाशों के दल काफी मजबूत हो जायेंगे तो पढ़े–लिखे वर्गों के भी कुछ लोग उनके साथ हो जायेंगे, डर था कि ये उसके नेता बन जायेंगे और उपद्रवों को एकसूत्र में बाँध देंगे।"[37] कांग्रेस के इतिहासकार पट्टाभि सीता रमैया भी यही मत व्यक्त करते हैं। किन्तु कांग्रेस की स्थापना के विषय में इन मतों को निर्दोष नहीं माना जाना चाहिये क्योंकि 'इण्डियन एसोशिएशन' की स्थापना न तो सरकार के संकेत पर हुई थी न इसके पीछे ह्यूम जैसे किसी अंग्रेज की ही चिन्ता थी। वह एसोशिएशन किसान जनता को पूर्णतः किसान जनता को शोषण उत्पीड़न से बचाने के उद्देश्य से उनके पक्ष में स्थापित किया गया था और सरकार के विरुद्ध इसके काफी कुछ जनमत बना लिया था। इसके निर्माता राष्ट्रीयता के पक्के उपासक थे और इस संगठन ने बंगाल के बहुत से देशप्रेमियों को अपनी ओर खींच लिया था। तभी 1822 में बंकिम के 'वंदे मातरम्' गीत ने बंगाल के बाहर भी जनपक्ष का भारी बहुमत जुटाना आरम्भ कर दिया था। स्वाभाविक था कि ऐसी देशव्यापी संस्था को सरकार दमन की नीति से धराशायी कर देती या इन जैसी तमाम उभरती समान संस्थाएँ समाप्त कर दी जातीं और इनके विरुद्ध कानून भी बना दिया जाता। 1913 के अपने एक लेख में गोखले ने भी ऐसा ही संकेत दिया है। यह सत्य लगता है कि ह्यूम की ओट में देश प्रेमी नेताओं ने कांग्रेस जैसी संस्था का गठन करके अपनी उभरती और संगठित होती शक्ति को दमन से बचा लिया और आन्दोलन की गति धीमी कर दी ताकि स्वतंत्रता प्राप्ति के आन्दोलन हित में ठोस कदम उठाये जा सकें। इस सम्बन्ध में हम विपिनचंद के मत से सहमत हो सकते हैं–''कांग्रेस का उपयोग प्रारम्भिक विद्युत प्रतिरोधक (लाइटिंग कंडक्टर) के रूप में करने का विश्वास किये हुये थे।"[38]

अतः यह निश्चित है कि कांग्रेस की स्थापना कुछ सजग देशप्रेमी नेताओं ने ह्यूम को अभेद्य दीवार बना कर किया था क्योंकि कोई भी भारतीय नेता इतनी बड़ी राष्ट्रीय संस्था का निर्माण नहीं कर सकता था। ऐसी संस्था बनते ही वह सरकार के दमन का शिकार हो जाती।

कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् उसका कार्य कलाप मंद गति से चलने लगा। कांग्रेस नेताओं का प्रारम्भिक उद्देश्य था–जनता में राष्ट्रीयता की अटूट आस्था पैदा करना। देश के आर्थिक शोषण पर नेताओं की नजर थी। वे उसके लेखों द्वारा विरोध कर रहे थे। लेखों में तथा अधिवेशनों में जनता की गरीबी का सवाल बार–बार उठाया गया। सरकार से यह भी माँग की गई कि पूँजी को बाहर जाने से रोकने के लिए कानूनी कदम उठाये जायें। तकनीकी शिक्षा को विकसित करने तथा भारतीय उद्योगों की सहायता करने के लिए सरकार से सत्याग्रह नहीं किया गया। वे नेता सिर्फ सुधारवादी बने रहे।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में जो माँगें रखी गयीं, सभी प्रशासनिक सुधारों के

लिए थी। कांग्रेस की प्रारम्भिक नीति उच्चवर्गीय अधिकारों की माँग तक सीमित थीं ये कांग्रेसी भक्त थे प्रत्युत वह भारतीय पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि थे और जनता को जगाने का काम करते थे। शिक्षा के प्रचार–प्रसार और उद्योग धन्धों के विकास की माँग करते समय उनके समक्ष पूँजीवादी हित सर्वोपरि था। इसी आशंका से कांग्रेस–स्थापना के पश्चात् ही अंग्रेजों ने उसका विरोध करना आरम्भ कर दिया था।

कांग्रेस नेता अपनी बँधी लीक पर चलते रहे और जनान्दोलन से बेखबर होकर समाज सुधार की बेतुकी मांग करते रहे किन्तु देश के भीतर खौलता हुआ जन आक्रोश रह–रहकर निकल पड़ता था। इसीलिए गोखले ने कहा था–''नौकर शाही साफ–साफ स्वार्थी होती जा रही है और राष्ट्र की आशाओं का खुल कर विरोध कर रही है। पहले वह ऐसी नहीं थी।"[39]" नरमदली के लड़खड़ाते हुये विश्वास के साथ ही तिलक उग्रवादी जमात के साथ भारतीय राजनीति में अवतरित होते रहे हैं। यद्यपि उग्रवादियों के नेतृत्व की यह धारा अविच्छिन्न चली आ रही थी और जनता का भारी विश्वास भी उसे मिल चुका था किन्तु कांग्रेस से सम्बद्ध होने के नाते गोखले आदि नरमदली नेताओं का संगठन राजनीति के साथ–साथ था। तिलक के साथ अन्य गरमदली नेता अरविन्द घोष, विपिनचन्द पाल और लाजपत राय काफी अर्से से कांग्रेस के बाहर रह कर भी जनशक्ति का संगठन कर रहे थे।

1890 तक नरमदल और गरमदल आमने–सामने डट गये थे। गरमदल का असर असंतुष्ट निम्न मध्यवर्ग पर ही था–देश के शिक्षित बेकार, नवयुवकों, गरीब विद्यार्थियों और कम वेतनभोगी भारतीय नरमदली कांग्रेस नेताओं की सुधारवादी प्रवृत्ति का विरोध करते थे। उन्हें सुधार नहीं स्वराज्य चाहिये था।

कांग्रेस ने प्रारम्भिक वर्षों 1885 से 1900 तक स्वराज्य की माँग नहीं की सिर्फ समाज सुधार और प्रशासनिक सुधार का प्रस्ताव रखा। तिलक–गोखले संघर्ष का यही कारण था।

गांधी जी ने कहा था कि गोखले अपने युग के साथ थे और तिलक युग के आगे। किन्तु यह बात खटकती है क्योंकि तिलक अपने युग से आगे नहीं थे–उसके साथ–साथ थे और गोखले युग से बहुत पीछे होते जा रहे थे। तिलक का प्रभाव कांग्रेस में भी और उसके बाहर भी बढ़ता जाता था क्योंकि 1897 में आतंकवादियों का संचित ज्वालामुखी फूट पड़ा और महाराष्ट्र के चाफेकर बन्धुओं को फाँसी दे दी गयी थी। गरमदल से आतंकित अंग्रेजी सरकार ने इसी वर्ष तिलक को डेढ़ साल की कैद दे। दो अंग्रेजों–रैंड और एयर्स्ट हत्याकांड को भारतीयों को दोषी मानते हुए गोखले ने जो ब्रिटिश सरकार से क्षमायाचना की उसने जनता के प्रति नरमदल के विश्वास को डिगा दिया।

अतः यह निश्चित है कि कांग्रेस के प्रति भारतीय जनता की भागीदारी नगण्य थी। शिक्षितों और शहरी गरमदल के नेताओं ने असंतुष्ट छात्रों, निम्न मध्यवर्गीय तथा किसान मजूरों के व्यापक समूह को अपनी ओर आकर्षित किया। उन्हें जनशक्ति पर भरोसा भी था। कांग्रेस के प्रस्तावों में जनता की ज्वलंत समस्याएँ न होने पर उन्हें निरन्तर कांग्रेस से दूर ही ले जाती थी। दूसरी ओर वह यह भी समझती थी कि जनता

के शोषक ही कांग्रेस के मेम्बर हैं और उन्हीं की माँगे बराबर दोहरायी जा रही है। किन्तु पूरी तरह गरमदल के साथ भी जनता नहीं थी क्योंकि वह गरमदली नेताओं के प्रतिक्रियावादी कार्यक्रमों को देखकर उनसे दूर हटती जाती थी। रजनी पामदत्त के शब्दों में सामाजिक मामलों में गरमदली नेताओं का प्रतिक्रियावादी कार्यक्रम देखकर बहुत से ऐसे लोग आंदोलन से दूर हट गये जो एक लड़ाकू राजनीति का समर्थन करने को तो तैयार थे मगर इतने लचर दिमाग नहीं थे कि उग्रवादी कार्यक्रम के नाम पर प्रतिक्रियावादी गंदगी और दार्शनिक कलाबाजियों की पूजा करने लगते।"[40]

अतः उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में हम भारतीय जनता को अनिर्णय की स्थिति में उलझी हुई पाते हैं जो हिंसात्मक आंदोलन के लिए तैयार तो थी पर अपनी साम्प्रदायिक भावनाओं का हनन नहीं कर सकती थी। फिर भी उसका झुकाव गरमदल की ओर था। कांग्रेस से उसका विश्वास डिगने लगा था।

प्रेमचंद पूर्व साहित्य की स्थिति

प्रेमचंद पूर्व हिन्दी और उर्दू उपन्यासों में मौलिक अन्तर्विरोध देखने को मिलता है। यह अन्तर्विरोध उनकी रूढ़िवादिता का परिणाम था। हिन्दी उपन्यासकार हिन्दू और उर्दू उपन्यासकार प्रायः मुसलमान ही थे। अतः दोनों में विचारधारा का विभिन्न होना स्वाभाविक था। हिन्दी उपन्यास कई धाराओं में विद्यमान थीं और वहीं उपन्यास सृजन के साधन और लगभग साध्य भी थी। कुछ साभाजिक उपन्यास आर्य समाजवादी विचारधारा से प्रभावित थे। दूसरे सनातनी विचारधारा से और तीसरे सामान्य सुधारवादी विचारधारा से।

सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासों की भी एक परम्परा थी जो अनूदित थे हालांकि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दिनों में मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासों का सृजन प्रारम्भ हो गया था।

घटनात्मक उपन्यासों की जिस परम्परा का सूत्रपात हुआ उनमें न तो सामाजिकता ही थी और न तो ऐतिहासिकता। ये शुद्ध मनोरंजन के लिये लिखे जाते थे। इसमें भी कई कोटियाँ प्रचलित हुई। तिलिस्मी उपन्यास, जासूसी उपन्यास और अद्‌भुत उपन्यास इसी कोटि में आते हैं।

'परीक्षा गुरू' श्रीनिवास दास कृत 1882 ई० का प्रथम सामाजिक उपन्यास, है। इसमें स्त्री पात्रों के साथ न्याय नहीं किया गया है। पुरूष पात्रों में वर्गीय विशेषताएँ विद्यमान हैं। पं० पुरूषोत्तमदास, हकीम अहमद हुसैन, बाबा बैजनाथ और मिस्टर ब्राइट जैसे कई पात्र वर्गीय चरित्र बन गये हैं। यद्यपि राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं की ओर भी जैसे अपव्यय से राष्ट्रीय क्षति, गुरू का महत्व आदि, कुछ ध्यान दिया गया है किन्तु सुधार के लिए उपदेश का सहारा लिया गया है। इस परम्परा में 1886 ई० बालकृष्ण भट्ट कृत 'नूतन ब्रह्मचारी', देवी प्रसाद शर्मा कृत 'सुन्दर सरोजिनी' 1893 ई० 'लीलावती व आदर्श वती' 1910 'चपला नव्य समाज' 1930 ई० लज्जाराम शर्मा कृत 'धूर्त रसिक लाल' 1889 ई० 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' 1899 ई० आदि उस समय

के सामाजिक रूढ़िवादी उपन्यास हैं। जिनमें धार्मिक आग्रह किन्तु हिन्दू संस्कृति के प्रति आस्था है। ये उपदेशात्मक हैं।

'सुन्दर सरोजिनी' में अंग्रेजी हुकूमत के शोषण, व्यापार नीति और भारत की गरीबी, की थोड़ी बहुत चर्चा भी है। साथ ही विदेशी प्रवासी भारतीयों की हीन दशा पर चिन्ता व्यक्त किया है।

किशोरीलाल गोस्वामी और लज्जाराम शर्मा के उपन्यास सनातनी विचारधारा से संयुक्त हैं। निश्चय ही किशोरीलाल प्रभूत सनातन पंथी लेखकों ने फलित ज्योतिष, श्रद्धा, स्त्री–शिक्षा, बाल विवाह पौराणिक धर्म की पक्षधरता आदि पर जोर दिया है। तीर्थयात्रा, वर्णाश्रम प्रथा, हरिभजन एवं त्यौहारों की भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई है। सनातनी होते हुए भी स्त्री शिक्षा के द्वारा सद्गृहिणी बनने का आग्रह लेखक की मौलिकता है। किशोरीलाल की तरह लज्जाराम शर्मा ने भी नयी जागृति का अनादर किया है। उसने विधवा विवाह का खण्डन, अन्तर्जातीय विवाह का विरोध और संयुक्त कुटुम्ब का समर्थन किया है। जहाँ एक ओर उपन्यासकार सनातनी थे वहीं कुछ लोग समाज का स्वागत भी कुछ कर रहे थे। ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामा स्वप्न' में ब्राह्मण कुमारी और क्षत्रिय कुमार के प्रेम सम्बन्ध की सम्भावना से लेखक सहमत है।

आर्य समाजी उपन्यासकार रूद्रदत्त शर्मा ने 'स्वर्ग में महासभा' में पुराण पंथियों की बुराई के साथ लोकतंत्रीय शासन पर भी दयानन्द की तरह थोड़ा प्रकाश डाला है। साथ ही अंग्रेजी शासन पर व्यंग्य किया है। राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिन्दू' गोबध–निषेध पर प्रकाश डालता है। सुधारवादी उपन्यासकार अयोध्या सिंह उपाध्याय के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में अनमेल विवाह के कुपरिणामों की ओर इंगित किया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यास पहले बंगला से अनूदित होते थे किन्तू 1902 में सर्वप्रथम 'तारा व क्षत्रिय कुल कमलिनी' नामक मौलिक उपन्यास कासृजन किशोरीलाल गोस्वामी ने किया फिर उनके साथ ही अनेक ऐतिहासिक मौलिक उपन्यास लिखे गये किन्तु इन उपन्यासों में भी सामाजिक उपन्यासों की भांति युगीन सामाजिक परिस्थितियों पर ही विचार किया गया है।

तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों में देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकांता' 1892 ई०, गोपाल राम गहमरी के जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त तमाम ऐसे उपन्यासों की श्रृंखला है जो कौतूहल और मनोरंजनार्थ ही लिखे गये थे। यही नहीं, हिन्दी में अनूदित उपन्यासों में भी ऐसी रचनाएँ की गई पर उनमें युगीन समाज की समस्याओं तथा आगत पाश्चात्य संस्कृति की स्वस्थ विशेषताओं को लिया गया।

अतः प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यासों में दो दृष्टियाँ मूल में विद्यमान थीं 'एक थी पाठकों का मनोरंजन और दूसरी अलौकिक कथा के माध्यम से समाज के परिष्कार के लिये। तिलसमी एय्यारी उपन्यासों में समाज का कोई यथार्थ चित्र नहीं मिलेगा। सुधारवादी उपन्यासों में समाज का एकांगी चित्रण हुआ है। इनमें तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक जीवन का कोई यथार्थ चित्र नहीं उभरा है। समस्याओं के प्रति इनका दृष्टिकोण प्रायः रूढ़िवादी है।"[41]

कुछ भी हो तो इतना तो निर्विवाद है कि सामाजिक हिन्दी उपन्यास जनरूचि की लगाम ढीली नहीं कर सके और जनमानस के करीब पहुँचने का उनका आग्रह स्पष्ट होने लगा था। यदा कदा राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रमुखतः सामाजिक समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण काफी सुधारवादी होने लगा था जो उनका प्रगतिशीलता का द्योतक था। यह आश्चर्य है कि सामाजिक अस्थिरता के इस युग में सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा घटनात्मक तिलस्मी, जासूसी उपन्यासों को अधिक सफलता मिल रही थी, यद्यपि सामन्त वर्ग के मनोरंजन के से माध्यम इन घटनात्मक उपन्यासों ने जनरूचि भी प्राप्त कर लिया था किन्तु धार्मिक हस्तक्षेप से प्रभावित सामाजिक उपन्यासों को कम लोकप्रियता नहीं मिली क्योंकि रहस्य रोमांच से भरपूर ऐसे उपन्यास जनरूचि परिष्कार में पीछे नहीं थे और सभी हिन्दी उपन्यासों का ध्येय मनोरंजन तथा धार्मिक पक्षधरता ही थी।

इन हिन्दी उपन्यासों के मूल में एक बात द्रष्टव्य है कि किसी धार्मिक पक्षधरता के दृष्टिकोण से मुक्त उपन्यासों तथा जासूसी तिलस्मी और रहस्यात्मक उपन्यासों में भी इस्लामी संस्कृति को रोषपूर्ण दृष्टि से देखा गया। देवकीनन्दन खत्री के चन्द्रकान्ता में मुसलमान एय्यारों को धूर्त, मक्कार और हिन्दू विरोधी के रूप में चित्रित किया गया है। यह प्रवृत्ति अन्य उपन्यासकारों में भी है। राधाकृष्णदास कृत 'निःसहाय हिन्दू' में हिन्दुओं मुसलमानों की धर्मान्धता पर चोटें हैं। किन्तु विशेषतः सामाजिक उपन्यास एक रूढ़िवादी धार्मिक विचारधारा के तहत इस्लामी संस्कृत के प्रति रोषपूर्ण रवैये अपना रहे थे। सनातनी, आर्य समाजी और सुधारवादी सामाजिक उपन्यासकार 'उर्दू' का विरोध करने और शुद्ध हिन्दी के प्रयोग पर जोर देने की सनक में कथानक तक को गौण स्थान देने लग गये थे। अयोध्या सिंह का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' ऐसा ही उपन्यास था किन्तु तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों में शुद्ध हिन्दी के प्रति उतना आग्रह नहीं था। हिन्दू संस्कृति को मानदंड बनाकर मुसलमान पात्रों को धार्मिक रूढ़िवादिता से प्रेरित होकर पापी और दुराचारी सिद्ध करना उनका गौण उद्देश्य अवश्य था।

अतः हिन्दी सामाजिक उपन्यासों में विचारधारात्मक अन्तर्विरोध होते हुये भी हिन्दू धर्म के प्रति आग्रह था, भले ही वे समाजसुधार की प्रक्रिया अपने ढंग से व्यक्त कर रहे थे और परस्पर दूसरी विचारधारा का विरोध कर रहे थे किन्तु इतना निर्विवाद है कि ये सामाजिक उपन्यासकार, इस्लामी संस्कृति और इस्लाम धर्म का विरोध एक साथ कर रहे थे और उनमें गौण रूप में ही सही, तत्कालीन राष्ट्रीय और आर्थिक परिस्थितियों पर सजग विचारात्मक हस्तक्षेप आरम्भ हो चुका था। ये उपन्यास शुद्ध सामाजिक थे जिनमें धार्मिक और सामाजिक विसंगतियों पर पर्याप्त और मुख्यतया चोटें की जा रही थीं किन्तु इनका लक्ष्य सुधार तक सीमित था। विदेशी शासन को बदलने का इनका कोई संकेत नहीं था, दबे स्वरों में कभी–कभी विदेशी शासन की निन्दा कर लेते थे। जैसे 'परीक्षा गुरू' में लेखक ने एक स्थान पर गम्भीरता से यह विचार व्यक्त किया है जो बहुत महत्वपूर्ण और प्रेमचंद युगीन उपन्यासों के लिए आधारभूमि का संकेत देते है "जब से हिन्दुस्तान की अपेक्षा थोड़े खर्च, थोड़ी मेहनत और थोड़ी समय में सब का मन मोहने लगा है, हिन्दुस्तान के घटती के दिन आ गये। जब तक इन बातों में और देशों के बराबर

उन्नति न करेगा, यह घाटा कभी पूरा न होगा।"

इतना निर्विवाद है कि हिन्दी उपन्यास ने अपने मनोरंजनकारी तेवर के कारण जनरूचि का परिष्कार करने में सफलता पायी और यही वह सूत्र है जिसे प्रेमचंद ने भी अपनाया। अन्यथा विषयवस्तु थी यथार्थ पकड़ से लैस प्रेमचंद के प्रारम्भिक उपन्यासों को तुरन्त सफलता मिलती।

अतः मनोरंजन व आकर्षण हिन्दी, उर्दू उपन्यासों में समान था। किशोरीलाल ने राष्ट्र प्रेम का प्रचार करना आरम्भ कर दिया था तदन्तर भी तमाम लेखकों ने राष्ट्रप्रेम की चर्चा शुरू कर दी थी। ये उपन्यासकार मध्यममार्ग अपना रहे थे अर्थात पश्चिमी शिक्षा संस्कृति ग्रहण करके भी भारतीय संस्कृति का त्याग नहीं कर रहे थे बल्कि औद्योगीकरण का स्वागत भी कर रहे थे।

प्रेमचंद पूर्व उर्दू उपन्यास शिल्पगत विशेषताओं में उल्लेखनीय नहीं हैं किन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से उनमें नवीनता अवश्य है। यद्यपि 1857 ई० के पूर्व उर्दू उपन्यासों में केवल नैतिक उपदेश ही है। कथावस्तु प्रेम, रोमांच और साहसिक कथाओं तक ही सीमित है। जादू–टोना और प्रेमियों के साहसिक कृत्य इन उपन्यासों के प्राण हैं जैसे बाग–ओ बहार अराइश ए महफिल और गुलबकावली आदि प्रमुख हैं।

किन्तु 1857 की क्रांति के फलस्वरूप बौद्धिक जागरण के आरम्भिक काल में उपन्यासों में परिवर्तन आया। 1900 तक उर्दू में अनेक उपन्यासकारों ने इस बौद्धिक जागरण का स्वागत किया। डॉ० जगत नारायण हैकरवाल का कथन है–"इसी काल में काल्पनिक कथा साहित्य का स्थान उपन्यास ने लिया तथा भारतीय उपन्यासकारों ने आधुनिक उपन्यास के सभी तत्वों को मान्यता दी।"[42]

इस युग के उपन्यासकारों ने सामाजिक बुराइयों पर ध्यान देना शुरू कर दिया था क्योंकि पश्चिमी सम्पर्क का उन पर काफी असर पड़ रहा था। इनमें शुद्ध राजनैतिक प्रश्नों पर ध्यान नहीं दिया गया है किन्तु सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों का चित्रण कर कुरीतियों को दूर करने पर व्यग्रता है। इनकी कथावस्तु पर दो तरह के प्रभाव थे। पहला सामाजिक राष्ट्रीय चेतना का और दूसरा फारसी भाषा की साहित्यिक परिपाटी का। इनमें स्त्री शिक्षा, मध्यवर्गीय मुसलमानों की विपत्तियों वैवाहिक जीवन की विसंगतियों के अतिरिक्त समाज का दूषित चित्र प्रस्तुत किया गया।

1877 से 'अवधपंच' निकला। ये उपन्यासकार प्रगतिशील थे और सामाजिक स्थिति के प्रति सजग थे। डॉ० नजीर अहमद को प्रथम उर्दू साहित्यिक उपन्यासकार माना जाता है। इन्होंने कल्पना तत्वों का बहिष्कार कर यथार्थ जीवन से उपन्यासों को जोड़ा और पारिवारिक उपन्यासों का सृजन आरम्भ किया। किन्तु ये उपन्यास राष्ट्रीय चेतना से उतने प्रभावित नहीं हैं जितने मध्यवर्गीय मुसलमानों के पारिवारिक जीवन के निकट हैं। ये उपदेश प्रधान और इस्लाम धर्म के हिमायती हैं। डॉ० हैकरवाल भी यही स्वीकारते हैं–"उनके उपन्यास सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी तत्वों तथा धार्मिक सिद्धान्तों तथा मत मतान्तरों की उपदेशात्मक व्याख्या करते हैं।"[43] नैतिकवादी होते हुये भी नजर अहमद भारतीय सामाजिक समस्याओं की तह तक न पहुँच कर रूढ़िवादी धार्मिकता

तक ही सीमित रह गयें किन्तु यह सत्य है कि वह वस्तुवादी उपन्यासकार थे, समाज को जैसा देखा, वैसा चित्र खींच कर रख दिया।"44" यह चित्र मुस्लिम समाज का ही है। सम्पूर्ण भारतीय समाज का नहीं।

दूसरे उपन्यासकार पं० रतननाथ सरशार हैं जिनका 'फिसाना–ए–आजाद' आधुनिक यूरोपीय प्रणाली पर लिखित उपन्यास है। इसमें जीवन की दैनिक घटनाओं को कथानक बनाया है। रघुपति सहाय अपने एक लेख में लिखते हैं कि इस लम्बे उपन्यास में अस्वाभाविक तिलस्मी बात भी है और हास्य व्यंग्य मिश्रित घटनात्मक कथानक भी। फिसाना–ए–आजाद में लखनऊ के अवनतिप्राय मुसलमान अमीरों और रईसों के जीवन के कौतूहल और विनोदपूर्ण चित्रण हैं। रघुपति सहाय का विचार अधिक तर्क सम्मत है कि इसमें प्रत्यक्ष अस्तित्व के विचार से कोई दृढ़ और स्थायी वास्तविकता नहीं है बल्कि स्वप्न जगत की एक स्पष्ट फिल्मी चित्रकारी है।"45"

सरशार डिकेन्स और थैकरे के व्यंग्य विनोद से प्रभावित थे। इस बात को प्रेमचंद ने भी स्वीकारा है। उस युग में सरशार के उपन्यासों की धूम थी। प्रेमचंद ने 1906 ई० में लिखा है–"सरशार ने उन सामाजिक रोगों के उपचार का बीड़ा उठाया था जिनके पंजे में फंसकर समाज की जान निकली जा रही थी। उनके उपन्यास मनुष्य के विचारों, उनके अच्छे बुरे आचरणों और उनकी सुन्दर और नीच भावनाओं के सच्चे चित्र हैं। सिर्फ तर्ज खाका अंग्रेजी का लिया और उस पर हिन्दुस्तानी रंग चढ़ाये।"46" शरर उर्दू के ऐतिहासिक उपन्यासों के जन्मदाता माने जाते हैं। इनके उपन्यासों में अनेक देशों की लड़ाइयों का वर्णन है पर यह वर्णन काल्पनिक अधिक है। सत्य घटना का अभाव प्रायः सभी में है। हैकरवाल की मान्यता सत्य है कि शरर को न इतिहास का शुद्ध ज्ञान था और न वे सामाजिक जागरण से ही परिचित थे।"47'

ऐतिहासिक उपन्यास रहस्य–रोमांच और प्रेम वर्णन से परिपूर्ण हैं। ऐसी घटनाएँ उन्होंने जानबूझकर जनरूचि के लिए ही चुनी थीं।

इसके अतिरिक्त शरर ने केवल इस्लामी इतिहास को ही विषयवस्तु बनाया था क्योंकि 'इस्लामी इतिहास अरबी–फारसी में होने से मुसलमान उसे भूल रहे थे। शरर ने नये सिरे से भूली हुई कहानी को फिर से दुनिया के सामने रख दिया। एजाज हुसेन एक लेख में स्वीकारते हैं। मुंशी प्रेमचंद ने भी स्वीकारा है–"इस्लाम और अरब की ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर मुसलमानों की सभ्यता, संस्कृत, साहस, धर्मनिष्ठता, उदारता, साहित्य सेवा, वफादारी आदि को अंग्रेजी के ढंग पर लिखना आरम्भ कर दिया।"48"

रूसवा भी प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। उसने अपने उपन्यासों को स्वयं 'मौजूदा जमीन को तवारीख इतिहास' कहा है। उसके उपन्यासों में नवाबों से लेकर रंडियों तक के जीवन का सही चित्र है। रूसवा ने शरर की परम्परा से हटकर अरब आदि स्थानों के स्थान पर युगीन परिस्थितियों का अंकन किया। युगीन समाज के चित्रग के फलस्वरूप ही वह शरर के उपन्यासों से अधिक लोकप्रिय हुये।

शेख सादी और मौलाना रशीद उल खैरी भी सशक्त कृतिकार हैं जिन्होंने सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया था।

सरशार केवल समाज की बुराइयों का ही दर्शन कराते हैं सुधार के उपाय नहीं बताते बल्कि पर्दा प्रथा का विरोध, स्त्री शिक्षा तथा मद्य का विरोध करते हैं। शरर के उपन्यासों में साम्प्रदायिक वैमनस्यता को बड़ी चालाकी से दबा लिया गया है। इसका असर प्रेमचंद पर भी पड़ा है।

अतः संक्षेप में माना जा सकता है कि कथावस्तु मध्यवर्गीय जीवन से ली गयी थी और वह भी पात्रों की तह तक नहीं पहुँच सके हैं। डॉ० हैकरवाल ने लिखा है, जो सत्य है–"इन उपन्यासकारों का कोई उद्देश्य अथवा जीवन–दर्शन नहीं था जिसे वे उपन्यासों में उपस्थित करते। कुछ उपन्यासकार इस आशय में धार्मिक कहे जा सकते हैं कि वे सुधारवादी थे और इसीलिए वे इस बात से संतुष्ट थे कि कुत्सित कुरीतियाँ और प्रथाएँ समाज से निकाल दी गयी थीं। अधिकांश ने अपने ही वर्ग के सम्बन्ध में लिखा। उन्होंने यह नहीं सोचा कि सम्पूर्ण रूप से मानवता का जीवन एक होने के कारण ही उर्दू उपन्यासकार युगीन समाज का यथार्थ चित्र नहीं प्रस्तुत कर पाये और न तो शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों का सृजन ही कर पाये क्योंकि मनोरंजन का उद्देश्य वह नहीं त्याग सकते थे, धार्मिक रूढ़िवादिता से ऊपर नहीं उठ सकते थे, अतः इस्लामी संस्कृति को ही विषयवस्तु बनाने पर वह बाध्य हुये।

हिन्दी और उर्दू उपन्यासों में विचारधारात्मक अन्तर्विरोध होते हुए भी मनोरंजन का उद्देश्य समान था। जैसा कि प्रेमचंद भी स्वीकारते हैं कि–"हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। इसमें साहित्यकार कल्पना की एक दृष्टि खड़ी करके मन माना तिलस्म बांधा करते थे।" अतः निर्विवाद है कि मनोरंजन और समाज सुधार धार्मिक आग्रह तक ही तत्कालीन हिन्दी–उर्दू उपन्यासकारों का ध्येय था। जनजीवन की मूलभूत समस्याओं और परतंत्रता की कसमकस से उनका खास सम्बन्ध नहीं था।

साहित्यिक वातावरण

उन्नीसवीं सदी में अनूदित उपन्यासों और कहानियों की धूम थी। रोनाल्ड के उपन्यासों के उर्दू में अनुवाद हो रहे थे। जो प्रेम और रोमांस और तिलस्म से भरपूर थे। यों कहा जा सकता है कि तिलस्मी साहित्य की बाढ़ आ रही थी। पुराणों के अनुवाद उर्दू में हो रहे थे। इन सबको प्रेमचंद ने उर्दू उपन्यासकारों नजर अहमद, सरशार, शरर, रूसवा, शेखसादी के अतिरिक्त उर्दू में होने वाले अनुवादों–रेनाल्ड के तिलस्मी उपन्यासों, पुराण के सभी अनूदित भागों को तत्परता से पढ़ा था और इनका उनकी विचारधारा पर जोरदार प्रभाव था। सामाजिक सुधारवाद और साहित्यिक उपन्यासों ने उनकी विचारधारा के निर्माण में नींव का काम किया था। जिसे वह स्वयं स्वीकार करते हैं–"रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। मैं उनका आशिक था। ....सरशार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी....दो–तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक खत्म हो गया तो मैंने नवल किशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद और तिलस्मी ग्रंथ के सत्तरह भाग पढ़ा और भी.... ।"50"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का साहित्य भी अनूदित हो रहा था किन्तु प्रेमचंद अंग्रेजी के ज्ञाता होने के कारण अंग्रेजी में ही रवीन्द्र की अनेक कहानियाँ पढ़कर प्रभावित भी हुये थे। वे स्वीकार करते हैं–''डॉ० रवीन्द्र नाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थी और अनुवाद पत्रिकाओं में छपवाया।"[51]"

किन्तु यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि जितना अध्ययन प्रेमचंद ने उर्दू साहित्य का किया था और प्रभाव ग्रहण किया था, उतना हिन्दी उपन्यासों का नहीं क्योंकि जहाँ वे अपने ऊपर प्रभावों की चर्चा करते हैं–वहाँ हिन्दी उपन्यासों का नाम नहीं लेते। तो क्या यह माना जाय कि 1893 तक उन्हें हिन्दी उपन्यासों में कोई प्रेरणा नहीं मिली थी जैसा कि मन्मथनाथ गुप्त भी मानते हैं–''यह 1892 का जमाना था, चंद्रकांता अभी प्रकाशित हुई थी किन्तु प्रेमचंद को उसका पता नहीं था। बहुत बाद को चलकर उन्होंने हिन्दी उपन्यास पढ़े।"[52]" किन्तु ऐसा लगता है कि 1900 ई० तक उन्होंने प्रसिद्ध हिन्दी उपन्यासों को अवश्य पढ़ा था अन्यथा आर्य समाज की विचारधारा से प्रेरित उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में विचारधारा का इतना साफ होना सम्भव न होता क्योंकि उर्दू उपन्यासों में कहीं आर्य समाज के तत्व नहीं थे। दयानंद से प्रभावित होने तथा आर्य समाज के बाकायदा सदस्य होने से यह स्वयं सिद्ध है कि उन्होंने हिन्दी में आर्य समाजी, सुधारवादी और सनातनी उपन्यासों को पढ़ा था और प्रेरणा ग्रहण की थी।

संदर्भ :

1. संस्मरण–दया नारायण निगम.
2. हिन्दुस्तान की कहानी–नेहरू–पृ०-18.
3. भारत : वर्तमान और भावी–रजनी पामदत्त–पृ०-89.
4. स्वतंत्रता संग्राम–विपिनचंद्र–पृ०-19.
5. भारत इतिहास और संस्कृति–मुक्तिबोध–पृ०-149.
6. वही, पृ०-149.
7. भारत चिन्तन परम्परा–के० दामोदरन–पृ०-362.
8. सत्यार्थ प्रकाश–दयानंद सरस्वती–छठा समुल्लास.
9. भारतीय चिन्तन परम्परा–पृ०-392.
10. वही, पृ०-392.
11. प्रेमचंद साहित्य में समसामयिक परिदृश्य–पृ०-90.
12. भारतीय चिन्तन परम्परा–पृ०-371.
13. वही, पृ०-373.
14. जाति संस्कृति और समाजवाद–विवेकानंद–पृ०-82.
15. वही, पृ०-81.
16. भारतीय विन्तन परम्परा–पृ०-373.
17. भारत : इतिहास और संस्कृति–पृ०-151.
18. लोहिया के विचार–पृ०-91.

19. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन–एम०एन० श्रीनिवास–पृ०-28.
20. हिन्दुस्तान की कहानी–पृ०-215.
21. भारतीय साहित्य और संस्कृति–हरिदत्त शास्त्री–पृ०-25.
22. मार्क्सवाद क्या है–एमिल बर्न्स–पृ०-42.
23. भारत : वर्तमान और भावी–पृ०-200.
24. भारत का मुक्ति संग्राम–अयोध्या सिंह–पृ०-60.
25. हिन्दी उपन्यासों में सामन्तवाद–कमला गुप्ता–पृ०-43.
26. भारत : वर्तमान और भावी–पृ०-89.
27. वही, पृ०-79.
28. भारत में साम्प्रदायिक समस्या–राम नारायण यादवेन्दु–पृ०-10.
29. स्वतंत्रता संग्राम–पृ०-28.
30. साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ–प्रभा दीक्षित–पृ०-34.
31. स्वतंत्रता संग्राम–पृ०-42.
32. भारत का मुक्ति संग्राम–पृ०-296.
33. स्वतंत्रता संग्राम–पृ०-43.
34. स्वतंत्रता संग्राम–पृ०-45.
35. भारत : वर्तमान और भावी–पृ०-126.
36. कलम का सिपाही–पृ०-77.
37. भारत : वर्तमान और भावी–पृ०-126.
38. स्वतंत्रता संग्राम–पृ०-55.
39. भारत : वर्तमान और भावी–पृ०-134.
40. वही, पृ०-137.
41. प्रेमचंद साहित्य में व्यक्ति और समाज–रक्षापुरी–पृ०-47.
42. प्रेमचंद–जगत नारायण हैकरवाल–पृ०-93.
43. प्रेमचंद–पृ०-94.
44. प्रेमचंद व्यक्ति और साहित्यकार–मन्मथनाथ गुप्त–पृ०-78.
45. प्रेमचंद व्यक्ति और साहित्यकार–पृ०-79.
46. शरर और सरशार (प्रेमचंद) : निबंध.
47. प्रेमचंद–पृ०-95.
48. कलम, तलवार और त्याग–प्रेमचंद.
49. प्रेमचंद–पृ०-101.
50. मेरी पहली रचना (निबंध)–प्रेमचंद.
51. प्रेमचंद–पृ०-101.
52. मेरी पहली रचना (निबंध)–प्रेमचंद.



प्रेमचंद और गाँधी-दर्शन

बीसवीं शताब्दी का दूसरा दशक भारतीय राजनीति में अत्यन्त भ्रांतिपूर्ण रहा। इसके पहले भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दो दलों में विभक्त हो चुकी थी। इसी के लगभग आतंकवाद का भी जन्म हुआ। पंजाब में आतंकवाद का जोर हो रहा था और इस कार्य में आर्य समाज की प्रमुख भूमिका थी। पंजाबी क्रांतिकारियों में बहुत से आर्यसमाजी भी थे।

इस तरह से संघर्ष त्रिकोणीय हो गया था–कांग्रेस में ही दो स्पष्ट कोण हो गये थे और तीसरा बड़ा तथा खतरनाक कोण था मुस्लिम लीग जन्य स्थायी साम्प्रदायिकता।

तात्पर्य यह कि भारतीय राजनीति का नेतृत्व करने वाली दो शक्तियाँ ही भारतीय राजनीति को समझने की कुंजी हैं। जिसका अनुमान 1896 में ही दक्षिण अफ्रीका से पूना आने पर गांधी जी ने लगा दिया था। उन्हीं के शब्दों में–"....गोखले नरमदली थे और तिलक गरमदली। गोखले की योजना थी वर्तमान समाज में सुधार करना, तिलक की योजना थी, उसका पुनर्निमाण। गोखले को अनिवार्यतः नौकरशाही से मिलकर काम करना होता था, तिलक को अनिवार्यतः उससे लड़ना पड़ता था। गोखले का सिद्धान्त था सहयोग, जहाँ तक सम्भव हो और विरोध जहाँ आवश्यक हो। तिलक की नीति बाधा खड़ी करने की ओर झुकी हुई थी। गोखले की कार्य प्रणाली ऐसी थी जो विदेशी दिल जीत कर उसे अपनी ओर कर लेना चाहती थी। तिलक की ऐसी जो उसे बिल्कुल हटा देना चाहती थी। गोखले उच्च वर्ग और बुद्धिजीवियों की ओर ताकते थे, तिलक साधारण जनता की ओर, जिसकी संख्या करोड़ो थी। गोखले का अखाड़ा धारा सभा थी, तिलक का मंच गांव का मण्डप। गोखले की अभिव्यक्ति का माध्यम अंग्रेजी थी, तिलक की मराठी। गोखले का लक्ष्य था स्वायत्त शासन जिसके द्वारा भारतीयों को अंग्रेजों द्वारा बतायी गयी कसौटी पर खरे उतरकर अपनी योग्यता प्रमाणित करनी थी, तिलक का लक्ष्य था स्वराज्य जो हर भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार था और जो वह लेकर रहेगा। गोखले अपने युग के साथ थे और तिलक बहुत आगे।"[1]

गांधी जी का यह अनुभव 1896 का है। अतः तब तक जनता तिलक के गरमदल से ज्यादा प्रभावित हो रही थी किन्तु कांग्रेस में गोखले के नरमदल का बोलबाला था। 1908 में तिलक की गिरफ्तारी के बाद भी देश में गरमदल का जोर बढ़ रहा था। राजनैतिक डकैतियाँ और राजनीतिक हत्याएँ (बंगाल के गवर्नर की हत्या, किंग्सफर्ड की हत्या, चन्द्रनगर के मेयर की हत्या) हो रही थीं।

1914 में ब्रिटेन ने जापान पर धावा बोल दिया। ब्रिटेन को युद्ध में सहायता देने के लिए कांग्रेस ने सशस्त्र अनुमति दे दी जब कि गरमदल वाले कांग्रेस के बाहर इसका विरोध कर रहे थे। दूसरी ओर भारतीय क्रांतिकारियों ने जर्मनी की सहायता से शस्त्र व सैनिक संगठन कर देश के भीतर से अंग्रेजों पर धावा बोलने की योजना बनायी थी ताकि अंग्रेजों पर दोनों तरफ से आक्रमण कर परास्त किया जा सके किन्तु सफल न हो सके।"[2]" लेकिन यह भड़की आग थी जो बुझ नहीं रही थी और कांग्रेसी भी इससे परेशान हो रहे थे।

गांधी 1914 ई० में दक्षिण अफ्रीका से इसी समय वापस आये थे और अपने राजनीतिक गुरू गोखले की छत्र छाया में देश की राजनीति को गहराई से पढ़ रहे थे।"[3]" गांधी ने स्वीकार किया कि 18 जुलाई 1914 को स्वदेश जाते हुये रास्ते में इंग्लैण्ड में गोखले से मिलने के लिये रवाना हुआ। गोखले के पथ प्रदर्शन में स्वदेश–सेवा करने का इच्छुक था दक्षिण अफ्रीका से विदा हो रहा था।"[4]" 1915 में गोखले तथा फिरोजशाह मेहता की मृत्यु के बाद कांग्रेस की स्थिति नाजुक हो गयी किंतु नेतृत्व की क्षमता तिलक में ही थी, नरमदली भी मानते थे। 1915 के कांग्रेस में गांधी शरीक हुए थे पर तब तक वह राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं कर रहे थे पर जनता उनसे परिचित हो चुकी थी।

गांधी के भारत आगमन के समय सामाजिक स्थिति में कुछ बदलाव होने लगा था इसके पूर्व कई धार्मिक–सामाजिक आन्दोलन हो चुके थे जिनके अनुयायी अब भी पूरी तन्मयता से समाज सुधार में संलग्न थे। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसायटी समाज को अपने–अपने ढंग से बदलने के लिए आंदोलन चला रहे थे। किन्तु यह सब मिलकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रचार भी कर रहे थे, भले ही वह प्रभाव शिथिल पड़ रहा था। तात्पर्य यह कि ये सारे आन्दोलन सामाजिक सुधार के अतिरिक्त राजनीतिक हस्तक्षेप भी करने लगे थे। यद्यपि इनसे साम्प्रदायिकता का खतरा तो पैदा ही हो रहा था, साथ ही जनमत को अपनी तरफ आकृष्ट करने का इनका सिलसिला बढ़ता जा रहा था। उधर कांग्रेस नरमदल के हाथों में थी जो समाज सुधार के झूठे वायदे कर रही थी, साथ ही क्रांतिकारी शक्तियों का खुला विरोध भी। जनता क्रांति चाहती थी–वह तिलक के साथ थी–गोखले के नरमदल के साथ नहीं। इसीलिएउसे कांग्रेस की नीतियाँ आकृष्ट नहीं कर पा रही थी। राजेन्द्र प्रसाद जनता मनोवृत्ति का हवाला देते हैं–"रैयत बलवाकर देती, किसी नीलवर को मार देती या आपस में मिलकर कुछ दूसरे प्रकार का तहलका मचा देती।"[5]" कांग्रेस पूँजीपतियों की संस्था थी और उनके हित में कार्य कर रही थी पर गोखले के मरने के बाद वह दिशाहीन हो रही थी। उसी समय गांधी का प्रादुर्भाव भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर एक सशक्त, विश्वस्त और विजयी नेता के रूप में हुआ जिनकी अटूट क्षमता के विषय में भारतीय जनता कम, भारतीय पूँजीपति अधिक विश्वस्त और आश्चर्य चकित हो चुके थे। जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका में आंदोलन चलाने के लिये गांधी को बहुत सा धन प्रदान किया था और उनका यह प्रयत्न भी था कि जन संगठन की बागडोर तिलक के हाथों में न जाने पाये और कांग्रेस में उनके अतिरिक्त कोई नरमदली नेता आये। 1916 में चम्पारन आंदोलन से गांधी जी

ने अपनी कार्य प्रणाली की शुरूआत की।

राजनीति में उनका आगमन चौंकाने वाला नहीं था क्योंकि अब तक वह देशवासियों के लिए अपरिचित नहीं थे।

अतः गांधी का व्यक्तित्व ही भारतीय जनता के आकर्षण का केन्द्र बना। अपने व्यक्तित्व के प्रभाव और देशहित के लिए बार–बार जान तक खतरे में डाल देने की कार्य शैली से जनता के बीच निर्विवाद प्रतिनिधि नेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए और राजनीति से धर्म को जोड़कर न केवल जनता को कोरा उपदेश दिया, स्वयं पहले वैसा करके दिखाया तक तदनुरूप करने को बाध्य किया। वह अपने धर्मशील जुझारू व्यक्तित्व से जनचेतना की जागृति कर आंदोलन की बागडोर अपने हाथ में रखने पर सफल रहे। व्यापक जनजागृति और व्यापक जनान्दोलन कर साम्राज्यवादी सत्ता को बार–बार झुकने को विवश किया। यहीं गांधी जी की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

गांधी विचारधारा के मूल तत्व

गांधी विचारधारा के मूलतत्व हैं.... अहिंसा, सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन, समझौतावाद, रचनात्मक सामाजिक कार्य और ट्रस्टीशिप। इन तत्वों का उपयोग गांधी जी ने जहाँ एक ओर भारतीय जनमानस को जगाने और आन्दोलन में भागीदार बनाने के लिए किया, वहीं बढ़ते हुए क्रांतिकारी आन्दोलन को भारतीय सामन्तवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध एकजुट न होने देने के लिये उलझाये रखकर सिर्फ साम्राज्यवाद के विरुद्ध शांतिमय जेहाद के रूप में किया। स्वराज्य या पूर्णमुक्ति से उनका अर्थ अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खात्मे से था साथ ही भारतीय सामन्तों–पूँजीपतियों के अस्तित्व की रक्षा और सत्ता हस्तान्तरण से था। एक ओर जहाँ उन्होंने भारतीय किसान मजदूर, विद्यार्थी व तरुण वर्ग की क्रांतिकारी गतिविधियों पर अपने वैचारिक तत्वों के माध्यम से अंकुश बनाए रखा वहीं भारतीय पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध किसान–मजदूर–विद्यार्थी को एकजुट होकर योजनाबद्ध क्रांति करने से रोके रखा तथा और इसके लिये उन्हें असहयोग आन्दोलन, समझौतावाद तथा अन्य रचनात्मक सामाजिक क्रिया कलापों में उलझाये रखा क्योंकि क्रांति द्वारा मुक्ति का अर्थ था साम्राज्यवाद और सामन्तवादी पूँजीवाद से एक साथ मुक्ति।

भारत में उन्हें जो पहला काम करना था वह गहरी नींद में सोती हुई भारतीय जनता को जगाकर सूत्रबद्ध करने और अपने नेतृत्व का विश्वास दिलाकर साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन की लगाम अपने हाथ में लेना था। इसके लिए गांधी जी ने सत्याग्रह की अपनी पुरानी शैली की प्रयोग किया। चम्पारन के किसानों के साथ मिलकर लगानबंदी आंदोलन को सफल बनाया और पूरे देश के किसानों के हमदर्द नेता बन गये। दूसरी ओर अहमदाबाद के मिल मजदूरों का नेतृत्व कर, मजदूरों का स्वत्व देने के लिए मिल मालिकों को विवश किया। इस तरह 1918 तक गांधी जी ने किसान–मजदूरों को प्रभाव सीमा में ले लिया साथ ही व्यापक जन जागृति कर गांव और शहर को

आन्दोलन से जोड़ा।

आन्दोलन को अधिक योजनाबद्ध और गतिशील बनाने के लिए गांधी जी ने हिन्दू–मुस्लिम एकता की नीति पर विचार किया। मुसलमानों ने ब्रिटेन के खिलाफ आन्दोलन चलाने की योजना तैयार की थी क्योंकि ब्रिटेन तुर्की के साथ रियायत देने पर तैयार नहीं था। यद्यपि मुसलमान साम्राज्यवाद के विरुद्ध एकजुट हो रहें थे। अतः ऐसे समय उनका सहयोग कर एकता आसानी से स्थापित की जा सकती थी। फलतः गांधी जी ने हिन्दुओं की पहल की कि मौलाना आजाद और हसरत मोहानी जैसे नेताओं द्वारा स्थापित 'खिलाफत समिति' का साथ दें। गांधी को इस समिति का अध्यक्ष भी नवम्बर 1919 में चुन लिया गया। गांधी जी ने खिलाफत आंदोलन की आड़ में व्यापक साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन (असहयोग आन्दोलन) छेड़ने का निर्णय ले लिया।

इसी बीच कांग्रेस के दोनों दलों को गांधी जी ने एकता के सूत्र में बांध लिया था क्योंकि नरमदल के 'साम्राज्य के भीतर स्वराज्य' और उग्रवादियों के 'असहयोग' की नीति के माध्यम को चलाते रहने की स्वीकृति देकर उनका विभेद कम कर दिया था। इसी बीच तिलक का भी देहावसान हो गया। 1920 की नागपुर कांग्रेस में चितरंजन दास ने गांधी जी की ओर से असहयोग प्रस्ताव पेश किया और लाजपत राय ने समर्थन किया। कांग्रेस ने गांधी के नेतृत्व में 'करबन्दी आन्दोलन चलाकर अनेक किसान सभाओं की स्थापना के साथ किसानों को सूत्रबद्ध कर लिया और देश भर के किसानों को उनकी समस्याओं से जोड़ने का झांसा देकर गांधी ने साम्राज्यवाद विरोधी सत्याग्रह आन्दोलन में उन्हें अपने ढंग से इस्तेमाल किया। भारतीय जनता का यह क्रियात्मक उपयोग गांधी जी के अतिरिक्त दूसरा नेता नहीं कर सकता था। व्यापक जनान्दोलन से अंग्रेजी सरकार सहम गयी और दमन का व्यापक दौर चलाने लगी। इसी बीच मोपला और बम्बई के हिंसात्मक दंगों की सफलता ने गांधी जी को झकझोर दिया। वह बारदोली में जाकर आन्दोलन चलाने की सोच रहे थे तभी 1922 में चौरी चौरा काण्ड से स्थिति की आक्रामकता का अंदाजा लगा कर आंदोलन स्थगित करने की घोषणा कर दिया। कुसमय का यह स्थगन लोगों को बुरा लगा। जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस आदि कांग्रेसियों ने गांधी जी का विरोध किया। नेताओं ने टिप्पणी की कि ऐसा करके गांधी जी ने जमींदार वर्ग के हितों की रक्षा की क्योंकि उनके एक इशारे पर लोग लगान देने से इंकार कर देते और साम्राज्यवाद के साथ जमींदार वर्ग का भी सफाया हो जाता। नम्बूदरीपाद दक्षिण अफ्रीका का उल्लेख करते हुये लिखते हैं–"यद्यपि संघर्ष में सबसे वीरतापूर्ण और सबसे निर्णायक भूमिका मेहनतकश लोगों ने अदा की, पर आन्दोलन कौन सी दिशा ग्रहण करेगा, इसका निर्णय उन्होंने नहीं, बल्कि गांधी जी ने किया। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में हम संगठन और संघर्ष के उन सभी तरीकों की सामान्य रूपरेखा मौजूद पाते हैं जिन्हें गांधी जी ने आगे चलकर अपनाया।"[6] और जैसा स्पष्ट है 1918 का आंदोलन ही गांधी जी द्वारा भारत में 'गांधीवादी ट्रेड यूनियन शैली' के विकास का पहला सफल प्रयोग था। प्रगतिशील उग्रवादी नेताओं ने इसे गांधी द्वारा जनता के साथ 'अन्याय' की संज्ञा दी क्योंकि 'करबन्दी आन्दोलन' से आगे न बढ़ने के

कारण जमींदारों की हित रक्षा का आग्रह ही था। बल्कि इतना निर्विवाद है कि 1920 से 1922 तक के इस असहयोग आन्दोलन ने भारतीय मूर्छित जनता के लिये संजीवनी का काम किया जिसका सारा श्रेय गांधी जी को ही है।

जनता उग्रवादियों के साथ होती जा रही थी और जवाहरलाल नेहरू युवकों के नेता स्वीकृत हो चुके थे। गांधी जी ने दो काम किया। एक ओर तो स्वराज्य वालों और औपनिवेशिक पद चाहने वालों के बीच समझौता कराया। दूसरी ओर लाहौर अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू के अध्यक्ष पद का प्रस्ताव कर उग्रवादियों और युवकों के संगठन शक्ति को भी कब्जे में कर लिया। इस तरह पूँजीपति वर्ग का भारी अहित होते–होते बचा गया जो गांधीवादी शैली का कमाल था।

इसी बीच 1924 से 1928 तक साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ आयी। इसके विरोध में गांधी जी ने 21 दिन का उपवास किया। गांधी जी के न चाहते हुये भी 1928 में साइमन कमीशन का विरोध एवं बहिष्कार पूरे देश में किया गया। लाला लाजपत राय लाहौर में पुलिस लाठीचार्ज में मारे गये। जनता का भीषण दमन शुरू हुआ। इस बीच उपसमितियों, सुराजियों व जनता के साथ गांधी जी घूम–घूम कर रचनात्मक कार्य करा रहे थे और उन्हें सत्य–अहिंसा जैसे अनिवार्य नियमों में जकड़ दिया था ताकि संघर्ष उनके (पूँजीपतियों के) हाथों से निकल न जाये। 1929 की लाहौर कांग्रेस में जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस ने मिलकर 'पूर्ण स्वराज्य दिवस' मनाने की घोषणा की और कौंसिल बहिष्कार को मंजूरी दी। गांधी जी ने अपनी ग्यारह मांगे सामने रखीं। ये थीं–शराबबन्दी, मालगुजारी में कमी, फौजी खर्च में कमी, सिविल सर्विस के वेतन में कमी, विदेशी वस्तु के विरुद्ध संरक्षण शुल्क, सागर तट संरक्षण पर कानून, राजनीतिक कैदियों की रिहाई, सी०आई०डी० का खात्मा और आत्मरक्षा के लिए हथियार जारी करना आदि। इन मांगों के माध्यम से भारतीय सामन्तवादी–पूँजीवादी वर्ग ने गांधी को ढाल बनाकर देश के भीतर उग्रतर होती संघर्षरत जनता की दिशा बदलने का काम किया।

कांग्रेस के भीतर जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व वाला वामपंक्षी उग्रपंथी आंदोलन की सफलता और उसके साथ जनता की भागीदारी देख कर गांधी साहित नरमदली नेताओं को चिन्ता हुई। गांधी जी और मोतीलाल नेहरू ने प्रस्ताव पास कराकर (1928 में) एक वर्ष के लिये आन्दोलन स्थगित कर दिया। इस बीच समझौते की बात–चीत चलाते रहकर साम्राज्यवाद को संघर्ष रोकने की तैयारी का मौका दिया गया। 1929 में दमन चक्र चलाकर सरकार ने मजदूर नेताओं तथा वामपक्षी नेताओं को भी कैद कर लिया। इस तरह संघर्ष दब गया। 26 जनवरी 1930 में पूर्ण स्वतंत्रता दिवस मनाया गया।

गांधी के हाथों होने के कारण आंदोलन की रणनीति अस्पष्ट ही थी। जवाहरलाल नेहरू व सुभाष चाहते थे कि ऐसे समय में आंदोलन छेड़ने पर बड़ा लाभ होगा किन्तु गांधी जी ने अपनी कार्य शैली का प्रयोग करके सबको चौंका दिया। मार्च 1930 में गांधी जी ने वायसराय को गुप्त पत्र लिखकर हिंसा की बाढ़ रोकने का अनुरोध किया और

जनान्दोलन शुरू करते हुये दो मोर्चे पर लड़ाई करने की घोषणा कर दी। एक साम्राज्यवाद के विरुद्ध और दूसरा अपने ही देश के उग्रवादियों के विरुद्ध। किसानों और मजदूरों को एक न होने देने के लिये गांधी जी ने नमक सत्याग्रह आरम्भ किया। क्योंकि एक ओर मजदूर इससे अलग रहेंगे, दूसरी ओर जनता को उलझाये रखा जायेगा। अपने शिष्यों के साथ गांधी जी ने डाँडी यात्रा शुरू कर तीन सप्ताह का समय बिताया। उधर सुभाषचन्द्र बोस के बन्दी हो जाने पर जनता भड़क उठी। देश में हड़ताल और प्रदर्शन तेज हो गये। यहाँ तक कि कांग्रेस द्वारा पचास प्रतिशत छूट की सरकार से घोषणा कराये जाने के बावजूद भी जनता सहमत नहीं हुई पेशावर में अभूतपूर्व घटना घटी। वहाँ गढ़वाली सैनिकों ने जनता पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। जनता बेकाबू थी, गोलियों से बहुत हताहत हुये सैनिकों पर कड़ा अभियोग चलाया गया किन्तु गांधी जी ने सरकार से उनकी रिहाई की सिफारिश करनी दूर, उलटे बुराई की क्योंकि वह उनके अहिंसा सिद्धान्त के विरुद्ध था। स्पष्ट है कि अहिंसा की ओट में गांधी जी किस मन्तव्य की पूर्ति करना चाहते थे।

चतुर्दिक् जनान्दोलन की सफलता देखकर लोगों को विश्वास था कि शीघ्र ही देश के उग्रवादी लोग हथियार बन्द होकर देश पर कब्जा कर लेंगे, तभी गांधी जी को बिना शर्त रिहा कर दिया गया और 5 मार्च 1931 को गांधी–इरविन समझौता हो गया। फिर गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेकर सबको स्तम्भित कर दिया। यह साम्राज्यवाद की जीत कम थी, भारतीय सामन्तवाद की अधिक। रजनी पामदत्त के अनुसार "....गांधी–इरविन समझौते से असल में बारदोली का अनुभव ही बहुत बड़े पैमाने पर दोहराया गया था। एकाएक उस समय आन्दोलन रोक दिया गया जब वह अपने शिखर पर था। गांधी जी ने यह खुद दिखाया कि यह कहना सरासर झूठ है कि हमारा आंदोलन ठप होने वाला था। कांग्रेस ने जीतने की कोशिश ही कब की थी।"[7] इससे देश भर के नौजवानों ने गांधी जी का विरोध किया। बम्बई के मजदूरों ने उनके विरुद्ध प्रदर्शन किया।

सरकार ने 4 जनवरी 1932 को गांधी जी को बिना किसी सूचना दिये गिरफ्तार कर लिया और कांग्रेस को शक्तिहीन करने के लिये भीषण दमन शुरू किया। कांग्रेस गैर–कानूनी घोषित हो गयी और सभी नेताओं को गिरफ्तार करके जनता का बेरहमी से दमन किया गया। ऐसे समय जेल में ही गांधी जी ने अस्पृश्यों के लिए पृथक निर्वाचन देने के विरोध में सितम्बर 1932 को आमरण अनशन शुरू कर दिया जिसका अन्त 'पूनापैक्ट' के बाद हुआ। 8 मई 1933 को पुनः आत्मशुद्धि के लिए व हरिजनों पर अत्याचार के विरुद्ध गांधी जी ने 21 दिन के उपवास की घोषणा की। उसी दिन रिहा होकर उन्होंने छः सप्ताह तक आन्दोलन स्थगित रखने की घोषणा की जिसका शिमला से पत्र भेजकर सुभाष और विट्ठल भाई ने विरोध किया और गांधी जी के निर्देश पर कांग्रेसी नेताओं के हरिजन उद्धार के कार्य में उलझ जाने से सविनय अवज्ञा आन्दोलन शिथिल हो गया। हरिजन आंदोलन के लिये नवम्बर 1933 में देश का व्यापक दौरा कर आठ लाख रुपये का कोष बनाकर गांधी जी ने रचनात्मक कार्यों में तेजी ला दिया। बाद

में 25 जून 1934 को उन पर प्राणाघातक बम फेंका गया पर बच गये। आंदोलन स्थगन का एक बहाना और भी तब मिल गया जब 16 जनवरी 1934 को बिहार का भीषण भूकम्प आया। सभी नेता और स्वयं सेवक गांधी जी के नेतृत्व में उक माह तक वहीं पीड़ितों की सहायता करते रहे तथा आन्दोलन को गांधी जी ने कुण्ठित करने के लिए सबका ध्यान उधर बंटाए रखा।

नये-नये आर्डिनेन्स लागू होने से कांग्रेस ने कौंसिल प्रवेश का प्रस्ताव पास किया। गांधी जी इसके पक्ष में थे। सरकार ने जून 1934 को कांग्रेस से प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया फलतः गांधी जी को खुलकर काम करने की छूट मिल गयी। इस प्रस्ताव से जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष आदि दुःखी हुये क्योंकि वह कौंसिल प्रवेश को असामयिक मानते थे।

मई 1934 में नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस की बैठक हुई जिसमें कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई। गांधी जी ने दुःखी होकर सितम्बर 1934 में कांग्रेस से अलग होने की घोषणा की क्योंकि उग्रवादियों के कारण कांग्रेस की एकता भंग हो रही थी और मूल बात थी गांधी जी के सिद्धांतों की हत्या हो रही थी। कांग्रेस से अलग होकर वह हरिजन तथा अन्य रचनात्मक कार्यों में जुट गये किंतु कांग्रेस की बागडोर शिथिल नहीं होने दी। उनके प्रस्ताव पर 1936 में पुनः जवाहरलाल नेहरू को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। वह नेहरू के युवक नेता होने पर विश्वस्त थे और उनका कांग्रेस के माध्यम से अपने अनुसार इस्तेमाल करना चाहते थे क्योंकि जनता पर खासकर युवकों पर जवाहरलाल नेहरू का जादू था। उन्होंने एक ओर कांग्रेस में सरदार पटेल जैसे दक्षिणपंथियों की स्थिति मजबूत बनाने का लक्ष्य रखा था, दूसरी ओर नेहरू के कांग्रेस नेतृत्व के माध्यम से जनान्दोलन की लगाम भी कांग्रेस के पास रखना चाहते थे। इसलिये गांधी जी के कहने पर ही दक्षिणपंथी सरदार पटेल ने 1936 में नेहरू के समर्थन में अपना नाम वापस लिया था। 1937 में नेहरू को पुनः और 1938 में दूसरे वामपंथी सुभाष बोस को अध्यक्ष बनाया गया। गांधी जी ने 1937 में कांग्रेस की जीत पर नेहरू पर जोर देकर सरकार से विजित प्रांतों में अपने अधिकार प्रयोग की बात कही। इस तरह कांग्रेस से अलग रहकर गांधी जी कांग्रेस का उपयोग करते रहे।

जैसा स्पष्ट है कांग्रेस में वामपंथी स्थिति के सुदृढ़ होते जाने और उसमें दक्षिणपंथियों का प्रभाव घटने से गांधी जी भी चिंतित हुये। इसके लिये उन्होंने दक्षिणपंथियों को संघर्ष के लिये उकसाया। किसान मजदूर संगठनों पर धावा बोलकर उनका दमन किया जाने लगा, गांधी जी ने रियासती जनता को संगठित होकर सरकार से संघर्ष छेड़ने का आह्वान किया लेकिन जनता साम्राज्यवाद से अधिक सामन्तवाद से शोषित थी फलतः राजाओं के विरुद्ध रियासती जनता का आन्दोलन इस कदर तेज हो गया कि गांधी जी बौखला उठे और नीति परिवर्तित किया। जनता से अनुरोध किया कि अधिकारियों से वार्ता चलाकर समस्या सुलझाना हितकर है। इससे अप्रत्यक्ष रूप से राजाओं को यह बताकर कांग्रेस के साथ लाने की मुहिम थी कि जनता कांग्रेस के साथ है जो सामन्तवाद को उखाड़ सकती है। इस तरह गांधी जी ने रियासती जनता का

उपयोग देशी नरेशों से समझौता करने के लिये किया ताकि कांग्रेस में वामपक्ष की मनमानी पर अंकुश रख सके। गांधी जी वामपंथियों के इस इरादे का विरोध भी इस माध्यम से करना चाहते थे कि संघसम्बन्धी सिद्धान्तों को बदला जाय। इस तरह दक्षिणपंथी कांग्रेस जनों को ढाल बनाकर कांग्रेस के माध्यम से रियासती जनता को आंदोलन में राजाओं के विरुद्ध सहयोग देकर और फिर आन्दोलन को समझौता में बदल कर गांधी जी ने अपनी पुरानी अहिंसा, समझौतावादी कार्यशैली का सफल प्रयोग किया। 1938 में सुभाष के कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जाने पर गांधी जी ने न केवल विरोध किया बल्कि सुभाष को इस्तीफा देने पर विवश किया। नम्बूदरीपाद के शब्दों में–"गांव की गरीब जनता के प्रति ही नहीं, बल्कि मजदूर वर्ग और मेहनतकशों के समुदायों के प्रति गांधी जी का दृष्टिकोण रूखा था। जिससे पूंजीवादी वर्ग को सहायता मिली। ट्रस्टशिप का उनका सिद्धांत, नैतिक मूल्यों का आग्रह, गैर संसदीय कार्यकलाप रचनात्मकता अपने सहकारियों के संसदीय कार्यकलाप के साथ मेल बैठाना, शत्रु के विरुद्ध जनता का प्रत्यक्ष आंदोलन चलाते हुये उससे बातचीत करते जाने का विशिट सिद्धांत ही गांधीवादी तरीका था।"[४] देखा जाय तो यह तरीका उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में ही विकसित किया था जिसका सफल प्रयोग भारत में किया। नम्बूदरीपाद के अनुसार–"आश्रमवासियों के लिये सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्यौरों से पूर्ण आचार नियम बनवाना और आंदोलन शुरू करने के पहले आवश्यक शर्तों के रूप में स्वयं स्वीकृत अनुशासन की बंदिश लगाना, आंदोलन से पहले तथा उसके दौरान में अधिकारियों को बड़ी सावधानी के साथ लिखे पत्र भेजना, जेल के भीतर से भी समझौते की बातचीत चलाना, आंदोलन में भाग लेने वाले नाम, जन समुदाय की जानकारी अथवा स्वीकृती के बिना ही अधिकारियों के साथ समझौता कर लेना, आंदोलन की तैयारी करने, चलाने और बन्द कर देने की ये विशेषताएँ सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रीका में उभर कर सामने आयी थी।"[५]

इस तरह स्पष्ट है कि गांधी जी ने किस तरह 1920-21 में फिर 1930-31 में और 1939-42 में जनान्दोल चलाकर एक ओर तो भारतीय जनता को साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में झोंककर उसका भारतीय सामन्तवाद के हितार्थ इस्तेमाल किया, दूसरी ओर भारतीय पूँजीवाद की स्थिति मजबूत और निरापद बना दी। आंदोलन स्थगन के बीच के समय का सही प्रयोग करते हुये जिन रचनात्मक कार्यों का क्रियान्वयन किया उससे दो लाभ हुये–एक तो भारतीय समाज की विसंगतियों पर कुठाराघात कर जनता को साहस, वीरता, चतुराई का पाठ पढ़ाया, दूसरे संघर्ष को पूँजीवाद सामन्तवाद की दिशा में बढ़ने से रोकने के लिये ब्रेक का कार्य किया।

सत्याग्रही को जिन स्वनिर्मित नियमों ने बांधा और नियमों को धर्म से जोड़ा, उससे आंदोलन के अपनी मर्जी के अनुसार चलाकर पूँजीवाद सामन्तवाद का पथ अधिक साफ बनाया। गांधी युवा पीढ़ी की क्रांतिकारी प्रवृत्ति से परिचित थे तभी उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रमों में उलझाये रख, उनमें अन्ध आस्था को बढ़ावा दिया। किसानों व मजदूरों को आंदोलन में खींचकर गांधी जी ने एक ओर उनकी कुछ समस्याओं को कार्यक्रम में शामिल किया दूसरी ओर विद्यार्थी समुदाय से उनको दूर रखकर सामंतवाद

को अभय दिलाया क्योंकि वे किसानों, मजदूरों के घरों से आये थे, विद्यार्थी उनसे मिलकर सरकार के साथ सामंतवाद का खात्मा कर देते। इसलिये 'सर्वोदय' सिद्धान्त के द्वारा जनता को समाजवाद का स्वप्न देकर, और ट्रस्टीशिप का धोखा देकर उनकी जबान बन्द करने में बहुत हद तक कामयाब रहे। लेकिन गांधी के समाजवाद और मार्क्स के समाजवाद में कोई साम्य नहीं है। गांधीवाद वर्ग समन्वय चाहता है, मार्क्सवाद वर्ग संघर्ष। एक अहिंसक है, दूसरा हिंसक। एक आस्तिक है, दूसरा नास्तिक। एक की नीति धर्म पर स्थित है, दूसरा धर्म को अफीम का नशा कहता है। एक आदर्शवादी है, हवाई उड़ान भरता है, दूसरा यथार्थवादी है इसलिये जमीन पर चलता है और इसके लिये 'ट्रस्टीशिप' और रामराज्य का आदर्श प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार रामराज्य में राजाओं और भिखारियों दोनों के अधिकारों की सुरक्षा रहेगी। वर्ग अस्तित्व की यथातथ्यता द्वारा गांधीवाद को सामंतवाद का निकटस्थ माना जाता है। जयप्रकाश नारायण के शब्दों में–''गांधीवाद समाज की ऊँची और नीची सतह को स्थायी मान लेता है और रहम का बर्ताव चाहता है।"[10]" अवध के जमींदारों को आश्वासन देते हुये गांधी जी ने यहाँ तक कहा कि यदि कोई उन जमींदारों की सम्पत्ति लेगा तो वह स्वयं उनकी ओर से लड़ेंगे। उन्होंने किसानों से लगान चुकाने का बार–बार आग्रह किया था।

स्पष्ट है कि गांधी जी शोषितों को धार्मिक छलावे में डालकर उन्हें थोड़ी रियायत प्रदान करा कर सन्तोषी बनने का उपदेश देते हैं, उनसे अपनी आवश्यकताएँ सीमित करने को कहते हैं, क्योंकि धन की कमी नहीं खिलेगी और साथ ही असहयोग से आवश्यकताएँ पूरी होती रहेंगी और संघर्ष कुंठित हो जायगा। अतः यशपाल का मन्तव्य स्पष्ट है कि समाज में मौजूद सामाजिक विषमता को बनाये रखना ही गांधीवादी सत्य अहिंसा का आदर्श और प्रयोजन है। माना जा सकता है कि न तो गांधीवाद समाजवाद चाहता है और न तो गांधीवाद से समाजवाद का समन्वय ही सम्भव है। एम०एन० राय का निष्कर्ष है–''गांधी जी ऐसे आदर्शवादी हैं जो दुर्भाग्यवश वस्तुस्थिति को भूलते हैं। समाजवादी भी आदर्शवादी हैं पर वह वस्तुस्थिति को भूलते नहीं हैं।"[12]" अतः ट्रस्टीशिप गांधी जी का स्वप्नादर्श है जो असम्भव है क्योंकि धन रहने पर धनिकों को अपव्यय रोकना और अभिमान रहित रहना असम्भव है। ध्यातव्य है कि गांधी जी वर्ग मिटाना नहीं चाहते। वह मशीनी सभ्यता का विरोध करते हैं क्योंकि इससे समाज अपनी संस्कृति से पलायन करता है वह मशीनों की वृद्धि को रोककर मनुष्य के श्रम को कायम रखना चाहते हैं इसलिये वह गृह उद्योगों को बढ़ावा देकर मालिकों से नई मिलें न खोलने का आग्रह कर सामंतवाद नीति का ही परिचय देते हैं वह मशीनों को मनुष्य के श्रम में मदद करने की भूमिका की सराहना भी करते हैं। जैसा कि एम०एन० राय का तर्क है–''गांधी जी ऐसे दो वर्गहितों में समन्वय कराना चाहते हैं जिनका समन्वय हो नहीं सकता।"[13]" अतः शोषण और समझौता एक साथ असम्भव है। आद्योगीकरण को 'चाण्डालसभ्यता' का नाम देते हुये गांधी जी उसकी बुराइयों से बचने के लिये जनता को सचेत करते हैं। कहना उचित होगा कि वह मशीनों या मिल मालिकों से घृणा नहीं करते थे, बल्कि मशीनी सभ्यता की बुराइयों के खतरे के प्रति चिन्तित थे।

इस विवेचन के पश्चात् इतना निर्विवाद माना जा सकता है कि गांधी जी देश की मुक्ति के लिये समर्पित थे और इसके लिये समर्पित हुई अज्ञान के भ्रम में पड़ी हुई, बिखरी हुई जनता को एक झण्डे के नीचे बटोर कर साम्राज्यवाद के खात्मे का दृढ़ संकल्प लेकर देश का जो अभूतपूर्व उपकार किया, चिरकाल तक भारतीय जनता, खासकर भारतीय पूँजीपति गांधी जी के ऋणी रहेंगे।

गांधी से प्रेमचंद का परिचय और सहमति-असहमति

गांधी 1914 ई० के अंत में भारत आये किन्तु इसके पहले ही उनके सफल सत्कर्मों की सुकीर्ति भारतीय जनमन में समा गयी थी। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने जिस साहसपूर्ण अधिकार की लड़ाई का नेतृत्व कर विजय प्राप्त किया था, उससे यह माना जाने लगा था कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के लिये गांधी ही कारगर उपाय हो सकते हैं। यह बात प्रेमचंद को भी मालुम थी। 1916 में ही लिखित पुस्तक 'कर्मवीर गांधी' जिसकी भूमिका प्रेमचंद ने लिखी थी, में स्वीकार भी किया है कि महात्मा गांधी के पर्दापण से भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक विचित्र स्फूर्ति और सजीवता का विकास हो गया है।"[14]" कहना होगा कि प्रेमचंद गांधी जी के साहसपूर्ण सिद्धांतों की कामयाबी के प्रति प्रारम्भ से ही विश्वस्त हो रहे थे। 1916 में उनकी लिखी कहानी 'पंचपरमेश्वर' में गांधीवाद का प्रबल समर्थन मिलता है। किन्तु यह अन्ध समर्थन नहीं था बल्कि प्रेमचंद की एक निजी विचारधारा का एक अंग था। प्रेमचंद की सोचने की प्रक्रिया गांधी की राजनीतिक विचार प्रक्रिया से भिन्न नहीं थी। गांधी आगमन से पूर्व ही राष्ट्रीय आगमन को गति प्रदान करने वाली जिन उर्दू कहानियों को और फुटकर निबंधों की रचना प्रेमचंद कर चुके थे उससे साफ जाहिर है कि उनमें देश की स्वतंत्रता पाने की कितनी विराट भावना काम कर रही थी। 'सोजे वतन' (1908) की कहानियों में से 1907 में लिखी गयी कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' है, उसमें स्पष्ट आग्रह है कि देश की स्वतंत्रता के लिए गिरने वाला खून का एक कतरा ही दुनिया का सबसे अनमोल रतन है।" यहाँ यह भी समझना अप्रासंगिक नहीं होना चाहिये कि प्रेमचंद गांधी की गरमदलीय राजनीति की प्रभाव धारा में बह रहे थे जैसा कि उनके मित्र दया नारायण निगम भी स्वीकारते हैं। 1905 से लेकर 1916 तक की उनके द्वारा लिखित जीवनियों और लेखों से भी यह बात एकदम साफ हो जाती है। ओलियर क्रामवेल की जीवनी में वह लिखते हैं–"प्युरिटनों को यदि लड़ाई के मैदान में देखिये तो दृढ़ता, साहस और वीरता की जिन्दा तस्वीर पाइयेगा और अगर हुकूमत के दरबार में देखिये तो समझदारी, दूरंदेशी और सच्चाई का आला नमूना पाइयेगा.... उसने (क्रामवेल) शाही हुकूमत का विरोध क्यों किया ?.... रियाया पर बेजा जुल्मों की भरमार थी, बादशाह चारो तरफ जुल्म ढा रहा था, सिर्फ वही लोग बरी थे, जिन पर बादशाह की विशेष कृपा थी.... कौम के हमदर्द के तबीयत का यही तकाजा होना चाहिये।"[15]" यह जोश उनकी 1908-09 तक की रचनाओं में यथावत् है खैर यह आगे का प्रसंग है जिसे अगले अध्याय में विवेचित किया जायगा।

यहाँ तो सिर्फ यह स्पष्ट करना है कि गांधी जी जिन गरमदलीय और नरमदलीय सिद्धान्तों के मिश्रण से अपना नव सिद्धान्त निर्मित कर भारत में उसका प्रचार कर रहे थे, उन सिद्धान्तों से प्रेमचंद का पहले ही साक्षात्कार हो चुका था। स्वदेशी आंदोलन गांधी का प्रमुख कार्य था। यह कार्य कांग्रेस के कार्यक्रमों का श्रेष्ठ अंग था। गांधी के बहुत पहले 1905 में प्रेमचंद ने 'जमाना' में एक लेख लिखा था–"देशी चीजों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है', 'स्वदेशी आंदोलन' आदि। 1907 से ही वह जमाना में 'रफ्तार–ये–जमाना' लिखा करते थे। प्यारे लाल शाकिर इसका उल्लेख करते हैं। भारत आते ही गांधी जी ने सामाजिक कुरीतियों पर चोट करनी आरम्भ की किन्तु इसकी प्रेरणा उन्हें आर्य समाज से ही मिली थी जिसके प्रभाव में आरम्भ से ही प्रेमचंद अनेक उपन्यास कहानियाँ लिख रहे थे। जो आलोचक सेवासदन में गांधी जी के आश्रमवादी और ह्रदय परिवर्तनवादी सिद्धान्त का प्रभाव देखते हैं वह भूल करते हैं कि प्रेमचंद अपने प्रारम्भिक उर्दू उपन्यासों में इन्हीं सिद्धान्तों की स्थापना कर चुके थे। वास्तव में वह आर्य समाज तथा कांग्रेस आंदोलन का प्रभाव था।

भारतीय राजनीति में गांधी को समझने के लिये कांग्रेसको अलग करके नहीं देखा जा सकता है। अतः गांधी के साथ कांग्रेस की नीतियों को भी समझते चलना प्रेमचंद और गांधी के सम्बन्धों की अच्छी तुलना हो सकेगी।

भारतीय राजनीति में गांधी का पदार्पण 1916 में विधिवत हो चुका था जब वह चम्पारन और खेड़ा का आंदोलन कांग्रेस की सहमति से चला रहे थे। गांधी जी भारतीय राजनीति का नेतृत्व करने के लिये कांग्रेस को ही मंच बनाया था। कांग्रेस उस समय सर्वशक्तिमान संस्था थी और भारतीस जनमत पर अंकुश रखने तथा उसे जागृति प्रदान करने का कार्य बड़ी खूबी के साथ कर रही थी। अतः गांधी के लिये कांग्रेस से अलग रहकर जन–नेतृत्व करने का सवाल ही बेतुका था। गोखले की मृत्यु के बाद कांग्रेस डावांडोल होने लगी थी और गरमदल पूरी तरह से हावी हो रहा था ऐसे में कांग्रेस की पतवार गांधी ही सम्भाल सकते थे। यही कारण था कि 1916 में गांधी कांग्रेस के सर्वसम्मत नेता बन गये थे।

1916 के बाद कांग्रेस तथा गांधी में कुछ अपवादों को छोड़कर कोई अंतर नहीं दिखायी देता। गांधी के पहले अर्थात 1916 के पहले कांग्रेस के कार्यक्रमों तथा उसके प्रभावों की चर्चा यहाँ आवश्यक है क्योंकि इसके बिना प्रेमचंद की विचारधारा को नहीं समझा जा सकेगा।

प्रेमचंद कांग्रेस की बैठकों में भाग लेते थे और उस पर बाद में अपने दोस्तों से बहस भी किया करते थे।

अमृत राय प्रेमचंद द्वारा 'जमाना' में गोखले पर एक लेख (1905 ई० में) लिखने का हवाला देते हैं किन्तु ऐसा लगता है कि यह लेख 1915 ई० या उसके आस–पास का है। क्योंकि इसमें सर्वत्र भूतकाल का प्रयोग है और जो गोखले की सम्पूर्ण जीवनी कही जा सकती है। इसी लेख में वह आगे लिखते हैं–"यद्यपि इतने दिनों के अनुभव के बाद भारतवासियों को यह मालुम हो गया है कि अपने कष्टों की कहानी इंग्लैण्ड वालों को

सुनाना बेकार है और हमारा उद्धार होगा तो अपनी हिम्मत और पुरुषार्थ से होगा पर आपका विश्वास था कि भारत के विषय में ब्रिटिश उपेक्षा का कारण केवल उसका अज्ञान है। उसकी सहज न्यायप्रियता आज भी लुप्त नहीं हुई है। 1906 में गोखले इंग्लैण्ड गये थे। ऐसे भाषणों का क्या असर पड़ सकता था। शासन यंत्र उसी पुराने ढंग पर चलता रहा।"[16]

यह स्पष्ट लगता है कि गोखले पर लिखित यह लेख 1915 या उसके बाद का है किन्तु इससे गोखले की विचारधारा के प्रति कोई झुकाव नहीं लगता क्योंकि इसी समय (1905 ई०) प्रेमचंद कांग्रेस के गरमदल की ओर आकर्षित थे। अतः वह गोखले के प्रशंसक भर हो सकते थे, शिष्य नहीं। दया नारायण निगम ने लिखा है कि ''अहमदाबाद कांग्रेस वह साथ ही देखने गये थे, मुंशी जी गरमदल के तिलक के तरफदार थे।"[17]

यही नहीं अब तक की कहानियों में भी गरमखून का यही उबाल दिख पड़ता है। 1908 में खुदीराम बोस को फांसी होने पर उसका चित्र कमरे में टांगना भी इसी बात का सूचक है। गैरीवाल्डी और मैजिनी पर इसी समय लिखी गयी जीवनियाँ भी क्रांतिकारी उन्मेष की प्रमाण हैं।

अतः यह मानने में थोड़ा भी अविश्वास नहीं होना चाहिये कि प्रेमचंद आरम्भ से ही तिलक समर्थित—गरमदलीय राजनीति के प्रभाव में आ चुके थे किन्तु अपनी मध्यवर्गीय चेतना के फलस्वरूप हिंसा का खुला समर्थन नहीं कर पाते थे। लेकिन इतना स्पष्ट है कि 1908-09 तक वह किसी तरह कांग्रेस की नीति से सहमत नहीं थे और तिलक की ओर झुक रहे थे। अतः अमृत राय का यह कथन कि राजनीति का प्रारम्भिक पाठ प्रेमचंद ने गोखले से पढ़ा हमें ज्यादा विश्वासपूर्ण नहीं लगता है।

वास्तव में यह सत्य है कि वह शुरू से तिलक के सहयात्री थे, अनुयायी थे और देश की जनता का रुख आक्रामक था जिनके बीच वह रहे रहे थे। यह बात अलग है किन्तु ध्यान देने की है कि 'सोजे वतन' के जब्त होने के बाद वह इतना खुला विरोध नहीं कर पा रहे थे। कारण स्पष्ट था कि लेखन ही उनकी रोजी—रोटी थी जिसके बन्द होने की स्थिति वह आने नहीं देना चाहते थे। धनपतराय से प्रेमचंद के रूप में कायाकल्प करने के बाद अपने लेखन को बचाने के लिये वह प्रत्यक्ष विरोधी राजनीति की बजाय अप्रत्यक्ष राजनीति के अनुयायी हो गये थे अर्थात नरमदल के सामाजिक सुधार सिद्धान्त की ओर झुक गये थे। किन्तु यह बात छिपी नहीं है कि उनके आस—पास की रचनाओं (अर्थात 1910 से 1916 तक की) में भी राजनीति का अप्रकट रूप मिलता है जब वह किसी न किसी रूप में स्वतंत्रता व शासन के आदर्श की बात करते हैं तो वह दबी जबान से साम्राज्यशाही से विरोध लगता है।

धनपतराय का प्रेमचंद में कायाकल्प होने के बाद साहित्यिक अभिव्यक्ति में जो बदलाव आया था और उस बदलाव के तहत उन्हें 'अप्रत्यक्ष विरोध' काजो कामयाब सूत्र बिला था उसके माध्यम से उन्होंने अनवरत अपनी साम्राज्यवाद विरोधी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। सन् 1911-12 में मित्र दयानारायण निगम के पत्र 'जमाना' की निन्दा करते हुये उन्होंने लिखा—''मतलब यह कि जमाना अपटूडेट पोलटिकल पेपर हो....

अखबार का नमूना कामरेड ही हो पालिसी हिन्दू। अब मेरा हिन्दुस्तानी कौम पर एत्तहाद नहीं रहा और उसकी कोशिशें फिजूल हैं।"[18]"

यह स्पष्ट हो जाता है कि 1910 ई० के पहले के लेखन (उर्दू–लेखन, सोजे वतन) में और उसके बाद के लेखन में एक अविभाज्य समता है। फर्क सिर्फ इतना है कि तब उनकी कहानियाँ प्रत्यक्ष विरोध व्यक्त करती थीं और अब (1910 के बाद) अप्रत्यक्ष विरोध।

कांग्रेस देश की एक सजग राष्ट्रीय संस्था थी। अन्य प्रगतिशील राष्ट्र सेवियों की भांति प्रेमचंद भी आरम्भ से इसकी ओर आकर्षित हुये थे। इस जागृति के प्रति वह सचेत थे और विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लेख लिख रहे थे। 1905 ई० के जून अंक में जमाना में एक लेख लिखा–"देशी चीजों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है।" इस लेख में कांग्रेस की कामयाबियों की चर्चा की।"[19]"

इसी वर्ष जमाना में एक रिव्यू भी 'आइने अकबरी' पर लिखा–'इण्डियन नेशनल कांग्रेस अकेला ऐसा जरिया है जो तमाम हिन्दुस्तानियों का हाल इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट तक कुबूलियत के लिए पहुँचाता है.... वक्त आ गया है कि मुल्क के तमाम बेटे एक होकर एक आवाज से अपने दुःख दर्द की मुहर लगाएँ.... कांग्रेस ने तहजीब याफ्ता दुनिया की नजर में एक एतबार हासिल कर लिया है।"[20]"

स्पष्ट हो जाता है कि 1905 में जब कांग्रेस शैशावस्था में थी, प्रेमचंद कितने न्यायपूर्ण शब्दों में उसकी झमताओं की दलील पेश कर रहे थे और कांग्रेस में साम्प्रदायिकता की गंध देखने वाले लोगों को कड़ी फटकार बताते हुये उन्हें कांग्रेस की सफलताओं और व्यापकता का दृढ़ विश्वास दिला रहे थे। यह भी द्रष्टव्य है कि ऐसी कांग्रेस को वह राष्ट्रीय संस्था मानते थे। निगम को 2 जनवरी 1917 को लिखा–"आप भी तो कांग्रेस में मशरूफ रहे होंगे।"[21]" अनेक पत्रों में कांग्रेस की हलचलों पर टिप्पणी कर रहे थे।"[22]"

उन्हें विश्वास था कि राजनीति को छोड़कर साहित्य अर्थहीन हो जाता है। इसीलिए जून 1914 में निगम को लिखा–"जंग की धुन में शायद ही किसी को किस्से कहानी का शौक हो।"[23]"

1916 के पहले अर्थात भारतीय राजनीति में गांधी के पर्दापण के पहले कांग्रेस का राष्ट्रीयता और भारतीय राजनीति के रफ्तार के प्रति प्रेमचंद की सजगता कितनी स्पष्ट है। प्रेमचंद का झुकाव कांग्रेस के गरमदल की ओर था। ऊपर तमाम उदाहरण देने के पीछे मेरा यही मतलब है।

प्रेमचंद प्रगतिशील लेखक थे। देश की आजादी की लड़ाई की धारा को पहचानते थे। अतः यह मानना भ्रामक है कि गांधी से ही प्रेरणा लेकर प्रेमचंद ने राष्ट्रीयजन मुक्ति की परिकल्पना की और साहित्य सृजन किया। क्योंकि गांधी और प्रेमचंद दोनों विचारकों के प्रेरणास्रोत एक थे और प्रेमचंद गांधी से प्रभावित न होकर तोल्सतोय ये प्रभावित थे। इसी आधार पर प्रेमचंद और गांधी का सम्बन्ध गुरू–शिष्य का न होकर गुरूभाई का था। अमृतराय ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।"[24]" शिवकुमार मिश्र ने भी इस बात को अधिक स्पष्ट किया है। अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद

विरासत का सवाल' में वह लिखते हैं—''प्रेमचंद प्रारम्भ से ही इस तथ्य को लेकर आश्वस्त थे कि भारत की मुक्ति अर्थ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों स्तरों पर उसकी एक साथ मुक्ति से है। वे गांधी के पहले ही उनके कहे जाने वाले कार्यों को अपने सिद्धान्त का अंग बना चुके थे।.... गांधी सन् 1920-21 के सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान ही उभरे और स्वीकृत हुये। प्रारम्भिक दौर में उनकी सहानुभूति गरमदल के साथ थी। इस दौर की रचनाओं में जो आदर्शवाद और सुधारवाद दिखायी देता है उसका सम्बन्ध भी गांधी जी से न होकर उनकी सुधारवादी समस्याओं से ही है जो उन्हें विकासवादी विचारों से मिली थी जिनके प्रति अपने समय के तमाम मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की भांति वे भी आकर्षित थे। जिस दौर में गांधी तोल्सतोप, थारों और इमर्सन जैसे मानववादी विचारकों से प्रभावित थे और तोल्सतोप का गुजराती भाषा में अनुवाद कर रहे थे। समग्र प्रेरणास्रोत के आधार पर यदि प्रेमचंद को एक प्रकार से गांधी का गुरूभाई भी कहा जाय तो गलत नहीं होगा।''[25]

बार—बार यही बात मैंने भी उठायी है कि प्रेमचंद गांधी के प्रभाव में अपनी सैद्धान्तिक पक्षधरता के निमित्त ही जुड़े थे। यद्यपि शिवकुमार मिश्र व अमृत राय प्रेमचंद को गांधी के प्रभाव में आने की बात 1920 के बाद से करते हैं लेकिन मुझे यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। 1916 ई० के बाद गांधी की सत्ता स्वीकार करते हुये प्रेमचंद ने 'कर्मवीर गांधी' की जो भूमिका लिखी थी उससे उनके गांधी के वैचारिक सम्पर्क में आने से इंकार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त इस समय की उनकी कहानियाँ जो 1915 से 1920 ई० के मध्य लिखी गयी हैं, उनकी गांधी के प्रभाव में आने की गवाही देती हैं। ये कहानियों हैं—''पंचपरमेश्वर', 'ईश्वरीय न्याय', 'कर्मों का फल', 'घमण्ड का पुतला', 'नमक का दरोगा', 'पाप का अग्निकुण्ड', 'बलिदान', 'वफा का खंजर' आदि। यद्यपि गांधीवादी प्रभाव अभी क्षीण था और आर्य समाज का प्रभाव प्रचुर था।

यह बात नहीं कि ऐसी भावभूमि वाली कहानियाँ (नैतिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक) उन्होंने 1916 के पहले नहीं लिखी बल्कि 1916 के पहले और बाद भी ऐसी भावभूमि की कहानियाँ लिखी गयी हैं। इस आधार पर प्रेमचंद की मानसिक बनावट को परम्परित प्रभाव के अन्तर्गत मानकर चलने में कोई कठिनाई होगी क्योंकि 1920 में सविनय अवज्ञा आंदोलन के सिलसिले में गांधी की लोकप्रियता के प्रति प्रेमचंद के अकस्मात् आकर्षित होने की दलील न्यायोचित नहीं है। प्रेमचंद 1920 में गांधी जी के राजनैतिक क्रियाकलापों के प्रति अधिक आकर्षित हुए और आदर्शवादी कहानियाँ लिखीं इसके पीछे प्रेमचंद की उस प्रारम्भिक परिपक्व होती मानविकता के प्रति ही विश्वास करना होगा। निश्चय ही 1916 से धीरे—धीरे गांधी के सिद्धान्तों से परिचित होते हुये प्रेमचंद अकस्मात् ही गांधी भक्त नहीं बन गये क्योंकि गांधी के भीतर दिखने वाली अच्छाइयों से प्रेमचंद पहले से ही परिचित और विश्वस्त हो चुके थे, उनकी अर्थात् गांधी के आगमन के पहले ही राजनीतिक जागृति, कांग्रेस के कार्यक्रमों और स्वदेशी आंदोलन, तिलक व गोखले की नीतियों तथा आर्य समाज की सामाजिक राजनैतिक गतिविधियों, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसायटी के वैचारिक साम्य के प्रति प्रेमचंद सहज ही अपनी मध्यवर्गीय

चेतना के तहत जुड़ चुके थे और उससे जिस सिद्धान्त का निर्माण कर रहे थे वह भारतीय संस्कृति के अनुरूप था जिसे भारत आने पर गांधी ने भी प्रयुक्त किया।"[25]" फरवरी 1920 को प्रेमाश्रम लिखकर तैयार हो गया जो गांधीवादी विचारधारा का प्रतिनिधत्व करता है। प्रेमशंकर अमेरिका से लौटते हैं और इसी बीच कुछ दिन पहले गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से लौटकर भारत आये थे। अतः सिद्ध हो जाता है कि 1920 के पहले ही प्रेमचंद गांधीवादी प्रभाव में आ चुके थे। क्योंकि प्रेमाश्रम 1918 से लिखा जाने लगा था। और प्रेमशंकर गांधी के प्रतिरूप चरित्र हैं। तात्पर्य यह कि गांधी के आदर्शवादी मानवतावादी सिद्धान्त मूल रूप में भारतीय चिंतन परम्परा में विद्यमान थे जिससे प्रेमचंद बहुत पहले परिचित हो चुके थे।

10 मार्च 1920 को गांधी जी ने 'असहयोग' की बात कही और जिस योजना का सूत्रपात किया, समूचा देश उधर झुक गया। यह समय गांधी जी के प्रति भारतीय जनता के सम्मोहन का समय था। प्रेमचंद भी उधर आकर्षित हुये बिना नहीं रह सके। किंतु यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि 1920 में ही प्रेमचंद गांधी जी के 'जादुई प्रभाव' में आये। गांधी जी के आह्वान पर जब समूचे देश में वकील, डाक्टर, सरकारी कर्मचारी नौकरियों से त्यागपत्र देकर असहयोग में भाग लेने चले आ रहे थे, प्रेमचंद ने पत्नी से परामर्श करके अपनी बीस साल पुरानी नौकरी छोड़ और मित्र दयानाराया निगम को 15 फरवरी 1921 के पत्र में लिखा–"मैं कल सरकारी मुलाजमत से सुबुकदोश हो गया। आज इस्तीफा भी मंजूर हो गया।"[26]" यही से प्रेमचंद गांधी के असहयोग आंदोलन के मुक्त कंठ प्रशंसक हो गये। और फिर कांग्रेस की बैठक में नियमित भाग लेना, चर्खा और सूत का प्रचार करना, स्वयं खद्दर पहनना, पत्नी को पिकेटिंग करने के लिये भेजना और जेल भेजना आदि कार्यक्रम आरम्भ करते हैं। 1920 ई० से लेकर 1933 ई० तक का प्रेमचंद का साहित्यिक और वैचारिक दृष्टिकोण गांधीवादी प्रभाव के तहत दिखायी देता है। इस प्रभाव धारा का कारण, गांधी जी ही नहीं थे बल्कि प्रेमचंद की अपनी विचार प्रक्रिया और पूर्व निर्धारित आदर्श सिद्धान्त भी था जिसकी ओर वह प्रारम्भ से ही झुक रहे थे। इस तथ्य को मैं बार–बार उठा रहा हूँ किन्तु यहाँ गांधीवादी प्रभाव प्रेमचंद पर बहुत तेजी से पड़ रहा था और सरकारी नौकरी के त्याग के पश्चात् प्रेमचंद एक तरह से गांधी के असहयोग आंदोलन का समर्थन भी कर रहे थे। सजग शब्द मैं इसलिये प्रयुक्त कर रहा हूँ कि प्रेमचंद सिर्फ गांधी की वैचारिक दृष्टि ग्रहण कर ही, उनके निर्देशानुसार असहयोगी नहीं बने थे बल्कि अपनी तर्क प्रणाली पर बार–बार उसे तौल रहे थे और अपनी टिप्पणी दे रहे थे। 1921 में उन्होंने चर्खा का कारखाना खोला था लेकिन इसके पीछे मात्र असहयोग की भावना नहीं थी बल्कि नौकरी विहीन हो जाने के बाद अर्थार्जन की भी कामना थी, जैसा कि मित्र दयानारायण निगम को लिखे गये अपने 23 फरवरी 1921 के पत्र में स्पष्ट किया है–"मैंने फिलहाल एक कपड़े का कारखाना खोल रखा है जिसमें आठ करघे चल रहे हैं। कुछ चर्खे वगैरह भी बनवाये जा रहे। जो उससे मुझे माहवार कुछ न कुछ मुनाफा जरूर होगा। बावजूद नान कोआपरेशन करने के अभी तक मैं दौलत की तरफ से बिल्कुल मुस्तगनी (विरक्त) नहीं हूँ।"[27]"

उनका असहयोग इस कदर परिपक्व हो रहा था कि अपने मित्र दयानारायण निगम के घर दावत भी उसी कारण नहीं जा सके और उन्हें 31 मई 1922 को लिखा–"मेरी बदनसीबी थी कि इस लुत्फ में शरीक न हो सका। एतराज सिर्फ एक है आप ने अंग्रेज हुक्काम की दावत नाहक की। क्या आपने अभी शोहरत गंज, खलीलाबाद, लखीमपुर वगैरह के वाकये नहीं देखे, ऐसी हालत में अब हमनवाई (मेलजोल) बेमौका है। ख्वाह इससे अपना जाती नफा क्यों न हो।"[28] तात्पर्य यह कि उनका असहयोग हवाई नहीं था उसके मूल में गहरा जीवन दर्शन और सामाजिक अपेक्षाओं का यथार्थ आग्रह विद्यमान था।

यद्यपि अंग्रेज हुक्कामों के प्रति रोषपूर्ण भाव प्रेमचंद आरम्भ से ही व्यक्त कर रहे थे और कई बार अंग्रेज हुक्कामों को सरेआम अपमानित भी कर चुके थे किन्तु यहाँ उनका यह रोष गांधी के कारण अधिक संगत लग रहा है। यहाँ एक बात द्रष्टव्य है कि गांधी असहयोगी होते हुए भी अंग्रेज सरकार से बराबर परामर्श करते चल रहे थे। वे पाप से घृणा करते थे पापी से नहीं, यहाँ तक कि वे अंग्रेजों को दुर्वचन कहने, अपमानित करने तक को हिंसा कहते थे और असहयोगी के लिए इसे कलंक बताते थे। किन्तु प्रेमचंद की इस मुद्दे पर गांधी से सहमति नहीं थी। स्कूल में खेलते समय एक बार वह अंग्रेज को मार बैठे थे और यहाँ अंग्रेज हुक्काम की दावत देना भी उन्हें नागवार और बेमौका लग रहा है। 1905 में क्रामवेल की जीवनी में प्रेमचंद ने लिखा–"उसने शाही हुकूमत का विरोध क्यों किया ?.... कौम के हर हमदर्द की तबियत का यही तकाजा होना चाहिये।"[29] यहाँ प्रेमचंद की विचारधारा गांधी विचारधारा के लचीलेपन का विरोध करती है। माना जा सकता हैं कि गांधी से जुड़ने के बाद भी, उनके जादुई प्रभाव में, आने पर भी, प्रेमचंद गांधी का अन्ध समर्थन नहीं करते, इसीलिए मैंने 'सजग समर्थन' शब्द प्रयुक्त किया।

एक बात और, जो इससे भी महत्वपूर्ण है। असहयोगी होते हुये भी प्रेमचंद अन्य कांग्रेसी नेताओं की भांति धनोपार्जन से मुख मोड़ना नहीं चाहते थे। वह जानते थे कि बड़े–बड़े डाक्टर जो नौकरी त्याग कर असहयोगी हुये हैं, धनी हैं और कुछ दिन तक बिना धनोपार्जन के भी जी सकते हैं किन्तु प्रेमचंद जैसे किसान वृत्ति वाले गरीब व्यक्ति के लिये असहयोगी बन कर दौलत की ओर से आंख बन्द करना असम्भव है। उनके समक्ष परिवार पालन की चिंता थी। यही कारण था कि उनकी व्यापार बुद्धि चर्खे, तथा कपड़े के कारखाने से मुनाफा कमाने की थी। यह भी उनकी सजगता का प्रमाण है। नौकरी छोड़ने के पहले ही 1919 में यह बात उन्होंने स्पष्ट कर दी थी कि आजादी की लड़ाई में जो हानि उठानी पड़ रही है उसे ज्यादा दिन तक नहीं उठाया जा सकता। 24 अप्रैल 1919 के पत्र में निगम जी को लिखा–"मैं कुर्बानी को अपनी जात तक रखना चाहता हूँ। अयाल को इस चक्की में पीसना नहीं चाहता। फिलहाल मेरी रोटियाँ मिल जाती हैं। मैं लिटरेरी काम को थोड़ी कुर्बानी नहीं समझता.... मैं अपने पसंदमान के लिए दस साल में शायद चार–पांच हजार रुपये छोड़ जाऊँ।"[30]

प्रेमचंद की यह व्यापार बुद्धि पूर्ण सजग थी इसलिए असहयोग के काल में भी,

"परिवार के धनी होने और पैसा पैदा करने" की चिंता भी बलवती है। 8 जुलाई 1924 को निगम को लिखा–"क्या लड़कों को कानून पढ़ाइयेगा। और रास्ता ही कौन सा है या मुलाजमत या कानून। मैंने तो सोचा है कि अपने लड़के को थोड़ा सा पढ़ाकर कारोबार में लगा दूँ, अक्ल होगी तो यहाँ भी दौलत पैदा कर लेगा।"[31]

असहयोगी होकर धनी मानी लोग रह सकते हैं मगर मध्यवर्ग का व्यक्ति जी नहीं सकता। प्रेमचंद ने असहयोग शुरू होते ही यह आशंका व्यक्त की। 29 अक्टूबर 1920 को इम्तियाज अली ताज को उन्होंने लिखा–"नान कोआपरेशन ने तो लाहौर का कचूमर निकाल दिया। देखिए ऊँट किस करवट बैठता है।"[32]

1921 का वर्ष असहयोग आंदोलन का कामयाब वर्ष था। महात्मा गांधी की आज्ञा से 'असहयोग माला' इन्हीं दिनों महावीर प्रसाद पोद्दार ने 'हिन्दी पुस्तक एजेन्सी' से प्रकाशित की। इसके बारे में अमृत राय ने लिखा है–"प्रेमचंद की तीन कहानियाँ भी इन्हीं दिनों इस असहयोग माला में प्रकाशित हुई–पंच परमेश्वर, लालफीता और लाग–डाट। 'स्वराज्य के फायदे' के नाम से मुंशी जी ने एक पैम्फलेट इस पुस्तक माला के लिए अलग से लिखा।"[33]

इस लम्बे लेख में प्रेमचंद ने स्वराज्य के विषय में पूरी जानकारी प्रस्तुत की है कि स्वावलम्बन स्वराज्य का साधन है। यह कार्य चर्खा और स्वदेशी वस्त्र निर्माण से सम्भव है। दूसरे साधन की चर्चा करते हुये प्रेमचंद लिखते हैं–"उन व्यवस्थाओं का त्याग करना है जो हमारी आत्मा को दबाती हैं और उसे पराधीन परावलम्बी बनाती हैं। अदालतें, सरकारी नौकरियाँ, सरकारी शिक्षा आदि। वकीलों की उपयोगिता अदालतों पर ही निर्भर है। अंग्रेजी राज्य के पहले यहाँ वकालत का नाम भी नहीं था वह सभी असहयोग के अंतर्गत आ जाते हैं।"[34]

कितनी अन्तर्विरोध भरी मानसिकता लिए हुये वैचारिक भूमि पर भटक रहे हैं प्रेमचंद। एक ओर मित्र दयानारायण निगम को निर्देश दे रहे हैं कि लड़कों को कानून पढ़ाओ, इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं और दूसरी ओर अदालत बहिष्कार की बात कह कर वकालत पेशा की निंदा भी कर रहे हैं। यह अन्तर्विरोध की उनकी वैचारिक भाव–भूमि और वैयक्तिक जीवनयापन के दृष्टिकोण के मध्य एक अस्पष्ट विभाजक रेखा कही जा सकती है। क्योंकि हृदय से वह पैसा पैदा करने की नीति का समर्थन करते हुये वकालत पेशा को ठीक समझते हैं पर प्रत्यक्ष रूप में गांधी की प्रभावधारा में बहते हुये सजग समर्थन के तहत उसका विरोध भी। वह लिखते हैं–"अत्याचारी शासन की मदद करना अत्याचार करने से कम पाप नहीं है। केवल असहयोग हमको स्वराज्य पद पर नहीं पहुँचा सकता। असहयोग तो केवल बाह्य साधन है। आंतरिक साधना आत्मा की पवित्रता है।"[35]

'आत्मा की पवित्रता' से प्रेमचंद का संकेत गांधीवादी दर्शन से है जिसके तहत 'हृदय परिवर्तन' किया जाता है।

इस लेख में प्रेमचंद ने गांधी जी के सिद्धान्तों का खुला समर्थन किया है 'स्वराज्य से सबसे बड़ा फायदा भारतीय जीवन का पुनरुद्धार है। भारत का प्रधान गुण धर्म

परायणता है। स्वराज्य पाकर हम अपनी आत्मा पा जायेंगे। वर्ण व्यवस्था और आश्रम धर्म का फिर राज होगा। दूसरा बड़ा उपकार हमारी आर्थिक सुदशा है।.... शिल्प और उद्योग यहाँ सदा कृषि के नीचे ही रहेगा। अतएव हम अपने यहाँ बड़े–बड़े कारखाने कायम नहीं कर सकते क्योंकि इससे मजदूर लोग शहर में बसने लगते हैं और नाना प्रकार की आदतों में पड़कर अपनी शरीर और आत्मा दोनों का सर्वनाश करते हैं।.... हम अन्य देशों से ज्ञान–विज्ञान सीखना चाहते हैं पर व्यावसायिक पराधीनता स्वीकार कर नहीं। मादक वस्तुओं का त्याग करना स्वराज्य प्राप्ति का उपाय है। हमारे देश में कांग्रेस ही वह संस्था है जो स्वराज्य सम्बन्धी बातों का प्रचार करती है। महात्मा गांधी उस सभा के मुखिया हैं।"[36]" लेकिन सफलता की जो कुंजी है उसकी ओर प्रेमचंद का ध्यान पहले पहल जाता है और वह 1905 ई० के ही एक लेख 'स्वदेशी आंदोलन' में लिखते हैं "विदेशी चीजों का रिवाज सभ्य लोगों का डाला हुआ है और अगर स्वदेशी आंदोलन सफल होगी तो उन्हीं के लिए होगी।"[37]" बिना सभ्य लोगों के चाहे स्वदेशी आंदोलन सफल नहीं होगा। वही पूँजीपति है, दुकानदार है, फैशनपरस्त और पश्चिमी सभ्यता का अभ्यस्त है। यही बात गांधी 1920 ई० के बाद कहते हैं। अतः गांधी से पहले यही बात कहने वाले प्रेमचंद की विचारधारा गांधी से नहीं, दूसरे स्रोतों से निर्मित हुई थी। गांधी द्वारा राजनीतिक प्रयोग करने के पश्चात् प्रेमचंद की पूर्व निश्चित विचारधारा उससे समर्थित, पुष्ट और अधिक विश्वस्त हो जाती है।

गांधी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन चल रहा था। प्रेमचंद तन–मन से उनके साथ थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि देश की मुक्ति गांधी के नेतृत्व में ही सम्भव है। दयानारायण को 14 अगस्त 1923 को लिखा–"यहाँ कांग्रेस हो रही है" फिर 23 अप्रैल 1930 को लिखा–"....और आखिर में रोजाना घण्टा दो घण्टा कांग्रेस के कामों में मशरूफ रहना मेरे लिए काफी से ज्यादा है।"[38]" वह कांग्रेस के कार्यक्रमों पर गांधी जी के निर्देशानुसार इस कदर व्यस्त थे कि कांग्रेस व गांधी की बुराई सुनना पसन्द नहीं करते थे। भगत सिंह को फांसी हुई और प्रेमचंद कराची कांग्रेस सम्मेलन में तैयार होकर भी न जा सके। बड़े कष्ट में पड़कर 24 मार्च 1931 को एक पत्र दयानारायण निगम को लिखा–"कराची का इरादा था, मगर भगत सिंह की फांसी ने हिम्मत तोड़ दी। अब किस उम्मीद पर जाऊँ। वहाँ गांधी का मजाक उड़ेगा। कांग्रेस गैर जिम्मेदार शोरिस पसन्द उपद्रवी तबके के हाथ में आ जायेगी और हम लोगों के लिए उसमें जगह नहीं है.... तीन आदमियों की सजा में तब्दीली करके गर्वनमेण्ट कितना अच्छा असर पैदा कर सकती थी पर उसके तर्जे अमल ने साबित कर दिया कि तालीके कल्ब (हृदय परिवर्तन) उसने अभी तक नहीं किया।"[39]"

कितना स्पष्ट रुझान है कांग्रेस और गांधी के प्रति। यह आशंका गहराती जा रही है कि कांग्रेस उग्रवादियों की संस्था हो जाने वाली है और उसमें गांधी के अनुयायी अहिंसावादी प्रेमचंद जैसे तमाम लोग नहीं रह सकेंगे। लेकिन यही हमें ध्यान देना होगा कि प्रेमचंद का हृदय परिवर्तन के प्रति विश्वास डिग रहा है। इतने दिनों के आंदोलन के बावजूद ब्रिटिश हुकूमत ने हृदय परिवर्तन नहीं किया। गांधी का सिद्धान्त अब बर्दाश्त

के बाहर है तभी तो उग्रवादी कांग्रेस पर हावी हो रहे हैं। यहाँ गांधी और कांग्रेस के साथ अरसे से जुड़े रहने के मोह के फलस्वरूप उस पर कुठाराघात होता देख पीड़ा अवश्य हो रही है, पर यह विश्वास भी गहराई पाता जा रहा है कि हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त बेकार की चीज है। इससे कामयाबी मिलने वाली नहीं है। यह विश्वास जाहिर करते हुये जैनेन्द्र उसी साल 23 मार्च 1931 में प्रेमचंद को पत्र लिखते हैं–"यहाँ कांग्रेस कराची में चहल–पहल है। नौजवानों ने मौका देखा है, उठ रहे हैं और गांधी जी को बैठा देना चाहते हैं। यह जानते नहीं कि गांधी मरकर ही बैठेगा। पढ़े लिखे अहम्मन्य नौजवानों की बात थोड़ी बहुत तमाशा अवश्य दिखायेगी।"[40]

इस बात से प्रेमचंद भी आश्वस्त हो गये थे। दयानारायण निगम को 4 जुलाई 1931 को पत्र लिखा–"जवाहरलाल नेहरू कितना जहर उगल रहे हैं। इन्कलाब की तैयारी है।"[41]

वह अब तक आंदोलन में कूद पड़ते पर लाचारी थी यह काम उनकी पत्नी ने अपने सिर ले लिया था। 25 नवम्बर 1930 ई० को जैनेन्द्र को लिखा–"मेरी पत्नी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गयीं। इधर पन्द्रह दिन से इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया।"[42]

1930-31 का यह समय गांधीवादी रुझान में पलते रहने का था पर यहाँ से उनके विश्वास में दरार दिखायी पड़ने लगती है और वह दबी जबान से गांधी व कांग्रेस के सिद्धान्तों पर शंका करने लगते हैं। खैर यह गांधी से असहमति के उभरते हुये लक्षण हैं, गांधी के जादुई मोहपाश से कसमसाते हुये अलग होने के लक्षण हैं और ऐसे बिन्दु हैं जहाँ यह लगने लगता है कि प्रेमचंद की विचारधारा उनके अनुभवों से कितनी साफ होती रहती है और कोई भी जादू उन पर पूरी तरह अधिक समय तक चल नहीं सकता। देश की राजनीति की नित्यप्रति का लेखा–जोखा रखते हुये उनके अनुभवों की वास्तविकता उनके जादुई मोहपाश को हरदम ढीली करती रहती थी।

लिखा जा चुका है कि 1921-22 का काल गांधी विचारधारा में बहने का काल है और प्रेमचंद उसी विचारधारा में बह रहे थे। लेकिन विचार से अर्थ हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त पर विश्वास करने से है। इस काल में *प्रेमाश्रम, कायाकल्प, गबन, रंगभूमि, कर्मभूमि* उपन्यास और अनेक कहानियाँ (इस सिद्धान्त पर आधारित) हैं। *कर्वला* और *संग्राम* नाटक भी इसी के फल हैं। निजी पत्रों, लेखों, सम्पादकीय टिप्पणियों आदि में यही बात बार–बार जोर देकर कह रहे थे कि गांधी का रास्ता मुक्ति का रास्ता है। गांधी का जीवन दर्शन, सत्याग्रही का जीवन दर्शन है और सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा सविनय अवज्ञा में वह शक्ति है कि बड़े–बड़े अत्याचारी झुक जायेंगे, उनका हृदय पवित्र हो जायगा। लेकिन इतने विश्वास पर भी उन्हें गांधी के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति नहीं मिल रहा है जो गांधी बन सके। इस आंदोलन को कामयाबी न मिलने के पीछे कई कारणों पर प्रेमचंद दृष्टिपात करते हैं। जब तक उन कारणों को दूर नहीं किया जाता, आंदोलन बेकार है। 'वर्तमान आंदोलन के रास्ते में रुकावटें' नामक लेख में उन्होंने लिखा कि एक

कारण आर्थिक है–''असहयोग आन्दोलन। यहाँ तो रुपये में आना–दो आना कामयाबी हो जाय वही बहुत है। खासकर हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश में जहाँ सारा मामला आखिरकार रोटी पर आकर रुक जाता है।"[43]"

दूसरी रुकावट वर्ग संघर्ष की है। वह स्वार्थों का टकराव है जिसके एक तरफ जमींदार और पूँजीपति है और दूरसरी तरफ किसान और मजदूर कांग्रेस के पहले भी मध्यवर्ग का आंदोलन थी जिसमें जमींदार और पूँजीपति यहाँ वहाँ इक्का–दुक्का थे। अधिकांश संख्या वकीलों, प्रोफेसरों और पत्रकारों की थी जो न पूँजीपति है न जमींदार। जगह–जगह किसान सभाएँ और मजदूर सभाएँ कायम हो गई हैं और उनमें काम करने वाले अक्सर अंग्रेजों के ही कार्यकर्ता हैं। कितने ही बड़े–बड़े मिलों के मालिक, कितने ही बड़े–बड़े पूँजीपतियों और जमींदारों का रवैया यह होना चाहिये कि हथियार डाल दें। मजदूर और किसान एक होकर जो चाहे कर सकते हैं। उनका हित कांग्रेस का विरोध करने में नहीं है, बल्कि उसका साथ देने में है। बहरहाल इन वर्गों से कांग्रेस को विरोध ा की बहुत अधिक आशंका है और स्वराज्य के आंदोलन में उनका बाधक होना तय बात है।"[44]" यहाँ प्रेमचंद की दृष्टि बिलकुल साफ है किन्तु कदाचित वह गांधीवादी विचारधारा को समझने में भूल कर रहे हैं। या जानबूझकर उसे प्रकट नहीं कर रहे हैं। पूँजीपतियों जमींदारों द्वारा 'हमदर्दी' दिखाने के कारण किसान–मजदूर पार्टी प्रगति करने के बजाय जड़ होती जा रही है जैसा कि गांधी जी हृदय से चाहते। किन्तु क्या प्रेमचंद को यह विश्वास है कि कतिपय पूँजीपति और जमींदार भयवश किसानों–मजदूरों का समर्थन कर रहे हैं। और किसानों–मजदूरों की एकता और आंदोलन से पूँजीपतियों का हृदय–परिवर्तन होना शुरू हो गया है ? क्योंकि कांग्रेस जो अब मजदूरों, किसानों की संस्था बन गयी है, पूँजीपतियों का विरोध कर रही है ? क्या पूँजीपति और जमींदार वर्ग झुक रहा है, क्या वह कांग्रेस का विरोध करेगा ? यह ऐसी कुछ बातें है जो भ्रम में डालने वाली हैं। तमाम बुद्धिजीवियों के साथ शायद प्रेमचंद को भी यह भ्रम हो रहा था और वह गांधी जी के व्यावहारिक कार्यक्रमों के भुलावे में आकर उनके वास्तविक मुद्दे से अछूते रह गये हैं। क्योंकि कांग्रेस को गांधी जी ने सिद्धान्त प्रचार का माध्यम चुना था वह पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में थी। वह किसानों–मजदूरों की उन्हीं मांगों को लेकर आंदोलन चला रही थी जिनसे उनकी जातीय क्षति न हो। 'करबन्दी आंदोलन' से जमींदार वर्ग नहीं सरकार की हानि थी और किसान इस भ्रम में रहे कि भयवश या दयावश जमींदार शोषण के प्रमुख बिन्दु 'करबन्दी' को आंदोलन का रूप देकर उनका हित कर रहे हैं यही गांधीवादी तरीका था जिसे प्रेमचंद अब तक नहीं समझ सके और इतने बड़े भ्रम के शिकार थे कि उन्हें शीघ्र ही भारत में रूसी मजदूर–किसान राज की तरह का चित्र नजर आ रहा था और वह गांधीवादी सिद्धान्त में समाजवाद की कल्पना को साकार देख रहे थे। उनका गांधी और कांग्रेस से इस विषय में सहमति का कदाचित् यही कारण है। लेकिन कुछ दिन बाद यह भ्रम टूटता है अवश्य जब आवेश पर अनुभव हावी होता है। 1924 में 'जमाना' में एक लेख लिखकर साम्प्रदायिकता पर कसकर चोट किया। हिन्दू–मुसलमान दोनों दंगे के दोषी हैं। गांधी के लिये यह धर्म का प्रश्न है, प्रेमचंद के

लिए तर्क और समझौते का प्रश्न, लेकिन इसी मुद्दे पर प्रेमचंद और गांधी अलग–अलग दर्शन अपनाते नजर आते हैं। जैसा कि जाहिर है कि गांधी जी हिन्दू–मुसलमान के प्रश्न को सामाजिक स्तर पर उतना महत्व नहीं देते जितना राजनीतिक स्तर पर, वह शुद्ध सात्विक वैदिक हिन्दू थे किन्तु प्रेमचंद की हिन्दूवादिता वैदिक आधार पर नहीं, अपनी तर्क प्रणाली पर आधारित थी। इसी कारण मुसलमानों का समर्थन करते हुये भी गांधी गोहत्या के प्रबल विरोधी थे, इससे हिन्दू धर्म पर आघात लगता था और प्रेमचंद हिन्दू होते हुये भी, मुसलमान समर्थक होते हुये भी, गोहत्या को महत्व नहीं देते थे, उसे धार्मिक प्रश्न नहीं मानते थे। उनका तर्क था–''हमको अख्तियार है कि जिस जानवर को चाहे पवित्र समझें लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को मानने वाले भी उसे वैसा ही समझें खामख्वाह दीवारों से सर टकराना है। गाय सारी दुनिया में खायी जाती है इसके लिए आप क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के काबिल समझेंगे।''

गांधी इस स्तर तक नहीं पहुँच सके क्योंकि ये सारी बातें धार्मिक पाखण्ड की विरोधी हैं। गांधी के इसी धार्मिक आग्रह के मिथ्या आवेश से प्रेमचंद असहमत थे। इसीलिए राजनैतिक मुद्दों पर बहुत कुछ सहमत होते हुए भी गांधी के सामाजिक सोच से भिन्न प्रेमचंद का सोच उनके अपने तार्किक सिद्धान्त पर आधारित था। अतः यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद गांधी जी से एक साथ असहमत भी हैं और सहमत भी। सहमत हैं राजनीतिक मुक्ति के लिए किये जाने वाले गांधीवादी सिद्धान्तों से, और असहमत हैं गांधी की उन फिजूल लगने वाली बातों से जिसे वे धार्मिकता का रंग देते हैं। वह सहमत गांधी सिद्धान्त के उस छलावे से हैं जहाँ वह गांधी को किसान मजदूरों का सच्चा हमदर्द समझते हैं और बड़े सन्तोष व विश्वास से समर्थन करते हैं–''महात्मा गांधी ने स्पष्ट कह दिया कि हम पद के लिये, अधिकार के लिये, स्वराज्य नहीं चाहते, हम स्वराज्य चाहते उन गूँगे बेजुबान आदमियों के लिये जो दिन–दिन दरिद्र होते जा रहे हैं। आज सभी अंग्रेज अफसरों की जगह हिन्दुस्तानी रख दिये जायँ तो उनकी हालत में कोई सुधार नहीं होगा।"45" लेकिन यहीं सहमति का सवाल खड़ा हो जाता है। गांधी कहने के बावजूद भी हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से, लड़ाई नहीं लड़ते सिर्फ लड़ते रहने का भ्रम पाले रहते हैं और प्रेमचंद की पहली लड़ाई अपने ही देश के सत्ताधारियों–पूँजीपतियों जमींदारों से है। प्रेमचंद की यह शंका बिल्कुल सत्य है–''हमें ऐसे लक्षण नजर आ रहे हैं कि ये दोनों सत्ताधारी आपस में मिल जायेंगे और प्रजा को दबाने की, इस आंदोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे।"46" यही वह बिन्दु है जहाँ प्रेमचंद गांधी से बहुत आगे निकल जाते हैं, अलग हो जाते हैं। सारी लड़ाई लड़ते हुये भी दोनों सत्ताधारियों को मिलाना गांधी स्वराज्य का लक्ष्य था और प्रेमचंद दोनों सत्ताधारियों को समाप्त करने का स्वप्न गांधीवादी सिद्धान्त के नजरिये से देखते थे और जैसा कि हुआ भी यही गांधी हृदय से चाहते थे और प्रेमचंद नहीं चाहते थे लेकिन गांधी के सम्मोहन से शीघ्र मुक्त भी हो जाते हैं सन् 1932-33 के बाद।

प्रेमचंद ने मित्र केसोराय सब्बरवाल को जनवरी 1931 ई० को पत्र लिखा–''आपको पता होगा कि कांग्रेस ने इस साल एक कदम और आगे बढ़ाया है और स्वाधीनता का

संकल्प किया है। इस विषय में गहरा मतभेद है। नरमदली लोग इतनी दूर तक जाने को तैयार नहीं है और युवक राजनीतिज्ञ इससे कम किसी चीज की बात नहीं सुनना चाहते। मैं समझता हूँ कि स्वाधीनता इंग्लैण्ड के दम्भपूर्ण साम्राज्यवाद का ठीक जवाब है। डोमिनियन स्टेट्स धोखे की टट्टी है।"[47]" स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि नरमदल कांग्रेसी नीति से प्रेमचंद असहमत हैं और युवक नेता गरमदली जवाहरलाल का समर्थन कर रहे हैं। पूर्ण स्वाधीनता का आह्वान उनके ही नेतृत्व में हुआ। नौजवानों की ओर जो झुकाव शुरू हो रहा था और गांधी प्रभाव ने जिसे कुछ दिनों के लिए धूमिल कर दिया था, अब पूरी तरह उभर रहा था और गांधी भी जवाहर लाल की ओर इसीलिए झुक रहे थे कि सफलता गरमदली रास्ते पर चलने पर ही सम्भव है क्योंकि पूरा नवयुवक समाज नेहरू का भक्त हो रहा था। लेकिन इधर प्रेमचंद अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को छोड़ रहे थे, गांधी के इशारे पर न चलने का मन बनाकर। नेहरू व गांधी के इस प्रस्ताव का स्वागत करके भी प्रेमचंद कौंसिल बहिष्कार के कांग्रेसी निर्णय से बिल्कुल सहमत नहीं हुये। जवाहरलाल को इसी पत्र में आगे लिखा–''एक चीज जो मेरी समझ में नहीं आती वह कौंसिलों के बहिष्कार का कांग्रेसी निश्चय है। हमको जो कुछ भी थोड़ा बहुत जहाँ कहीं से भी मिले–ले लेना चाहिये। कौंसिलों को प्रतिगामी विधान बनाने का अवसर क्यों दिया जाय। स्वाधीनता इतनी सुगम नहीं है कि हम कौंसिलों को और भी एक दो सालों तक शरारत करने दें।"[48]"

यह है गांधी से असहमति। जो तन–मन को तर्क से आकर्षित नहीं करता प्रेमचंद उसका विरोध करते हैं। लिखा ''महात्मा गांधी ने 6 अप्रैल को समुद्र के तट पर गुलामी की बेड़ी पर पहला हथौड़ा चलाया और उसकी झंकार पूरे देश में गूँज उठी।"[49]"

यहाँ प्रेमचंद ने एक भूल कर दी है। वह नमक कानून भंग की तारीख 6 अप्रैल लिखते हैं। पर वह 5 अप्रैल के दिन ही सम्पन्न हुआ था। उसी रात गांधी गिरफ्तार भी कर लिये गये थे। जैसा कि पट्टाभि सीतारमैया भी लिखते हैं।"[50]" इसी समय मित्र दयानारायण निगम के मत को निर्मूल बताते हुये एक पत्र 23 अप्रैल 1930 को लिखा–''नमक को आप कब्ल अज वक्त (समय से पहले) ख्याल करते हैं। जिस तरह मौत हमेशा कब्ल अज वक्त होती है। साहूकार का तकाजा कब्ल अज वक्त होता है, उसी तरह सारे काम जिसमें हमें माली या वक्ती नुकसान का अन्देशा हो कब्ल अज वक्त मालुम होते हैं। इस तहरीक की कबूलियत से जाहिर हुआ है कि अगर दो फीसदी अंग्रेजी एवं असहाब तहरीक के साथ हैं तो, 98 फीसदी उसके मुखालिम विरोधी हैं.... गैर अंग्रेजी कारोबारी और पेशावर तबकों ने ही इस तहरीक में जान डाली है। अगर तालीम याफ्ता आदमियों के भरोसे मुल्क बैठा रहे तो शायद कयामत तक उसे आजादी नसीब न होगी।"[51]"

पढ़े–लिखे लागों की तस्वीर कितनी साफ है प्रेमचंद के दिमाग में। आंदोलन में हिस्सा लेने वाले साधारण नौकरी पेशा छोटे दुकानदार और किसान मजदूर ही हैं। गांधी की तरह प्रेमचंद का अनुभव भी यही है–''काश ! यह युनिवर्सिटी न खुली होती काश ! आज उनकी ईंट से ईंट बज जाती तो हमारे देश में द्रोहियों की संख्या न होती। यह

विद्यालय नहीं, गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं।"[52]"

गांधी जी यही सोच रहे थे पर उन्हें विश्वास था कि पढ़े–लिखे लोग हृदय परिवर्तन कर लेंगे। नौकरी पेशा लोग–वकील, डाक्टर, प्रोफेसर सभी संघर्ष में हिस्सा ले रहे थे। किन्तु इस झांसे में प्रेमचंद आने वाले नहीं थे। प्रेमचंद को गांधी की इस नीति पर विश्वास हो रहा था और वह निर्भीक कह रहे थे कि यह गलत सोच है। दयानारायण निगम को 23 अप्रैल 1930 के पत्र में ही आगे लिखा–"कानून पेशा, तबीब पेशा, (डाक्टर) प्रोफेसर और सरकारी मुलाजिमात इन सब ने जैसी गुलामाना जेहनियत का पता दिया है उसकी मुझे उम्मीद न थी। यह तबका अपनी खैरियत गवर्नमैण्ट का इक्तदार (अधिकार) कायम रखने में समझता है। जर (रुपया) उसका दीन और ईमान है। वह या तो आजादी चाहता ही नहीं या उसके लिए कीमत न देकर दूसरों पर तकिया करना ही अपने ज्ञान के मुताबिक समझता है। यही नादार (गरीब) फिर्के को दार (अमीर) फिर्के का दुश्मन बना देता है।"[53]"

स्पष्ट है कि इस मुद्दे पर गांधी और प्रेमचंद अलग–अलग सोचते हैं बल्कि प्रेमचंद गांधी की सोच से सहमत नहीं हैं। अपनी इस अनुभवशीलता की अदम्य ईमानदारी से वह गांधी मत से असहमति भी व्यक्त करते हैं। यानी एक तरफ असहयोग, सविनय अवज्ञा आदि गांधीवादी कार्यक्रम से प्रभावित हैं पर नीति की अस्पष्टता और भ्रमपूर्ण स्थिति से सचेत होते ही असहमति जाहिर करते हैं।

1930 में पेशावर में घटना घटी है। बम्बई में लाठीचार्ज हुआ। "अगर तुम क्षत्रिय हो" नामक लेख में–"तुम्हारे बुर्जुग सत्य की रक्षा में जान लड़ा देते थे। तुमने उस युग में जन्म लिया है जब पृथ्वी के हरेक भाग में गुलामी की बेड़ियाँ टूट रही हैं, रूस की जारशाही मिट गई, ईरान की कजकुलाही मिट गई, चीन, जापान, तुर्की, स्पेन.... मगर भारत।" और उसी ओर नवम्बर के उसी महीने में गांधी के शब्दों को उतारते हुये अहिंसा, सत्य की कसम दिलाते हुये दूसरा लेख लिखते हैं–"स्वराज्य संग्राम में किसकी विजय हो रही है–"निःशस्त्र संग्राम का मूल तत्व क्या है ? यही कि शत्रु को हम इतना दमन करने पर मजबूर कर दें कि वह खुद ही अपनी निगाह में गिर जाय। यहाँ तक कि उसकी पुलिस और सेना उसी दमनकारी आज्ञाओं का पालन करने से इंकार कर दें।"[54]"

कितनी अन्तर्विरोध भरी बात है कि एक ओर क्षत्रियों को स्वधर्म पालन के लिए उनका पैतृक गुण याद दिला रहे हैं, कह सकते हैं, सशस्त्र संग्राम की अनुमति दे रहे हैं और दूसरी ओर सत्याग्रही को विनय के अंगों का पालन करने तथा प्रतिकार न करने की शपथ दिला रहे हैं। एक ओर गांधी का अन्ध समर्थन सा कर रहे हैं, साथ–साथ उसका खण्डन भी कर रहे हैं। लेकिन यह अन्तर्विरोध जन्मजात है जो उनमें सतत प्रवाहशील है। उन्हें कांग्रेसी नीति आकर्षित नहीं कर रही थी क्योंकि उसमें पूँजीपतियों की घुसपैठ थी और कांग्रेस किसानों मजदूरों की समस्याओं पर ध्यान नहीं दे रही थी। इसी समय दयानारायण निगम के पूछे जाने पर प्रेमचंद ने 17 फरवरी 1923 को बेमन से पत्र लिखा–"आप ने मुझसे पूछा मैं किस पार्टी में हूँ। मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिये कि दोनों में कोई पार्टी कोई अमली काम नहीं कर रही है। मैं तो उस आने

वाली पार्टी का मेम्बर हूँ तो कोतहुन्नास (छोटे लोगों) की सियासी तालीम को अपना दस्तूर उल अमल (कार्य प्रणाली) बनायेगी।"[55]" और यह सम्भावना गांधी की कार्य प्रणाली में निहित थी जिसकी ओर प्रेमचंद तेजी से झुक गये थे। स्पष्ट है कि प्रेमचंद गांधी जी से इसी आशा को फलीभूत होती देखकर जुड़े थे और यह विश्वास हो गया था कि गांधी के निर्देशानुसार कांग्रेस गरीबों की संस्था बन जायेगी। गांधी समर्थित कांग्रेस की जन–जागृति कर सकेगी। मई 1930 को 'दमन' शीर्षक से एक लेख में विश्वास व्यक्त किया–''महात्मा गांधी इस विकल जागृति (स्वदेशी आंदोलन) के जीते जागते अवतार हैं। वह भारत के सत्य, धर्म, नीति और जीवन के सर्वोत्तम आदर्श हैं। महात्मा गांधी ने खुद किसानों को बेजबान कहा है।"[56]" यही वह जादू है जो प्रेमचंद पर चल गया था।

5 मार्च 1931 को गांधी–इरविन समझौता हो गया। प्रेमचंद ने लिखा–''हमें भी कुछ शंका थी कि शायद गांधी–इरविन समझौते के विरोधी कुछ गुल न खिलायें। पर यह शंका निर्मूल न सिद्ध हुई। कांग्रेस गरीबों की संस्था है। वर्ग जाति वर्ण के विरोध को उसने मिटा दिया है।"[57]" यही कारण था, यही आकर्षण बिन्दु था जिससे प्रेमचंद गांधी और कांग्रेस के साथ थे। जून 1931 में प्रेमचंद ने लिखा–''देश की वर्तमान प्रगति,''–''महात्मा गांधी क्रांति नहीं चाहते थे और न क्रांति से आज तक किसी जाति का उद्धार हुआ है। हमें मनसा वाचा कर्मणा अहिंसा का अनुयायी होना पड़ेगा।"[58]"

1931 के अंत तक प्रेमचंद कांग्रेस में सत्याग्रही थे पर उस पर रोक लगते ही वह भी अलग हो गये और मित्र दयानारायण निगम को 13 जनवरी 1932 को लिखा–''यहाँ की कांग्रेस कमेटी तो बंद हो चुकी। मैं अलग हूँ।"[59]"

1932 से 1934 तक का काल कांग्रेस के लिये महान संकट का काल था। प्रेमचंद अब भी कांग्रेस की मीटिंगों में शरीक हो रहे थे। 2 जून 1932 को बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखा–''पहली तारीख को वहाँ से यहाँ आया तो यहाँ कांग्रेस की उलझनों में पड़ा रहा। शहर पर फौज का कब्जा है। डंडे की नयी पालिसी ने लोगों की हिम्मत तोड़ दी है।'' गांधी कांग्रेस से अलग रहकर दूसरे कामों में उलझे थे। प्रेमचद 1934 के कांग्रेस में भी शरीक थे पर बेमन से। जैनेन्द्र को लिखा–''कांग्रेस तो अब बेजान सी चीज होती जा रही है। मगर तमाशा तो रहेगा ही।

लेकिन यह तमाशा प्रेमचंद 1931-32 से ही देख रहे थे। कांग्रेस में जान नहीं बची है बस ढांचा ही बाकी है। उन्होंने 20 मार्च 1923 को लिखे गये अपने लेख में यह विश्वास जाहिर किया है–''कांग्रेस की उदासीनता के कारण एसेम्बली तथा कौंसिलों में द्वितीय श्रेणी के राजनीतिज्ञ तथा तृतीय श्रेणी के राजनीतिज्ञ एकत्रित हो गये हैं। इनके हाथ से जनहित को बराबर धोखा खाना पड़ रहा है।"[60]" जनहित को धोखा खाते रहने का यह एहसास प्रेमचंद को बार–बार आरम्भ से ही हो रहा था पर अब तक कांग्रेस कुछ काम कर रही थी। इसलिये विश्वास जमा था और अब वह बिल्कुल स्वार्थी बनती जा रही थी, उसके मेम्बर कौंसिलों में जाकर सरकारी रंग में रंगते जा रहे थे। उनकी तस्वीर प्रेमचंद के दिमाग में साफ हो चुकी थी। 23 अप्रैल 1934 को एक लेख में उन्होंने लिखा–''हमें अब कौंसिलों और एसेम्बली में ऐसे स्वार्थी, कमजोर, अकर्मण्य मेम्बरों में भेजने की

जरूरत नहीं।.... सभी खद्दर पहनने वाले और जेल जाने वाले देवता नहीं हैं। उनमें भी बड़े–बड़े हथकण्डेबाज लोग शामिल हैं जो जेल भी किसी न किसी स्वार्थ से गये थे।"[61] फिर अगस्त 1934 में 'चुनाव चुथौवल' शीर्षक में लिखा–''कांग्रेस के चुनावों में मानवता की जो छीछालेदर हुई है, वह परम खेदजनक है। जो केवल यश की इच्छा से या सम्मान की भूख से त्याग दिखलाता हो, उसे राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व का कोई अधिकार नहीं।"[62]

अब प्रेमचंद का यह विश्वास प्रगाढ़ होता जा रहा था कि कांग्रेस अकर्मण्य व स्वार्थी लोगों की संस्था बन गयी है। प्रेमचंद ने गांधी जी के वक्तव्य का हवाला देते हुये एक लेख 1 जनवरी 1934 को लिखा ''बेकार बैठने से कौंसिलों में जाना अच्छा है–''ये शब्द महात्मा जी ने दिल्ली में कहे थे। उनका आदर्शवाद व्यावहारिक आदर्शवाद है।'' उसी समय 9 अप्रैल 1934 को लिखा–''कहा जाता है कि कौंसिलों में न जाकर ही हमने क्या कर लिया ? अगर कुछ किया तो यह कि बीसों ही कानून ऐसे पास करा दिये जो शायद कांग्रेस के कौसिलों में रहते हुये इतनी आसानी से पास न होते।"[63]

इसके पहले कौंसिल प्रवेश का विरोध करने वाले प्रेमचंद दस साल बाद कौंसिल बहिष्कार का विरोध कर रहे हैं। गांधी भी ऐसा ही कहते थे। यह गांधी का प्रभाव था अवश्य पर इसके साथ प्रेमचंद का अनुभव भी साक्षी है। कांग्रेस के चुनाव में सफलताएँ देखकर यह विश्वास होने लगा था कि शीघ्र ही प्रतिनिधित्व इसके हाथ में आ जायेगा पर कांग्रेसी नेताओं के अदम्य स्वार्थ से जो घृणा होने लगी थी उसे हम प्रेमचंद की सहजता कहेंगे, गांधीवादी प्रभाव नही। प्रभाव इतना ही है, अभी कांग्रेस के प्रति गांधी के दृष्टिकोण से जिस साम्यवाद का स्वार्थ प्रेमचंद देख रहे थे वह जान–बूझकर एक भ्रम पाल रहे थे। स्वार्थी लोगों की संस्था कहते हुये भी कांग्रेस के माध्यम से साम्यवाद की ओर देश की उन्मुखता का विश्वास इसी भ्रम का एक हिस्सा था। वह 1934 में लिखते हैं–''गांधी जी का आदर्शवाद व्यावहारिक आदर्शवाद है। वाद मनुष्य के सेवक हैं स्वामी नहीं। अभी दस साल पहले तक कांग्रेस शिक्षित समुदाय की संस्था थी जिसमें पूँजीपतियों की प्रधानता थी। जिसका उद्देश्य अधिकार और पद था। कांग्रेस के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन हुआ है उसे अभी बहुत थोड़े दिन हुये। यह ठीक है कि यदि सरकार की ओर से बाधाएँ न खड़ी की जातीं तो इस थोड़े ही समय में राष्ट्र साम्यवाद की ओर आ गया होता।

यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद का विश्वास यह देखकर दृढ़ होता जा रहा था कि जन जागृति के फलस्वरूप कांग्रेस चुनावों में सफल हो रही है, यह उचित ही है। किन्तु यह देखकर निराशा भी होती जा रही थी कि कांग्रेस स्वार्थ लिप्सा में पड़कर जनहित से दूर होती जा रही है। देश स्वतंत्र हो जाने पर भी पूर्ण स्वराज्य नहीं मिलेगा जब तक हमारे कांग्रेसी नेता जनहित के उद्देश्य से स्वार्थ त्याग कर कौंसिलों में नहीं जायेंगे और सच तो यह है कि वह स्वराज्य भी इस गुलामी की दशा से बहुत बेहतर न होगा। वहाँ भी ऐसे शोषकों का जमघट रहेगा। 'गबन' का देवीदीन खटिक भी यही अविश्वास जाहिर करता है कि 'स्वराज्य पा जाने पर तो कांग्रेसी नेता गरीबों को पीस

कर पी जायेंगे।' यह आशंका कांग्रेस की सफलता की आकांक्षा के साथ ही प्रेमचंद में शुरू से रही थी। जिसे वह बार–बार व्यक्त भी करते थे।

प्रेमचंद पूँजीपति वर्ग के शोषण के विरोधी थे। स्वदेशी का समर्थन वह देश की आर्थिक समृद्धि के लिये करते थे जिसमें साम्यवाद आने पर देश गरीब न रहे जबकि गांधी का साम्यवाद वैयक्तिक स्वार्थ रक्षा के लिये समर्पित था। अतः प्रेमचंद ने स्वदेशी आंदोलन की बुराइयों पर दृष्टिपात कर पूँजीपति वर्ग की स्वार्थ लिप्सा पर चोटें कीं। यह निश्चय ही गांधी से असहमति थी। गांधी की तरह प्रेमचंद भी मानते थे कि स्वदेशी धर्म है।"[65]" गांधी जी का मतलब यही समाप्त हो जाता था, गांधी से यही तक प्रेमचंद सहमत थे आगे असहमत या घोर विरोधी भी। 19 अक्टूबर 1932 को प्रेमचंद ने 'स्वदेशी की आड़ में लूट' शीर्षक लेख लिखा।

पूँजीनिवेश से राष्ट्र का कोई हित होता नजर नहीं आता। पूँजीपति तो स्वदेशी की आड़ में अपनी जेब भरते हैं। प्रेमचंद ने स्वदेशी पूँजीपतियों का विरोध किया। प्रेमचंद गांधी की मांग के औचित्य पर प्रश्न चिन्ह भी लगाते हैं। 16 अक्टूबर 1933 को लिखा–"जब कोई बाहर का व्यापारी आकर सस्ता माल बेचता है तो हमारा यह व्यापारी राष्ट्रीय उद्योग के संरक्षण का स्वांग भरकर कड़ी ड्यूटी लगाने का आग्रह करता है और सरकार बड़ी खुशी से उसका आदेश मान लेती है। मगर इस तरह का संरक्षण देना जनता के साथ अन्याय करना है।"[66]" हमें पहला काम स्वदेशी चीजों को सस्ते दामों में बेचना है। 12 फरवरी 1934 को लिखा–"सभी वस्तुओं के व्यापारी संरक्षण की मांग कर रहे हैं। चीजों को सस्ता बनाकर बाहर की चीजों को न आने देने का सामर्थ्य किसी में नहीं है और जनता बेबस है।

प्रेमचंद को यह बात स्पष्ट होती जा रही थी कि इस व्यापारिक पूँजीवादी युग में सारी शक्ति इन्हीं के हाथों है, सरकार भी उन्हीं की तरफदारी करती है। 19 जून 1935 को क्रोध में लिखा–"जनता की कौन सुनेगा। समाचार पत्र व्यापारियों के, शासन व्यवस्था व्यापारियों के हाथ में।.... विद्या और प्रतिभा सब कुछ तो उनके सामने घुटने टेकने को तैयार है। जापान के कपड़े इतने सस्ते बिकते हैं कि यहाँ के मिल उसका मुकाबला नहीं कर सकते।" प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं–"जो चीज एक रुपये में मिल रही हो उसे डेढ़ रुपये में खरीदने के लिये इस मंदी और बेकारी के समय भारत की जनता तैयार नहीं है।"[67]"

यह बात स्पष्ट है कि प्रेमचंद इस मुद्दे पर गांधी से बहुत आगे बढ़े हुये थे अतः यहाँ गांधी की सहमति का प्रश्न ही नहीं उठता। गांधी और प्रेमचंद की सोच एक दूसरे से काफी भिन्न थी। बल्कि प्रेमचंद अधिक प्रगतिशील थे।

अपनी निष्पक्ष अनुभवशीलता और उन्मुक्त सोच के कारण ही प्रेमचंद गांधी को अपनी सोच से बाहर की वस्तु नहीं मानते थे। जहाँ कहीं गांधी बहुत काल्पनिक और बनावटी मालुम हुये प्रेमचंद ने उनके सिद्धान्तों पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। यही कारण है कि प्रेमचंद ने गांधी का अन्ध समर्थन नहीं किया। भारतीय जनता असहयोग की असफलता पर निराश हो गयी थी। मध्यवर्ग के लोग जो नौकरियाँ त्याग कर अब तक

किसी तरह परिवार का पालन करते जा रहे थे अब अधिक त्याग करने में अक्षम हो गांधी को कोसने लगे थे।

प्रेमचंद ने 5 जून 1933 को 'सत्याग्रह' शीर्षक में लिखा–"निःसन्देह आज भारत में गांधी जी के उतने अनुयायी नहीं हैं जितने 1921 या 1930 में थे। इस विषय में इंगलैंडियन पत्र 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' से हम सहमत हैं।"[68] इतना ही नहीं, गांधी की सैद्धान्तिक गुत्थियों को खोलने में भी प्रेमचंद सफल हो रहे थे।

गांधी जी ने आंदोलन के स्थगन का प्रस्ताव रख कर अन्याय ही किया। दूसरी ओर भारतीय जनता को मझधार में छोड़ कर स्वयं एक छोटे से हरिजन आंदोलन (अछूतोद्धार) के नेता बन गये। प्रेमचंद ने गांधीवाद सिद्धान्त की कलई खोलते हुये बड़ी ईमानदारी से लिखा–"यह भी प्रकट और सत्य है कि गांधी जी के विरोध में कांग्रेस में एक बहुत बड़ा दल तैयार होकर उसे उनकी निरंकुश लीडरी से लोहा लेने के लिये पैंतरे बदल रहा है। कांग्रेस के बहुत से कार्यकर्त्ताओं का यह विचार है और कुछ अंश तक सत्य है कि अछूतोद्धार आंदोलेन को वर्तमान रुप देकर गांधी जी सत्याग्रही और सरकारी विरोधी कांग्रेसियों के लिये केवल दो ही मार्ग छोड़े हैं। एक तो यह कि वह देश सेवा करें, झण्डा उठावें और जेल चले जायें। (श्रीमती सरोजिनी नायडू मौजूदा कांग्रेस आंदोलन के विषय में इसी प्रकार के भाव प्रकट किये थे), ये देश सेवा छोड़कर हरिजन सेवा करें और यह कोई नहीं कह सकता कि हरिजन सेवा देश सेवा से बढ़ कर है। दूसरी शिकायत यह है कि उन्होंने देश के गाढ़े दुख–दर्द में केवल कोरी गप्प उड़ाकर, दूर के ढोल पीट कर शरीक होने वाले लिबरलों के लिये सार्वजनिक रंगमंच पर एक सही सलामत बचे रहकर काम करने का अवसर दे दिया। अब लिबरल देश के नेता हैं, लीडराने कौम हैं, और जनता के लिए अपने प्राण तक बलिदान कर देने वाले कांग्रेस सेवक जेल की चिड़ियाँ। उनके दोषों का विचार करना पटेल और सुभाष जैसी प्रतिभा तथा त्यागियों का काम है।"[69]

गांधी का हरिजनोद्धार जनहितकारी कार्य था। गांधी द्वारा ईश्वरीय प्रेरणा से कार्य करने की क्षमता रखने के कारण प्रेमचंद अंत तक गांधी के प्रति विनीत बने रहे उनके अनेक सिद्धान्तों का विरोध करते हुये भी। 1 मार्च 1935 को जैनेन्द्र को पत्र लिखा–"वर्धा जायें और गांधी जी से मिलें तो मेरा प्रणाम कहियेगा।"[70]

गांधी द्वारा सत्याग्रह करते–करते बीच में समझौता भी करते जाने से जिस राजनीतिक जागृति को क्षति पहुँचती थी जिससे कांग्रेस तथा बाहर के उग्रपंथी नेता असंतुष्ट थे। प्रेमचंद को भी यह नीति असामयिक लगने लगी थी। 1921-30 तक गांधी के इस नीति के समर्थक होते हुये भी प्रेमचंद विरोध करने लगे। गांधीवादी सिद्धान्तों से उनकी यह असहमति वैयक्तिक नहीं थी, समूचे असंतुष्ट उग्रवादी नवयुवक नेताओं की भी यही असहमति थी। 1933 आते–आते प्रेमचंद गांधी विचारधारा से असंतुष्ट लगने लगते हैं और नेहरू–सुभाष प्रवृत्ति नवयुवक क्रांति के नेता ही प्रेमचंद की विचारधारा को गति प्रदान करने लगते हैं। यह विचारधारा तो प्रेमचंद में आरम्भ से विद्यमान थी और जिसे गांधीवादी आकर्षण ने थोड़ा धूमिल कर दिया था। वस्तुतः प्रेमचंद की मौलिक

विचारधारा तो यही थी।

जब चारो तरफ गांधी की बुराई होने लगी तो प्रेमचंद उनसे जुड़े नहीं रह सके और नवयुवकों के रंग में बहते हुये देश की वर्तमान आवश्यकता की पहचान करने लगे जिसके मध्य अब तक अनिर्णय की स्थिति में जी रहे थे। 26 जून 1933 के अपने लेख में सुभाष चन्द्र बोस का समर्थन करते हैं–"जब एक ओर पार्लियामेंट की भावी जड़ता के काले बादल इस प्रकार उठ रहे हैं, देश का नवयुवक समाजक्षुब्ध तथा विचलित होता जा रहा है, महात्मा गांधी की नर्म, संभली हुई अहिंसात्मक, और सुदृढ़ नीति में उसे आलस्य, संकोच, भय, तथा अनुचित सतर्कता दीख पड़ती है। अराजक तथा क्रांतिकारी अपने निंदनीय कार्यों को बढ़ाते जा रहे हैं। अहिंसात्मक पर उत्तेजित युवक भी कांग्रेस से बगावत करने पर तुले हैं। लंदन में "भारतीय राजनैतिक सम्मेलन" के अवसर पर मनोनीति पर उपस्थित सभापति श्रीयुत् सुभाष चन्द्र बोस का भाषण कितना उग्र था। बोस बाबू ने महात्मा जी के नेतृत्व को असामयिक बतलाया। 1931 की संधि को राष्ट्र की सबसे बड़ी भूल कहा और 1933 में 6 सप्ताह के लिये सत्याग्रह आंदोलन स्थगति करना, "विगत 13 वर्षों के परिश्रम पर पानी फेर देना" बतलाया और अंत में नवयुवकों के नवीन संघटन की सलाह दी....। श्री बोस के अनुसार उस उग्र भाषाण पर टीका करता हुआ "फ्री प्रेस जर्नल" जो विचार प्रकट करता है, उससे हम सहमत हैं। पत्र का कथन है–"देश के जिन नवयुवकों की ओर से मि० बोस बोल रहे हैं, वह ऐसे नेतृत्व से संतुष्ट नहीं रह सकता जो बार–बार समझौता करता चलेगा या किसी सरल उपाय की खोज करेगा। छोटे–मोटे घूस स्वीकार करने से अच्छा यह है कि लगातार युद्ध करता ही जावे।"71"

गांधी जी ने सत्याग्रह आंदोलन बंद करके व्यक्तिगत आंदोलन चलाने की सलाह दी। प्रेमचंद ने 24 जुलाई 1933 को लिखा–"व्यक्तिगत सत्याग्रह केवल दीवार से सर टकराना है।"72"

स्पष्ट है कि 1933 तक आते–आते प्रेमचंद गांधी के सत्याग्रह, व्यक्तिगत सत्याग्रह, स्वदेशी आंदोलन आदि से असहमति व्यक्त करने लगे थे और 1934 तक तो वह गांधी का नाम लेकर उनकी कमजोरियों पर प्रहार भी करने लगे थे। यह गांधीवादी सिद्धान्तों के कमजोर पड़ते जाने की सच्चाई का फल था। यही कारण था कि महात्मा गांधी द्वारा कांग्रेसी सत्याग्रहियों पर आक्षेप लगाये जाने पर प्रेमचंद अपने को नहीं रोक सके और गांधी को फटकारते हुये 16 अप्रैल 1934 को 'ठेलमठेला" शीर्षक से एक लेख लिखा। "महात्मा सत्याग्रह के असफल होने की सारी जिम्मेदारी कार्यकर्ताओं पर रखते हैं। कार्यकर्ता उन पर ठेलते हैं। कांउसिल में जाने की नीति को आशीर्वाद देकर महात्मा जी ने वही किया जो एक कुशल सेनापति का धर्म है। कार्यकताओं ने अपनी बुद्धि और पहुँच के अनुसार उस अस्त्र को चलाने की कोशिश की। क्या महात्मा जी ने उस वक्त 13 साल पहले यह समझा था कि ये सभी देवता हैं ? अगर वह मानव स्वभाव से इतने बेखबर हैं तो यह उनका कसूर है, जो एक राष्ट्रनेता में बहुत बड़ा कसूर है। जिन लोगों ने तेरह साल तक हर तरह की कठिनाई झेल कर, अपने को तबाह करके, इस आंदोलन

को चलाया उनसे अब यह कहना कि तुम इस कार्य के योग्य नहीं और तुम्हारी कमजोरी से यह आंदोलन फेल हुआ–उनका दिल दुखाना है। अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को महात्मा जी भीतर की आवाज कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की सम्भावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज नहीं है क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गलती की है।"73"

महात्मा गांधी का ऐसा खुला व तीखा विरोध प्रेमचंद ने कभी नहीं किया था। लगता है अब गांधी से प्रेमचंद बहुत अधिक सहमत हो चुके थे। आतंकवादी शक्तियाँ गांधी का विरोध कर रही थीं। उनके दमन के लिये व्यक्तिगत पत्र लिख कर गांधी वाइसराय को सूचित किया करते थे। 1934 के सितम्बर में प्रेमचंद ने लिखा "आतंकवाद का मूल कारण बेकारी है। भारतीय बच्चे अपने ही देश में सुखी नहीं रह सकते। उनको परिश्रम करके जीवन बिताने का ठिकाना भी नहीं है। फिर वे क्यों न आतंकवादी बन जायें ? क्यों न वे विद्रोही हो जायें। संस्कार उन्हें खुद विद्रोही बनने का अवसर दे रही है।"74"

इन्हीं दिनों प्रेमचंद गांधी के उन तमाम सिद्धान्तों का खुला विरोध करने लगे थे जिनकी अप्रासंगिकता पर जानबूझकर भी अब तक चुप थे। गांधी की अंधधार्मिकता के प्रति यद्यपि प्रेमचंद का शुरू से ही अविश्वास रहा था, धर्म के उन्हीं तत्वों से वह गांधी से सहमत थे जो उन्हें विरासत में मिले थे। आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन के प्रभाव से वह आस्तिक थे और सभी धार्मिक अच्छाइयों के प्रति आकृष्ट भी थे। जिसमें समाज सुधार में सहयोग मिल रहा था पर धर्म के वाह्याडम्बरों के प्रति नकारात्मक रुख आरम्भ से ही था। तब गांधी से सहमत होकर भी वह विद्रोही स्वर नहीं निकाल रहे थे, चुपचाप स्वसिद्धान्त पर अटल थे पर अब 1934 तक उस अंधधार्मिकता पर कठोर प्रहार करके उसकी हंसी उड़ाने लगे थे। 15 जनवरी 1934 के लेख में लिखा–देश व्यापी भूकम्प का कारण महात्मा गांधी ने अपने देश वासियों के पाप को बताया। प्रेमचंद को ऐसी अंधधार्मिकता आरम्भ से ही खटकती थी जिसका वह विरोध भी करते थे पर यहाँ खुला विरोध करते हुये उन्होंने गांधी के धर्मनीति की भर्त्सना की। जनवरी 1934 में लिखा–"अभी उस दिन महात्मा जी ने कहा कि हमारे पापों के कारण ही यह भूकम्प हुआ। यदि आस्तिकता भूकम्प का कारण पाप बतलाती है तो क्या जितने प्राणी भूकम्प में मारे गये सभी पापी थे ? और यहाँ, इस देश में जो बड़े–बड़े पापाचारी और गरीबों का रक्त चूस जाने वाले बड़ी–बड़ी तोंद वाले, बड़े–बड़े तिलकधारी ढोंगी पड़े हुये हैं, क्या परमात्मा उन्हें नहीं देख पाता ? भूकम्प किसी पाप पुण्य के कारण नहीं हुआ, यह प्रकृति की एक लीला है।"75"

महात्मा गांधी के धर्म नीति के प्रति ऐसा खुला प्रश्नचिन्ह प्रेमचंद ने हमेशा लगाया था। उन्होंने ईश्वर को हमेशा माना पर यह स्वीकार नहीं किया कि वह मनुष्यके दैनिक क्रियाकलापों में हस्तक्षेप करता है।

अस्पृश्यता गांधी जी का प्रमुख कार्य था। प्रेमचंद भी इसे गांधी की तरह प्रमुख समस्या मानते थे। यद्यपि दोनों विचारक अस्पृश्ता विरोधी थे और इसके लिए समान रूप से हिन्दुओं को तथा सरकार को दोषी मानते थे किन्तु दोनों के सोचने में एक अंतर था।

गांधी इसे राजनैतिक समस्या से जोड़ कर देखते थे और प्रेमचंद राजनीति के साथ सामाजिक और आर्थिक भी मानते थे। गांधी सरकार की दोरंगी नीति के तहत उसे असफल करने के लिये ही पृथक निर्वाचन का विरोध करते थे और हिन्दुओं से इस ज्यादती के लिये प्रायश्चित करने तथा बन्धुत्व बनाये रख कर पहल करने पर दृढ़ थे। जबकि प्रेमचंद इससे आगे भी सोचते थे। जब तक अस्पृश्य लोग आर्थिक समता नहीं प्राप्त करेंगे तब तक सामाजिक विषमता यथावत रहेगी और वे सदैव अस्पृश्य बने रहेंगे। इसके समाधान के लिये प्रेमचंद शुरू से ही आर्थिक समता के सूत्र का हवाला देते थे जबकि गांधी शोषकों के हृदय परिवर्तन द्वारा, मंदिर प्रवेश की, स्वतंत्रता द्वारा, हरिजन कहकर गले लगाने की भावना द्वारा एवं उचित पारिश्रमिक प्रदान कर आर्थिक स्थिति सुधारने से इसका समाधान मानते थे। अतः प्रेमचंद गांधी से ज्यादा प्रगतिशील थे और उनकी सोच गांधी से बहुत अधिक निष्पक्ष और सार्थक थी। यह असहमति दोनों विचारकों के दृष्टिकोण में अंतर के कारण उत्पन्न हुई थी। प्रेमचंद समाजवाद की ओर जा रहे थे और गांधी समाजवाद–साम्यवाद का आवरण डालकर सामंती पूँजीवाद की ओर। यानी गांधी मौखिक रूप से समाजवादी या साम्यवादी थे और सैद्धान्तिक रूप से पूँजीपति वर्ग के हिमायती। गांधी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को लागू करना चाहते थे जो मजदूर किसान वर्ग का हिमायती नहीं दुश्मन था। प्रेमचंद इस ट्रस्टीशिप के विरोधी थे। 6 नवम्बर 1933 को उन्होंने लिखा–''यह आशा करना कि पूँजीपति किसानों की हीनदशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूंखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिये हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।"[76]"

यह गांधी सिद्धान्त का सीधा विरोध है। गांधी की अहिंसा के विरोध में सशस्त्र क्रांति का हिंसात्मक स्वर। गांधी से यह असहमति अनुभवस्नात है।

जनवरी 1934 में 'गांधी विचार में दोहन' पुस्तक की आलोचना प्रेमचंद ने लिखा था–''महात्मा जी का जीवन एक फिलासफी है। आपके हरेक शब्द, हरेक वाक्य, हरेक कार्य की तह में आध्यात्मिक तत्व छिपे होते हैं। महात्मा जी ने संसार के सामने मानवता का परिष्कृत और महान आदर्श रखा है। केवल सैद्धान्तिक नहीं सम्पूर्णतः व्यावहारिक, जिसने उस आदर्श पर चलकर, उन्हीं सिद्धान्तों के ढांचे में अपना जीवन ढालकर, जो दुर्लभ था, अगम्य था उसे अपने जीवन में सुलभ और सुगम बनाकर मानवता को उच्चतर बना दिया है।"[77]"

यही नहीं वह महात्मा गांधी को देवता मानने को तैयार थे। मानवोचित गुणों को ऊँचाई तक पहुँचाने वाले गांधी देव तुल्य ही नहीं उससे आगे बढ़े हुये थे। उस समय जब प्रेमचंद गांधी के सामाजिक सिद्धान्त असहयोग आंदोलन का विरोध करते हुये उनकी नीतियों की उपेक्षा कर रहे थे, उसी समय गांधी के देवत्व के प्रति भी आकर्षित थे। अक्टूबर 1934 में 'खयालात महात्मा गांधी' पुस्तक की आलोचना में उन्होंने लिखा–''महात्मा गांधी जितने बड़े राजनीतिक नेता हैं, उनसे बड़े ऋषि हैं और उनसे भी कहीं बड़े आदमी हैं। उनके चरित्र में मानवता अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर देवत्व के समीप आ गयी है। अगर हमारे पुराणों के पुरुष देवता माने जायें, तो उनमें से एक भी

महात्मा जी के समीप नहीं आ सकते।"78"

अछूतोद्धार के मसले पर प्रेमचंद गांधी से सहमत थे। यहाँ तक कि उन्हें इस महायज्ञ का पुरोहित मानते थे। गांधी द्वारा किये जाने वाले अनशन को 'तप' का दर्जा देकर प्रेमचंद ने गांधी को महान तपस्वी माना और गांधी सिद्धान्त का समर्थन करते हुये अनेक लेख लिखे।

गांधी की तरह प्रेमचंद ने भी हिंदुओं की उस निरंकुशता का विरोध किया जिससे अछूत शोषित थे इसके लिये वह काशी–वासी होते हुये भी काशी के पंडितों पर प्रहार कर रहे थे। काशी के सनातनी पंडितों द्वारा विश्वनाथ मंदिर न खोलने के निर्णय का खुला विरोध करते हुये प्रेमचंद ने चुनौती भरा लेख 5 अक्टूबर 1932 को 'काशी का कलंक' नाम से लिखा।

गांधी अछूतोद्धार की समस्या के आधार पर हल करना चाहते थे और उसके लिए हिन्दुओं क हृदय परिवर्तन को ही समाधान मानते थे। पर प्रेमचंद अछूतोद्धार के लिए देश व्यापी आंदोलन करने की भी चुनौती देते हैं। यह वर्ग संघर्ष का रूप है जिसके गांधी विरोधी थे। अतः यहाँ भी प्रेमचंद को गांधी से अधिक प्रगतिशील कहना ठीक होगा।

अपने एक प्रारम्भिक उपन्यास 'देवस्थान रहस्य' में प्रेमचंद ने हरिजन देवताओं, उनके पौरोहित्य द्वारा ग्रामीण सवर्णों के पारम्परिक आकर्षण की बात उठायी है लेकिन उसके बाद वह मौन नजर आते हैं। यही बात गांधी के रंग में रंग कर वह 1930 के बाद उठाते हैं।

जिस ईमानदारी के साथ प्रेमचंद ने वर्णाश्रम संघ की कट्टरता का विरोध किया वह गांधी जैसे समझौतावादी संत से सम्भव नहीं था। यद्यपि गांधी की तरह प्रेमचंद भी वर्णाश्रम धर्म के हिमायती थे। पर गांधी की तरह अंधसमर्थक नहीं। इसी लिए कटु सत्य कहकर वर्णाश्रम स्वराज्य संघ वालों को फटकारने का जो तेवर प्रेमचंद में था, गांधी में नहीं। वह लिखते हैं–"आप ने आठ करोड़ हिन्दुओं को मुसलमान बना दिया। यह छः करोड़ अछूत भी आप ही के विद्याबाण से बींधे हुये हैं क्या हिन्दुधर्म को संसार से मिटा कर ही दम लेंगे।"79"

सनातन पंथियों के तर्क को निराधार एवं असत्य सिद्ध करते हुये प्रेमचंद ने लिखा कि बुरी आदतें हर वर्ण में हैं, इसके आधार पर अछूतों के हेय समझना अन्याय है। तर्क का हवाला देते हुये उन्होंने लिखा–"क्या जितने सछूत हैं रोज स्नान करते हैं, क्या कश्मीर और अल्मोड़ा के ब्राह्मण रोज नहाते हैं, हमने इसी काशी में ऐसे–ऐसे ब्राह्मणों को देखा है जो जाड़ा में महीने में एक बार स्नान करते हैं। फिर भी वे पवित्र हैं। इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण और वह भी तिलकधारी निकल आयेंगे। ब्राह्मणों के घर में चमारियाँ हैं फिर भी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती।"80" यह गांधी–चिंतन नहीं है, प्रेमचंद का अनुभव स्नात चिंतन है। तभी वह गांधी से आगे चिन्तन करने वाले ईमानदार सामाजिक कलाकार सिद्ध होते हैं।

गांधी की तरह प्रेमचंद भी हरिजन विद्यार्थियों के लिये अलग छात्रावास बनाये जाने के विरोधी थे क्योंकि इससे अस्पृश्यता का अंत नहीं हो सकता था। लिखा–हरिजन

दिवस समस्त हिन्दू जाति का पर्व होगा।.... विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिये, नौकरियाँ देने के लिये उनके साथ थोड़ी सी रियायत करनी चाहिये, जमीन देकर बेगार लेना बंद करके, भलमनसी का बर्ताव करके कठिनाइयाँ दूर कर सकते हैं।"[81]

अपनी बेलाग पक्षधरता के कारण ही प्रेमचंद काशी के संस्कृत छात्रों को गालियाँ सुनाने तक में नहीं हिचकते। सनातन धर्मी लोगों के प्रति ऐसा प्रहार गांधी ने कभी नहीं किया।

गांधी व्यावहारिक कार्यक्रम चला रहे थे–हरिजन बस्तियों में जाकर सफाई करना। गांधी के इस रचनात्मक कार्यक्रम से प्रेमचंद संतुष्ट नहीं थे क्योंकि असल समस्या हरिजनों से बाहरी मेल–जोल बढ़ाना नहीं है, उन्हें सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। हरिजनों के साथ मिल कर काम करने का जो आडम्बर बढ़ता जा रहा था और साथ ही सवर्णों द्वारा अहंकार पालन पर भी दृढ़ता बढ़ती जा रही थी इस दोमुही नीति से प्रेमचंद को संतोष नहीं था। इसी कारण गांधी के न कहने पर भी प्रेमचंद ब्राह्मण वर्ग के मिथ्या अहंकार पर चोट करने से नहीं चूके। उन्होंने जिन शस्त्रों का प्रयोग किया उसके आधार पर उन्हें ब्राह्मण विरोधी होने का आरोप सहना पड़ा यद्यपि यह स्पष्ट निर्भीकता और यथार्थवादिता थी जो गांधी चिंतन में नहीं मिलती। प्रेमचंद ने लिखा "एक दिन झाड़ू हाथ में लेकर सड़कों पर तमाशा कर देने से यह अहंकार नहीं मिटेगा।"[82]

साम्प्रदायिकता को लेकर भी हम प्रेमचंद और गांधी में सहमति अधिक पाते हैं किन्तु जहाँ कहीं गान्धी राजनैतिक प्रवाह में बहने लगते हैं और वस्तुस्थिति को नजरअंदाज किये बिना हठवादिता के तौर पर ज्यादती करने लगते हैं वहाँ प्रेमचंद तार्किकता के अपने निष्पक्ष पैमाने से सही निर्णय देने में नहीं चूकते। गांधी और प्रेमचंद दोनों यहाँ तक सहमत हैं कि हिन्दू मुसलमान दोनों दोषी हैं पर गांधी द्वारा हिन्दुओं को अधिक दोषी ठहरा कर मुसलमानों को प्रसन्न रखने की नीति से, जिसमें हिन्दू धर्म को क्षति उठानी पड़ती थी, प्रेमचंद असहमत थे और जहाँ जिसकी ज्यादती थी, उसे भला–बुरा कहते थे। गांधी कभी–कभी राजनैतिक संकट देखकर एकता के प्रयास में मुसलमानों के साथ अधिक रियायत देने को धर्म का दर्जा देते थे पर प्रेमचंद को यह उचित नहीं जंचता था। नौकरियों में स्थान सुरक्षित किये जाने के सरकारी निर्णय को जहाँ गांधी गर्व और सन्तोष की दृष्टि से देखते हैं वहीं प्रेमचंद उसका विरोध करते हुये जुलाई 1934 में लिखते हैं–"साम्प्रदायिकता के नाम पर मुसलमानों के लिए पचीस प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। सरकार को तो राष्ट्रीयता छिन्न–भिन्न करनी है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति में नौकरियों के साम्प्रदायिक विभाजन का विरोध किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम मुसलमानों के उन्नति के विरोधी हैं। खेद है इस साम्प्रदायिक मनोवृत्ति पर, धर्मान्धता बढ़ेगी, हृदय ईर्ष्यालु होंगे, योग्यता का मूल्य गिर जायेगा, प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसका विरोध करेगा और चाहेगा कि नौकरियाँ सम्प्रदाय के नाम पर नहीं, योग्यता के नाम पर दी जाय।"[83]

कितना स्पष्ट विरोध है पर तर्क सम्मत भी है कि आरक्षण नीति सम्प्रदायगत नहीं होनी चाहिये, योग्यता के आधार पर होनी चाहिये।

प्रेमचंद ने गांधी के हिन्दी आंदोलन का समर्थन किया। फिर आगे चलकर हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर पहुँचा कर गांधी जी ने राजनैतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया है।"84"

गांधी शिक्षा प्रणाली के वर्णाश्रम गुरूकुल–प्रथा के समर्थक थे। यही प्रेमचंद भी सोचते थे। भौतिकता के युग में भी पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का विरोध और वर्णाश्रम व्यवस्था तथा गुरूकुल प्रथा का समर्थन प्रेमचंद ने गांधी चिंतन से प्राप्त किया था हालांकि यथार्थ अनुभव तथा मौलिक चिंतन प्रेमचंद की विशेषता थी। वह गांधी की तरह ही भारतीय संस्कृति के लुप्त होते जाने से चिन्तित थे और भारतीय संस्कृति की पुनर्स्थापना के मार्ग में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को अवरोधक मानते थे। युनिवर्सिटी शिक्षा से छात्रों के नैतिक पतन की जो तस्वीर गांधी पेश करते थे वही प्रेमचंद भी, बल्कि गांधी से अधिक वह यह कहते थे कि 'युनिवर्सिटी' ग्रेजुएट बनाने के कारखाने हैं। जहाँ युवकों को दुर्व्यसन, फिजूलखर्ची, विलासिता और झूठे अभिमान की शिक्षा दी जाती है।

जैसा के स्पष्ट है, प्रेमचंद गांधी से आगे बढ़े हुये चिंतक थे। गांधी के ह्दय परिवर्तन सिद्धान्त को मानते हुये भी उनके ट्रस्टीशिप के विरोधी थे और महाजनी सभ्यता की घोर निंदा कर रहे थे। गांधी पूर्ण स्वराज्य चाहते थे जो पूँजीपतियों का हो, प्रेमचंद किसान मजदूरों का स्वराज्य चाहते थे। इसीलिए वह गांधी का अतिक्रमण या विरोध करते हुये सामन्तवाद, पूँजीवाद का समर्थन कर रहे थे और यह विश्वास जाहिर कर रहे थे कि 'करोड़ों को गरीब रहना ही है'। अतः प्रेमचंद का सामाजिक चिंतन गांधी के सामाजिक चिंतन से श्रेष्ठ और प्रगतिशील था बल्कि प्रेमचंद गांधी के तथाकथित सामाजिक चिंतन के विरोधी थे। अंत में उनका यह विश्वास शायद लुप्त हो रहा था कि गांधी जिस ट्रस्टीशिप की बातें करके वर्ग संघर्ष को अवरुद्ध करना चाहते हैं वह खतरनाक रास्ता है, उससे शोषित वर्ग अधिक उत्पीड़ित होगा। इसी से उसका विरोध करना उनका रचनात्मक दायित्व हो गया था। गांधीवादी मृगतृष्णा से मुक्ति दिलाने के प्रयास में उनका परवर्ती रचना कर्म बहुत श्रेष्ठ है।

नारी समस्या पर गांधी और प्रेमचंद की सहमति–असहमति का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। गांधी नारी जागृति के अग्रदूत थे। उनके नेतृत्व में असहयोग आंदोलन में नारियों ने आगे बढ़कर ठोस कार्य किया। नारियाँ आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर होने से शोषित थीं। आर्थिक समता की ओर अग्रसर होने का यह अच्छा अवसर था जिससे सामाजिक विषमताओं खासकर नारी पराधीनता का महान संकट हल हो सकता था। यही प्रेमचंद भी चाहते थे। इसीलिए उन्होंने शारदा बिल का समर्थन किया। गांधी की तरह प्रेमचंद भी नारी मुक्ति के पक्षधर थे। फरवरी 1931 के एक लेख में प्रेमचंद ने नारियों के अधिकारों की चर्चा करते हुये लिखा–"उन्हें हरेक विषय में पुरुषों के समान अधिकार होना चाहिये। विवाह का नियम स्त्री पुरुष दोनों के लिए लागू होगा। कोई पुरुष पत्नी के जीवनकाल में दूसरा विवाह न कर सके। पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो। तलाक

का कानून स्त्री–पुरुष दोनों के लिये समान हो। तलाक के समय स्त्री–पुरुष की आधी सम्पत्ति पाये।"[85]"

वह इस आर्थिक समानता के यहाँ तक हिमायती थे कि पुरुष भी स्त्री के समान गृहकार्य में हिस्सा बंटाये।

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि गांधी जी वेश्यावृत्ति का हल आश्रम व्यवस्था और हृदय परिवर्तन प्रस्तुत करते हैं जैसा आर्य समाज का कार्यक्रम था किन्तु प्रेमचंद उसे विश्वस्त नहीं मानते। यहसब सोचते हुये भी वह उस मूल समस्या पर दृष्टिपात करते हैं जो सभी बुराइयों की जड़ है–आर्थिक पराधीनता।

जनसंख्या वृद्धि का हल गांधी ने ब्रह्मचर्य पालन में माना। वह कृत्रिम साधन द्वारा संतान निग्रह करने के विरोधी थे। इस मुद्दे पर प्रेमचंद गांधी का शुरू में समर्थन करते हैं। तलाक की वृद्धि का एक कारण कृत्रिम साधनों द्वारा सन्तान निग्रह भी है। यह बात प्रेमचंद स्वीकार करते हैं। ब्रह्मचर्य गांधी सिद्धान्त का एक अंग था किन्तु आगे चलकर गांधी की इस मान्यता का वह अतिक्रमण भी करते हैं। वह 1932 में केवल ब्रह्मचर्य की वकालत करते हुये कृत्रिम साधन प्रयोग की कड़ी निन्दा करते हैं। वहीं 1934 में उसका समर्थन करते हुये विश्वास के साथ लिखते हैं–"संतान निग्रह आवश्यक वस्तु है, अग्रर ब्रह्मचर्य द्वारा हो सके तो सबसे उत्तम, लेकिन वह न हो सके तो हम कृत्रिम साधनों को भी बुरा नहीं समझते। मानव संस्कृति तो प्राकृतिक विधान के विरोध का नाम है अगर हम प्रकृति मार्ग पर ही चलते तो आज कन्दराओं में रहते। प्रकृति पर विजय पाना तो मानवी सभ्यता का लक्ष्य ही है।"[86]"

यह प्रेमचंद की अपनी विशेषता है, उनकी विचारधारा का निरंतर विकास है। यहाँ यह भी लक्ष्य करना आवश्यक होगा कि यह विकास गांधी विचारधारा की हल्की असहमति से हुआ है। जैनेन्द्र को लिखे गये 17 दिसम्बर 1930 के पत्र में भी यही प्रकट होता है–"मैं तो पुराने ख्याल का आदमी हूँ। दो पुत्रों तक तो बधाई दूँगा, इसके बाद जरा सोचूंगा।"[87]" अतः यह मानना तर्क संगत होगा कि प्रेमचंद प्राकृतिक विधान को बदलते रहने का संकल्प संजोते हैं, परम्परा की निर्मूल कूपमण्डूकता से ऊपर उठकर प्रगतिशीलता लाने का पूरा प्रयास करते हैं। इसीलिए वह पौराणिक एवं धार्मिक गांधी से सहमत नहीं हो पाते और धर्म की समयोचित व्याख्या करते हैं। परम्परा को तोड़ना प्रगति के लिये आवश्यक है इसीलिए वह घोषणा करते हैं–"अब यह समय नहीं रहा कि शास्त्र में जो कुछ मिले उसे ब्रह्म वाक्य समझ लें। सम्भव है जिस समय उन स्मृतियों की रचना हुई हैं, उस समय ऐसे विचारों की जरूरत ही हो, लेकिन शास्त्र भी उसी दशा में मान्य है जब वे सत्य की कसौटी पर पूरे उतरें, जहाँ बुद्धि का प्रवेश नहीं वहाँ विश्वास ही हमारा आश्रय है। लेकिन जिन बातों में सत्यासत्य को हम बुद्धि से पहचान सकते हैं जो मानवता, न्याय, अहिंसा और सत्य के प्रतिकूल है, उन्हें हम शास्त्रोक्त मान कर व्यवहार में नहीं लाना चाहते।"[88]"

गांधी के समाजवाद और मार्क्स के समाजवाद में अंतर है जैसा कि लिखा जा चुका है। गांधी का समाजवाद वर्ग समन्वय के माध्यम से साम्य स्थापित करना चाहता

हैं जब कि मार्क्स का समाजवाद वर्ग संघर्ष के माध्यम से। यानी गांधीवाद आंशिक या परोक्ष रूप से पूँजीपति वर्ग का समर्थन करता है और मार्क्सवाद पूँजीपति वर्ग का शत्रु है। वर्ग समन्वय का आधार गांधी हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त को मानते हैं, वर्ग समन्वय से ही संस्कृति की रक्षा एवं सुख शांति की स्थापना की कल्पना करते हैं। इसके ठीक विपरीत मार्क्स वर्ग संघर्ष से ही सुख शांति और समता का आधार प्रस्तुत करता है। उसका तर्क है कि समाज के आज तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। इन कसौटियों पर कसने पर प्रेमचंद कुछ अजीब किस्म के चिंतक सिद्ध होते हैं, यानी दोनों के बीच के। वर्ग समन्वय के सिद्धान्त पर उनका विश्वास न होकर वर्ग संघर्ष में है अतः वह गांधी के विरोधी हैं पर वह पहले गांधी के समाजवाद को ही सच्चा समाजवाद मानते हैं। यद्यपि बाद में यह भ्रम टूटता है और वह मार्क्स की ओर उन्मुख होते हैं। गांधी औद्योगीकरण के विरोधी थे अतः मशीनीकरण को समाप्त कर गृह उद्योगों की ओर लौटना चाहते थे पर प्रेमचंद औद्योगीकरण जनित कुव्यवस्था से क्षुब्ध होकर भी उसका बहिष्कार नहीं कर सके। क्योंकि दुनिया की यही रफ्तार थी। उससे कोई बच नहीं सकता। मार्क्स की तरह अर्थ को ही सर्वस्व मानते थे हालांकि धार्मिक तरीके से हृदय परिवर्तन को बुरा नहीं मानते थे पर धीरे–धीरे वह विश्वास डिग चुका था और वे वर्ग संघर्ष को आवश्यक मानने लगे थे। अतः वह गांधी के समाजवाद से ऊपरी तौर पर मौखिक रूप से भले ही संतुष्ट थे सिद्धान्ततः मार्क्स के समाजवाद के प्रति उन्मुख थे। इसके लिये बहुत दिन तक उन्हें भ्रम रहा कि गांधी वर्ग संघर्ष पर विश्वास करते हैं। यही कारण था कि गांधी द्वारा निर्देशित समाजवाद उन्हें यथेष्ठ लगा था। गांधी पूंजीपति वर्ग तथा जमींदार वर्ग के अस्तित्व को सुरक्षित रखने की नीति पर चल रहे थे, प्रेमचंद उसे संघर्ष द्वारा उन्मूलन करने पर तुले थे। गांधी का समाजवाद अमेरिका के समाजवाद से प्रेरित था। जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति मान्य थी, इसके विरुद्ध प्रेमचंद रूसी समाजवाद चाहते थे। जो वैयक्तिक पूँजी का विरोधी था। अतः गांधी और प्रेमचंद का समाजवाद अलग दृष्टिकोण लिये हुये था या कह सकते हैं एक दूसरे का विरोधी था। गांधी अहिंसात्मक तरीका यानी समझौता, सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह का मार्ग चुनते थे, प्रेमचंद समझौता व सविनय अवज्ञा को गौण मानते थे। यहाँ तक कि सत्याग्रह को भी अधिक भरोसे की चीज न मान कर उपेक्षित करने लगे थे। वह आवश्यकता पड़ने पर हिंसात्मक क्रांति का आह्वान करना भी उचित समझते थे। हालांकि यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिये कि प्रेमचंद का विश्वास रक्तमय क्रांति पर नहीं था किन्तु गांधी की तरह वह अहिंसाभक्त भी नहीं थे उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि यदि हिंसात्मक क्रांति यदि विश्वास में आ जाय तो हेय नहीं है। इन्द्रनाथ मदान को लिखे गये अपने 26 दिसम्बर 1934 के पत्र में आशंका व्यक्त की–"क्रांति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह संदिग्ध है। हो सकता है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीनकर तानाशाही के घृणित रूप में हमारे सामने आ खड़ी हो। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वंस से हमें स्वर्ग मिलेगा तो मैंने ध्वंस की भी चिंता नहीं की होती।"[89]

यह आशंका की है पर विरोध नहीं झलकता। इसका कारण असहयोग और हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त के प्रति कम विश्वास होना है और उसके बाद का रास्ता क्रांति ही है। 'दरिन्दों के बीच हथियार बांधने' और पूँजीपति वर्ग का खात्मा करने से अभिप्राय रक्तमय क्रांति से ही है। वर्ग समन्वय के वह घोर विरोधी थे। गांधी की समन्वयवादी नीति का बखान जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में—''गांधी जनता के जीवन मान को एक अत्यन्त साधारण क्षमता के आगे बढ़ाना नहीं चाहते, क्योंकि उच्च जीवन मान से वासना तथा पाप की उत्पत्ति हो सकती है। समाजवाद में दिये जाने वाले आश्वासन उन्हें आकर्षित नहीं करते और पूँजीवाद भी उन्हें अंशत सह्य है।''

अतः गांधी एक ओर लोगों से आवश्यकताएँ कम करने का उपदेश देते हैं—भौतिकता का विरोध करते हैं—दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग का समर्थन करते हैं। प्रेमचंद ऐसी विरोधी स्थिति नहीं पालते, वह भौतिकता के समर्थक हैं किन्तु पूँजीवाद के विरोधी। उन्हें यह विश्वास है कि भौतिकता की आंच से कोई बच नहीं सकता। अतः कूपमण्डूक बने रहना मूर्खता है किन्तु पूँजीवाद खतरनाक है, उन्नति और समाजवाद के मार्ग में उसका उन्मूलन होना जरूरी है जो क्रांति से सम्भव है, समझौता से नहीं। अतः गांधी के समाजवाद से प्रेमचंद का समाजवाद अधिक प्रगतिशील, सामयिक और निष्पक्ष है जो मार्क्स के अधिक निकट है। नेहरू की तरह वह अहिंसा को मूलतः नीति ही मानते थे—धर्म कहने के बावजूद इसीलिए कांग्रेस का आह्वान करते हैं। प्रेमचंद का समाजवाद नेहरू का समाजवाद है। उन्होंने गांधी तथा नेहरू के समाजवाद में अंतर माना है। उनका विश्वास भी था कि गांधीवादी समाजवाद प्रगतिशील नहीं है। कांग्रेस के गरमदली वामपंथ के वह समर्थक थे जिस ओर नेहरू, सुभाष आदि का झुकाव था, वे गांधी नीति से असंतुष्ट थे। प्रेमचंद ने नेहरू की ओर अपना झुकाव व्यक्त करते हुये 9 अक्टूबर 1933 को लेख 'कांग्रेस और सोशलिज्म' में लिखा है—''महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के राजनैतिक आदर्शों में बड़ा अंतर है। महात्मा गांधी जी महत्वाकांक्षी हैं। जवाहरलाल नेहरू महात्मा नहीं हम और आप जैसे मनुष्य हैं। अहिंसा पं० जवाहरलाल नेहरू के लिये और महात्मा जी के सिवा सम्पूर्ण भारत के लिये एक नीति है, धर्म नहीं, विश्वास नहीं। यह खुला हुआ भेद है। महात्मा जी तो सोशलिज्म से भी आगे बढ़े हुये हैं। कम्युनिज्म से भी वह अपरिग्रहवादी हैं। पंडित जी सोशलिस्ट हैं, और उनके साथ कांग्रेस का बहुत बड़ा भाग सोशलिस्ट है। अगर आज कांग्रेस का रेफरेण्डम हो तो बहुमत सोशलिज्म का होगा पर उसके एक ही दो कदम पीछे कम्युनिज्म भी नजर आयेगा। कांग्रेस सम्पत्तिधारियों से खामख्वाह झगड़ा करने की इच्छुक नहीं। उसका बहुत बड़ा बहुमत अभी तक महात्मा जी के साथ हृदय परिवर्तन का समर्थक है, रक्तमय क्रांति का नहीं। जवाहरलाल सोशलिस्ट हैं जैसे प्रायः सभी कांग्रेसी मैन हैं, व्यवहार से हो या न हो पर विचार से अवश्य हैं और सोशलिस्ट जायदाद वालों का दोस्त नहीं होता, चाहे दुश्मन हो।''[90]

निष्कर्षतः प्रेमचंद गांधी की अपेक्षा नेहरू समर्थित समाजवाद के प्रशंसक थे। इसीलिए वैयक्तिक पूँजी का विरोध कर उन्होंने पूंजीवाद के शीघ्र समाप्ति का स्वप्न देखा था—''पर लक्षण बता रहे हैं कि निकट भविष्य में आज कल का पूँजीवाद जन

पर पड़ा होगा और उसकी लाश पर समाजवाद की धारा बह रही होगी।"91" गांधी का स्वराज्य पूंजीपतियों का स्वराज्य था पर प्रेमचंद रूस जैसा स्वराज्य चाहते थे। एक लेख में लिखा–"हम पूंजीपतियों का स्वराज्य नहीं चाहते, गरीबों का, काश्तकारों का, मजदूरों का स्वराज्य चाहते हैं।"92" मजदूरों का यह स्वराज्य क्रांति से ही सम्भव है, शोषकों के विरुद्ध हथियार बांधने से। प्रेमचंद सोशलिस्ट थे। उनका पत्र जागरण और हंस भी सोशलिस्ट पेपर था। उन्होंने भारत सम्पादक को लिखे गये अपने 25 सितम्बर 1934 के पत्र में स्पष्ट किया था–"मैं खुद सोशलिस्ट विचारों का आदमी हूँ। और मेरी सारी जिन्दगी गरीबों और दलितों की वकालत करते गुजरी है। जागरण एक ऐसा पत्र था जिसने घाटे की परवाह न करते हुये वीरता के साथ सोशलिज्म का प्रचार किया।"93"

यह सिद्ध हो जाता है कि प्रेमचंद नेहरू को सोशलिज्म का आदर्श मानते थे। इसके लिये साम्राज्यवाद से मुक्ति पहली शर्त थी और दूसरी स्वदेशी पूंजीपतियों से संघर्ष। 1936 में उन्होंने लिखा था–"हमें यह मालुम होने लगा है कि देश का उद्धार किसी न किसी रूप में समाजवाद के हाथों होगा, हाँ इतना आवश्यक है जैसा पं० जवाहरलाल ने बार–बार कहा है जब तक साम्राज्यवाद का विध्वंस न होगा, साम्यवाद की गाड़ी आगे न चलेगी।"94"

यही नहीं, प्रेमचंद का सम्बन्ध रूसी समाजवादियों से था। उन्होंने रूस पर कई प्रशंसात्मक लेख भी लिखे। उनका सम्बन्ध ऐसे लेखकों से था जो सोवियत रूस पर तथा कम्युनिज्म पर लेख लिखते थे। इस आधार पर भी उन्हें समाजवादी कहा जाता है। कुंवर पाल सिंह ने अपने लेख में लिखा है–"मर्यादा के सम्पादक के रूप में प्रेमचंद ने विभिन्न लेखकों के कई प्रशंसात्मक लेख प्रकाशित किये जैसे–धनी और मजदूरों का भीषण संघर्ष, रूस की दशा, राजनीति शासन का आदर्श, सोशलिज्म की बाइविल, दास कपिटल, बोल्शेविज्म आदि। प्रेमचंद का वाम विचारधारा के अपने समकालीनों से गहरा [illegible]र्क भी रहा है। प्रताप और प्रभा के सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी से यह सम्पर्क 1920 से विद्यार्थी जी के बलिदान तक बना रहा।"95" विद्यार्थी जी के बलिदान पर लेख लिखकर भी उन्होंने अपना वैचारिक झुकाव जाहिर किया।

कुछ ऐसे अन्य भी मुद्दे थे जिन पर गांधी से उनका मतभेद था। विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेने के वह हिमायती थे पर पढ़ाई छोड़कर नहीं, इसीलिए देवदास गांधी की घोषणा पर उन्होंने रुष्ट होकर 1933 में लिखा था–"पर हम यह नहीं चाहते कि वे इसके लिए पढ़ाई छोड़ दें अपने अवकाश के समय ही यदि उन्होंने यह कार्य किया तो महात्मा गांधी का काम पूरा हो जायेगा।"96"

इसी बात का उल्लेख करते हुये उनके शिष्य मन्जूरूल हक कलीम ने संस्मरण में लिखा है–"जब असहयोग में नौकरी से अलग हुए तो तमाम लड़के स्कूल छोड़ने पर आमादा हो गये। मगर आपने सबों को रोका कि यह रास्ता बहुत कठिन है। मैं तो इस काबिल हो गया हूँ कि अपने तथा बच्चों का पेट पाल लूँ।"97"

गांधी जी हरिजनों के लिए अलग आवास तथा विद्यालय खोलने की मांग कर रहे थे। प्रेमचंद इसके विरोधी थे क्योंकि इससे भेदभाव अधिक दृढ़ होगा। उन्होंने हरिजन

छात्रालय के गांधी निर्णय का विरोध करते हुये 5 सितम्बर 1932 को लिखा–"नागपुर में हरिजन बालकों के लिये एक अलग छात्रालय बनाया गया है। इससे तो अछूतपन मिटेगा नहीं और दृढ़ होगा। उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिये।"98"

अतः प्रेमचंद गांधी से प्रभावित होते हुये भी गांधीवादी नहीं थे, जिस हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त के प्रति आकर्षित हुये थे, बाद में असहमति व्यक्त करने लगे। उन्हें परम्परा और अनुभव से जो भी तार्किक लगा उसे ग्रहण किया। यह संयोग था कि उसकी संगति गांधी से कहीं बैठती गयी–कहीं नहीं। यदि गांधी भारतीय संस्कृति के हिमायती थे और आरम्भ से ही प्रेमचंद का आकर्षण भी मध्यवर्गीय चेतना के तहत भारतीय संस्कृति के प्रति गहरा था। जिन टाल्सटाय से गांधी प्रभावित थे, प्रेमचंद भी उसी समय सीधे टाल्सटाय के भक्त थे। यदि गांधी न होते तब भी प्रेमचंद के मौलिक चिंतन में मौलिक बदलाव न आता। गांधी जैसा सहायक पाकर और उनमें अपने सिद्धान्त के क्रियान्वयन की सम्भावना प्रतीत कर प्रेमचंद गांधी से जुड़े वरना गांधी के पहले ही गांधीवादी कहे जाने वाले विचारों से वह अवगत थे और उसके हिमायती बने थे। गांधी ने उनके जीवन दर्शन में, निर्माण में सहायक की भूमिका निभायी, गुरू की नहीं। दोनों को गुरू भाई कहना भी उचित है पर प्रेमचंद को सिर्फ गांधीवादी कहना गलत है। उनकी विचारधारा में कई अन्य वादों और विचारधाराओं के प्रगतिशील तत्व घुले मिले थे।

अतः यह मानना उपयुक्त होगा कि प्रेमचंद का चिंतन मौलिक चिंतन था। मध्यवर्गीय चेतना के कारण उनके विचारों में एकरूपता नहीं है। किन्तु जो धारा गरमदल की ओर आरम्भ में प्रवाहित हुयी थी वह अंत तक प्रवाहित रही। हाँ, गांधी प्रभाव के तीक्ष्ण प्रकाश में कुछ धीमी जरूर हो गयी थी। मूलतः प्रेमचंद मौलिक लेखक थे। अनुभवों में तप कर अनुदिन अधिक प्रखर और साफ होती जाती विचारधारा बिना अतिरिक्त संबल ग्रहण किये निरन्तर प्रवाहशील रही। यही कारण है कि मैं प्रेमचंद को गांधीवादी नहीं मानता हाँ उनसे कुछ प्रभावित जरूर मानता हूँ। प्रभाव की इस धारा में संयोग का बहुत बड़ा हाथ था किसी से प्रभावित होना, अनुयायी होना नहीं है जबकि निजी चिंतन और संयोग उसकी सीमा हों।

संदर्भ :

1. कलम का सिपाही–अमृत राय–पृ०-81.
2. कांग्रेस का इतिहास–पट्टाभि सीतारमैया–पृ०-81.
3. वही, पृ०-70.
4. आत्मकथा–महात्मा गांधी–पृ०-111.
5. आत्मकथा–राजेन्द्र प्रसाद–पृ०-62.
6. गांधी जी और उनका वाद–ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद–पृ०-20.
7. भारत वर्तमान और भावी–पृ०-183.

पर पड़ा होगा और उसकी लाश पर समाजवाद की धारा बह रही होगी।"91" गांधी का स्वराज्य पूंजीपतियों का स्वराज्य था पर प्रेमचंद रूस जैसा स्वराज्य चाहते थे। एक लेख में लिखा–"हम पूंजीपतियों का स्वराज्य नहीं चाहते, गरीबों का, काश्तकारों का, मजदूरों का स्वराज्य चाहते हैं।"92" मजदूरों का यह स्वराज्य क्रांति से ही सम्भव है, शोषकों के विरुद्ध हथियार बांधने से। प्रेमचंद सोशलिस्ट थे। उनका पत्र जागरण और हंस भी सोशलिस्ट पेपर था। उन्होंने भारत सम्पादक को लिखे गये अपने 25 सितम्बर 1934 के पत्र में स्पष्ट किया था–"मैं खुद सोशलिस्ट विचारों का आदमी हूँ। और मेरी सारी जिन्दगी गरीबों और दलितों की वकालत करते गुजरी है। जागरण एक ऐसा पत्र था जिसने घाटे की परवाह न करते हुये वीरता के साथ सोशलिज्म का प्रचार किया।"93"

यह सिद्ध हो जाता है कि प्रेमचंद नेहरू को सोशलिज्म का आदर्श मानते थे। इसके लिये साम्राज्यवाद से मुक्ति पहली शर्त थी और दूसरी स्वदेशी पूंजीपतियों से संघर्ष। 1936 में उन्होंने लिखा था–"हमें यह मालुम होने लगा है कि देश का उद्धार किसी न किसी रूप में समाजवाद के हाथों होगा, हाँ इतना आवश्यक है जैसा पं० जवाहरलाल ने बार–बार कहा है जब तक साम्राज्यवाद का विध्वंस न होगा, साम्यवाद की गाड़ी आगे न चलेगी।"94"

यही नहीं, प्रेमचंद का सम्बन्ध रूसी समाजवादियों से था। उन्होंने रूस पर कई प्रशंसात्मक लेख भी लिखे। उनका सम्बन्ध ऐसे लेखकों से था जो सोवियत रूस पर तथा कम्युनिज्म पर लेख लिखते थे। इस आधार पर भी उन्हें समाजवादी कहा जाता है। कुंवर पाल सिंह ने अपने लेख में लिखा है–"मर्यादा के सम्पादक के रूप में प्रेमचंद ने विभिन्न लेखकों के कई प्रशंसात्मक लेख प्रकाशित किये जैसे–धनी और मजदूरों का भीषण संघर्ष, रूस की दशा, राजनीति शासन का आदर्श, सोशलिज्म की बाइविल, दास कैपिटल, बोल्शेविज्म आदि। प्रेमचंद का वाम विचारधारा के अपने समकालीनों से गहरा क भी रहा है। प्रताप और प्रभा के सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी से यह सम्पर्क 1920 से विद्यार्थी जी के बलिदान तक बना रहा।"95" विद्यार्थी जी के बलिदान पर लेख लिखकर भी उन्होंने अपना वैचारिक झुकाव जाहिर किया।

कुछ ऐसे अन्य भी मुद्दे थे जिन पर गांधी से उनका मतभेद था। विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेने के वह हिमायती थे पर पढ़ाई छोड़कर नहीं, इसीलिए देवदास गांधी की घोषणा पर उन्होंने रुष्ट होकर 1933 में लिखा था–"पर हम यह नहीं चाहते कि वे इसके लिए पढ़ाई छोड़ दें अपने अवकाश के समय ही यदि उन्होंने यह कार्य किया तो महात्मा गांधी का काम पूरा हो जायेगा।"96"

इसी बात का उल्लेख करते हुये उनके शिष्य मन्जूरूल हक कलीम ने संस्मरण में लिखा है–"जब असहयोग में नौकरी से अलग हुए तो तमाम लड़के स्कूल छोड़ने पर आमादा हो गये। मगर आपने सबों को रोका कि यह रास्ता बहुत कठिन है। मैं तो इस काबिल हो गया हूँ कि अपने तथा बच्चों का पेट पाल लूँ।"97"

गांधी जी हरिजनों के लिए अलग आवास तथा विद्यालय खोलने की मांग कर रहे थे। प्रेमचंद इसके विरोधी थे क्योंकि इससे भेदभाव अधिक दृढ़ होगा। उन्होंने हरिजन

छात्रालय के गांधी निर्णय का विरोध करते हुये 5 सितम्बर 1932 को लिखा–"नागपुर में हरिजन बालकों के लिये एक अलग छात्रालय बनाया गया है। इससे तो अछूतपन मिटेगा नहीं और दृढ़ होगा। उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिये।"[98]

अतः प्रेमचंद गांधी से प्रभावित होते हुये भी गांधीवादी नहीं थे, जिस हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त के प्रति आकर्षित हुये थे, बाद में असहमति व्यक्त करने लगे। उन्हें परम्परा और अनुभव से जो भी तार्किक लगा उसे ग्रहण किया। यह संयोग था कि उसकी संगति गांधी से कहीं बैठती गयी–कहीं नहीं। यदि गांधी भारतीय संस्कृति के हिमायती थे और आरम्भ से ही प्रेमचंद का आकर्षण भी मध्यवर्गीय चेतना के तहत भारतीय संस्कृति के प्रति गहरा था। जिन टाल्सटाय से गांधी प्रभावित थे, प्रेमचंद भी उसी समय सीधे टाल्सटाय के भक्त थे। यदि गांधी न होते तब भी प्रेमचंद के मौलिक चिंतन में मौलिक बदलाव न आता। गांधी जैसा सहायक पाकर और उनमें अपने सिद्धान्त के क्रियान्वयन की सम्भावना प्रतीत कर प्रेमचंद गांधी से जुड़े वरना गांधी के पहले ही गांधीवादी कहे जाने वाले विचारों से वह अवगत थे और उसके हिमायती बने थे। गांधी ने उनके जीवन दर्शन में, निर्माण में सहायक की भूमिका निभायी, गुरू की नहीं। दोनों को गुरू भाई कहना भी उचित है पर प्रेमचंद को सिर्फ गांधीवादी कहना गलत है। उनकी विचारधारा में कई अन्य वादों और विचारधाराओं के प्रगतिशील तत्व घुले मिले थे।

अतः यह मानना उपयुक्त होगा कि प्रेमचंद का चिंतन मौलिक चिंतन था। मध्यवर्गीय चेतना के कारण उनके विचारों में एकरूपता नहीं है। किन्तु जो धारा गरमदल की ओर आरम्भ में प्रवाहित हुयी थी वह अंत तक प्रवाहित रही। हाँ, गांधी प्रभाव के तीक्ष्ण प्रकाश में कुछ धीमी जरूर हो गयी थी। मूलतः प्रेमचंद मौलिक लेखक थे। अनुभवों में तप कर अनुदिन अधिक प्रखर और साफ होती जाती विचारधारा बिना अतिरिक्त संबल ग्रहण किये निरन्तर प्रवाहशील रही। यही कारण है कि मैं प्रेमचंद को गांधीवादी नहीं मानता हाँ उनसे कुछ प्रभावित जरूर मानता हूँ। प्रभाव की इस धारा में संयोग का बहुत बड़ा हाथ था किसी से प्रभावित होना, अनुयायी होना नहीं है जबकि निजी चिंतन और संयोग उसकी सीमा हों।

संदर्भ :

1. कलम का सिपाही–अमृत राय–पृ०-81.
2. कांग्रेस का इतिहास–पट्टाभि सीतारमैया–पृ०-81.
3. वही, पृ०-70.
4. आत्मकथा–महात्मा गांधी–पृ०-111.
5. आत्मकथा–राजेन्द्र प्रसाद–पृ०-62.
6. गांधी जी और उनका वाद–ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद–पृ०-20.
7. भारत वर्तमान और भावी–पृ०-183.

8. गांधी जी और उनका वाद–पृ०-136.
9. वही, पृ०-21.
10. गांधीवाद–समाजवाद–काका कालेकर–पृ०-186.
11. गांधीवाद की शव परीक्षा–यशपाल–पृ०-10.
12. गांधीवाद–समाजवाद–पृ०-212.
13. वही, पृ०-206.
14. कर्मवीर गांधी (भूमिका) प्रेमचंद–पृ०-1.
15. विविध प्रसंग–भाग एक–प्रेमचंद.
16. कलम, तलवार और त्याग–पृ०-122.
17. कलम का सिपाही–पृ०-92.
18. चिट्ठी पत्री–भाग एक–प्रेमचंद.
19. विविध प्रसंग–भाग एक.
20. वही.
21. चिट्ठी पत्री–भाग एक.
22. वही.
23. वही.
24. कलम का सिपाही–पृ०-217.
25. प्रेमचंद : विरासत का सवाल–शिवकुमार मिश्र–पृ०-56.
26. चिट्ठी पत्री–भाग एक.
27. वही.
28. वही.
29. विविध प्रसंग–भाग एक.
30. चिट्ठी पत्री–भाग एक.
31. वही.
32. वही.
33. कलम का सिपाही–पृ०-244.
34. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-273.
35. वही, पृ०-276.
36. वही, पृ०-277.
37. विविध प्रसंग–भाग एक.
38. चिट्ठी पत्री–भाग एक.
39. वही.
40. वही.
41. वही.
42. वही.
43. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-22.

44. वही, पृ०-28.
45. साहित्य का उद्देश्य–पृ०-252.
46. वही.
47. चिट्ठी पत्री–भाग दो.
48. वही.
49. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-46.
50. कांग्रेस का इतिहास–पृ०-119.
51. चिट्ठी पत्री–भाग एक.
52. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-50.
53. चिट्ठी पत्री–भाग एक.
54. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-64.
55. चिट्ठी पत्री–भाग एक.
56. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-54.
57. वही, पृ०-74.
58. वही, पृ०-79.
59. चिट्ठी पत्री–भाग एक.
60. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-146.
61. वही, पृ०-260.
62. वही, पृ०-270.
63. वही, पृ०-146.
64. वही, पृ०-146.
65. वही.
66. वही, पृ०-163.
67. वही, पृ०-178.
68. वही, पृ०-166.
69. वही, पृ०-167.
70. चिट्ठी पत्री–भाग दो.
71. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-178.
72. वही, पृ०-183.
73. वही, पृ०-257.
74. वही, पृ०-270.
75. वही, पृ०-230.
76. वही, पृ०-333.
77. वही, पृ०-262.
78. वही, पृ०-368.
79. वही, पृ०-448.

80. वही, पृ०-449.
81. वही, पृ०-455.
82. वही, पृ०-464.
83. वही, पृ०-433.
84. वही, पृ०-244.
85. वही, पृ०-250.
86. वही, पृ०-269.
87. चिट्ठी पत्री–भाग दो.
88. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-445.
89. प्रेमचंद एक विवेचन–इन्द्रनाथ मदान–पृ०-145.
90. गांधी जी और राष्ट्रीय आंदोलन–जवाहर लाल नेहरू–पृ०-73.
91. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-270.
92. वही, पृ०-224.
93. वही, पृ०-220.
94. विविध प्रसंग–भाग एक.
95. विविध प्रसंग–भाग तीन–पृ०-295.
96. प्रेमचंद और जनवादी साहित्य की परम्परा–(सं०) कुँवरपाल सिंह–पृ०-46.
97. विविध प्रसंग–भाग दो–पृ०-461.
98. वही, पृ०-450.
99. प्रेमचंद स्मृति–अमृतराय–(सं०) पृ०-161.



प्रेमचंद द्वारा रचित साहित्य

.किसी भी साहित्यकार का साहित्य दो रूपों में लिखा जाता है। एक रूप उसके वैचारिक पक्ष से सम्बद्ध होता है अर्थात् वह जो कुछ सोचता है उसे अपने लेखों, पत्रों, भाषणों, टिप्पणियों, समीक्षाओं के माध्यम से प्रस्तुत करता है, जिसमें रचना धर्मिता की सहजता रहती है और अन्तस् के भाव बिना कल्पना का सहारा लिए मूल रूप में विकसित होते हैं। इसी से लेखक की बनती बिगड़ती मानसिकता और विकासमान विचारों-सिद्धान्तों की स्पष्टवादी प्रकृति को समझा जाता है। अतः यह रूप ईमानदारी पूर्वक जाने अनजाने अभिव्यक्त किए गए लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है, आईना होता है। इसी से लेखक की ईमानदारी का आकलन किया जाता है। यह हमारे बौद्धिक और तार्किक पक्ष को पुष्ट और प्रभावित करता है। साहित्य का दूसरा रूप रचनात्मक होता है और यह हमारी सौन्दर्याभिरूचि को प्रभावित करता है। साहित्यकार कल्पना के सहारे देश-काल के यथार्थ को प्रस्तुत करता है। इसी से सामाजिक यथार्थ के साथ आदर्श का भी मिश्रण करता है। इस प्रयास में वह कभी अपने वैचारिक लीक से थोड़ा बगल भी हो जाता है क्योंकि पाठक समुदाय की इच्छाएं उसके साथ-सम्प्रेषित होती हैं। यही कारण है कि कभी-कभी साहित्यकार के विचारात्मक साहित्य और रचनात्मक साहित्य के बीच थोड़ा फासला भी हो जाता है। यही फासला साहित्यकार के मूल्यांकन में सहायक होता है। इस फासले के कारण को समझे बिना साहित्यकार की निष्पक्ष आलोचना नहीं की जा सकती। सफल साहित्यकार वही होता है जिसके साहित्य में यह फासला कम से कम विद्यमान होता है।

विचारात्मक साहित्य

सुविधा के लिए हम प्रेमचंद के विचारात्मक साहित्य को अलग-अलग स्वतंत्र खण्डों में विभक्त कर मूल्यांकित करना उचित समझते हैं इससे सर्वांग पर दृष्टिपात करने के साथ ही एक निष्कर्ष निकालना सम्भव हो सकेगा। ये खण्ड निम्नवत् हैं :

1. साहित्यिक निबन्ध एवं समीक्षात्मक लेख
2. राजनैतिक लेख

3. सांस्कृतिक लेख (सामाजिक, धार्मिक एवं संस्कृति परक)
4. पुस्तक-समीक्षा
5. साहित्यकार-समीक्षा
6. लिखित जीवनियाँ एवं श्रद्धांजलियाँ
7. सम्पादकीय अग्रलेख
8. विविध लघु टिप्पणियाँ
9. पत्र
10. अनुवाद
11. बाल-साहित्य

साहित्यिक निबन्ध एवं समीक्षात्मक लेख

प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना मानते हैं। जीवन से भिन्न साहित्य अनुपयोगी होता है। अपने अनेक साहित्यिक निबन्धों में उन्होंने इसी तथ्य की वकालत की है। ये साहित्यिक निबन्ध उन्होंने प्रारम्भ से ही लिखना शुरू कर दिया था किन्तु 1905-6 से लेकर लगभग 1920 ई0 तक कोई भी स्वतंत्र, साहित्यिक विस्तृत निबन्ध उन्होंने नहीं लिखा। इतने से ही उनके साहित्यिक चिन्तन की सीमा 1920 के बाद से निर्धारित करना उचित न होगा क्योंकि उसके पहले उन्होंने साहित्यगत विचारों में परिपक्वता ग्रहण कर ली थी। 1905-6 ई0 से ही उनके अनेक प्रारंभिक लेखों, समीक्षाओं में साहित्य संबंधी विचार मिलने लगते हैं। अतः साहित्य संबंधी ये फुटकल विचार प्रारम्भ से लेकर बाद के विकसित काल यानी 1920 ई0 के बाद भी यथावत रहे अर्थात् फुटकल प्रारंम्भिक लेखों में साहित्य संबंधी जिन अवधारणाओं की सृष्टि उन्होंने की थी; 1920 ई0 के बाद लिखे गये साहित्यिक निबन्धों में भी उसी तेवर के दर्शन होते हैं। 1905 ई0 में 'कृष्ण कुंवर' नामक उर्दू उपन्यास की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था, ''कहानी और उपन्यास में केवल यह अंतर होता है कि कहानीकार केवल घटनाओं का चित्रण करता है और उपन्यासकार घटनाओं को रंगीन शब्दों में पेश करने की कोशिश करता है। कहीं तो उसमें जिन्दगी के किसी अहम मसले पर बहस की जाती है; कहीं मानव स्वभाव की व्याख्या, हृदय के भावों, आशाओं और निराशाओं के नक्शे उतारे जाते हैं, कहीं नैतिक बुराइयों को दूर करने की कोशिश की जाती है, उपन्यासकार कभी मित्र का काम करता है; कभी उपदेशक का, कभी दार्शनिक बनता है कभी आयुर्वेद का पंडित।''[1]

1906 में उन्होंने 'शरर और सरशार' नामक निबन्ध में लिखा कि उपन्यास को अलौकिक घटनाओं पर रोशनी नहीं डालनी चाहिए। उसे वर्तमान सभ्यता संस्कृति का चित्रण करना चाहिए। आगे लिखा "उपन्यास-कला का शिखर यही है कि साधारण और सीधी सादी लेखन शैली में जादू का रंग पैदा कर दिया जाय। पात्रों में जान डाल दी जाय, उनके जबान से जो शब्द निकलें वह खुद व खुद निकलें, निकाले न जायें।"[2] जिस तरह वह उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मानते थे और सरलता तथा बोधमयता उसका आवश्यक गुण, उसी तरह नाटक भी उनकी दृष्टि में सम्प्रेषणीय होना चाहिए। इसके लिए कला की जिन स्थितियों की अनिवार्यता उपन्यास में है, वही नाटक में भी। जमाना के फ़रवरी 1906 अंक में नाटक की कुछ पुस्तकों की समीक्षा करते हुए उन्होंने नाटक संबंधी विचारों को उल्लिखित किया है, "ड्रामे का सर्वोत्तम गुण यह है कि उसका एक-एक शब्द और एक-एक वाक्यांश हृदय के आवेग से गर्म हो और सुनने वाले के हृदय में कभी गुदगुदी कभी गर्मी, और घुलावट, कभी जोशोखरोश और गम और गुस्सा पैदा करें............जल्द-जल्द सीन बदलना दोषपूर्ण है।"[3]

वह अतिशयोक्ति को भी एक हद तक ही नाटक में ग्राह्य मानते हैं किन्तु अतिशयोक्ति की सीमा इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि यथार्थ लुप्त हो जाय। भाषा की सरलता नाटक में आवश्यक है क्योंकि शब्द काठिन्य सम्प्रेषणीयता में बाधक होता है। उन्होंने लिखा "ड्रामे के लिए शब्दों की सहजता और उपयुक्तता बहुत जरूरी चीज है।"[4]

प्रेमचन्द कविता और चित्रकला को समान उद्देश्य की पूर्ति करने वाली कृति मानते हैं। उनके प्रारम्भिक विचार इस संबंध में भी दृष्टव्य हैं। वह 1907 के एक निबन्ध 'चित्रकला' में लिखते हैं-"कविता की तरह चित्रकला भी मनुष्य की कोमल भावनाओं का परिणाम है। सच्ची कविता की परिभाषा यह है कि तस्वीर खींच दे। उसी तरह सच्ची चित्रकला का यह गुण है कि उसमें कविता का आनन्द आये। कविता का श्रेष्ठतम उद्देश्य मनुष्य को सुन्दरतम बनाना है।"[5]

प्रेमचन्द साहित्य को राष्ट्रीयता की भावना जगाने का साधन मानते थे। इसी निबन्ध में उन्होंने लिखा कि चित्रकला और कविता दोनों का उद्देश्य मनुष्य को राष्ट्रवादी बनाना है। इसी क्रम में उन्होंने कविता की अपेक्षा चित्रकला को सामाजिक एवं राष्ट्रीयतावादी वस्तु सिद्ध किया।"[6]

प्रेमचंद साहित्य के लिए सरल-सहज भाषा-शैली की अपेक्षा करते हैं।

3. सांस्कृतिक लेख (सामाजिक, धार्मिक एवं संस्कृति परक)
4. पुस्तक-समीक्षा
5. साहित्यकार-समीक्षा
6. लिखित जीवनियाँ एवं श्रद्धांजलियाँ
7. सम्पादकीय अग्रलेख
8. विविध लघु टिप्पणियाँ
9. पत्र
10. अनुवाद
11. बाल-साहित्य

साहित्यिक निबन्ध एवं समीक्षात्मक लेख

प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना मानते हैं। जीवन से भिन्न साहित्य अनुपयोगी होता है। अपने अनेक साहित्यिक निबन्धों में उन्होंने इसी तथ्य की वकालत की है। ये साहित्यिक निबन्ध उन्होंने प्रारम्भ से ही लिखना शुरू कर दिया था किन्तु 1905-6 से लेकर लगभग 1920 ई0 तक कोई भी स्वतंत्र, साहित्यिक विस्तृत निबन्ध उन्होंने नहीं लिखा। इतने से ही उनके साहित्यिक चिन्तन की सीमा 1920 के बाद से निर्धारित करना उचित न होगा क्योंकि उसके पहले उन्होंने साहित्यगत विचारों में परिपक्वता ग्रहण कर ली थी। 1905-6 ई0 से ही उनके अनेक प्रारंभिक लेखों, समीक्षाओं में साहित्य संबंधी विचार मिलने लगते हैं। अतः साहित्य संबंधी ये फुटकल विचार प्रारम्भ से लेकर बाद के विकसित काल यानी 1920 ई0 के बाद भी यथावत रहे अर्थात् फुटकल प्रारंम्भिक लेखों में साहित्य संबंधी जिन अवधारणाओं की सृष्टि उन्होंने की थी; 1920 ई0 के बाद लिखे गये साहित्यिक निबन्धों में भी उसी तेवर के दर्शन होते हैं। 1905 ई0 में 'कृष्ण कुंवर' नामक उर्दू उपन्यास की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था, "कहानी और उपन्यास में केवल यह अंतर होता है कि कहानीकार केवल घटनाओं का चित्रण करता है और उपन्यासकार घटनाओं को रंगीन शब्दों में पेश करने की कोशिश करता है। कहीं तो उसमें जिन्दगी के किसी अहम मसले पर बहस की जाती है; कहीं मानव स्वभाव की व्याख्या, हृदय के भावों, आशाओं और निराशाओं के नक्शे उतारे जाते हैं, कहीं नैतिक बुराइयों को दूर करने की कोशिश की जाती है, उपन्यासकार कभी मित्र का काम करता है; कभी उपदेशक का, कभी दार्शनिक बनता है कभी आयुर्वेद का पंडित।"[1]

1906 में उन्होंने 'शरर और सरशार' नामक निबन्ध में लिखा कि उपन्यास को अलौकिक घटनाओं पर रोशनी नहीं डालनी चाहिए। उसे वर्तमान सभ्यता संस्कृति का चित्रण करना चाहिए। आगे लिखा "उपन्यास-कला का शिखर यही है कि साधारण और सीधी सादी लेखन शैली में जादू का रंग पैदा कर दिया जाय। पात्रों में जान डाल दी जाय, उनके जबान से जो शब्द निकलें वह खुद व खुद निकलें, निकाले न जायें।"[2] जिस तरह वह उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मानते थे और सरलता तथा बोधमयता उसका आवश्यक गुण, उसी तरह नाटक भी उनकी दृष्टि में सम्प्रेषणीय होना चाहिए। इसके लिए कला की जिन स्थितियों की अनिवार्यता उपन्यास में है, वही नाटक में भी। जमाना के फ़रवरी 1906 अंक में नाटक की कुछ पुस्तकों की समीक्षा करते हुए उन्होंने नाटक संबंधी विचारों को उल्लिखित किया है, "ड्रामे का सर्वोत्तम गुण यह है कि उसका एक-एक शब्द और एक-एक वाक्यांश हृदय के आवेग से गर्म हो और सुनने वाले के हृदय में कभी गुदगुदी कभी गर्मी, और घुलावट, कभी जोशोखरोश और गम और गुस्सा पैदा करें............जल्द-जल्द सीन बदलना दोषपूर्ण है।"[3]

वह अतिशयोक्ति को भी एक हद तक ही नाटक में ग्राह्य मानते हैं किन्तु अतिशयोक्ति की सीमा इतनी अधिक नहीं होनी चाहिए कि यथार्थ लुप्त हो जाय। भाषा की सरलता नाटक में आवश्यक है क्योंकि शब्द काठिन्य सम्प्रेषणीयता में बाधक होता है। उन्होंने लिखा "ड्रामे के लिए शब्दों की सहजता और उपयुक्तता बहुत जरूरी चीज है।"[4]

प्रेमचन्द कविता और चित्रकला को समान उद्देश्य की पूर्ति करने वाली कृति मानते हैं। उनके प्रारम्भिक विचार इस संबंध में भी दृष्टव्य हैं। वह 1907 के एक निबन्ध 'चित्रकला' में लिखते हैं-"कविता की तरह चित्रकला भी मनुष्य की कोमल भावनाओं का परिणाम है। सच्ची कविता की परिभाषा यह है कि तस्वीर खींच दे। उसी तरह सच्ची चित्रकला का यह गुण है कि उसमें कविता का आनन्द आये। कविता का श्रेष्ठतम उद्देश्य मनुष्य को सुन्दरतम बनाना है।"[5]

प्रेमचन्द साहित्य को राष्ट्रीयता की भावना जगाने का साधन मानते थे। इसी निबन्ध में उन्होंने लिखा कि चित्रकला और कविता दोनों का उद्देश्य मनुष्य को राष्ट्रवादी बनाना है। इसी क्रम में उन्होंने कविता की अपेक्षा चित्रकला को सामाजिक एवं राष्ट्रीयतावादी वस्तु सिद्ध किया।"[6]

प्रेमचंद साहित्य के लिए सरल-सहज भाषा-शैली की अपेक्षा करते हैं।

शैली का हास्य और व्यंग्य प्रधान होना ज्यादा असरदार होता है। 1906 के लेख 'शरर और सरशार' में उन्होंने इसे प्रकट किया है। फिर 1916 के एक लेख "हँसी" में भी उन्होंने यही लिखा "गद्य हो या पद्य हँसी दिल्लगी उसकी आत्मा है और उसके बगैर वह रूखी सूखी और बेमजा है।"[7]

उपन्यास के संबंध में वह सरशार से सहमत थे क्योंकि उनके उपन्यासों में सत् और असत् भावनाओं का सम्पूर्ण चित्र अंकित है। वह समस्या का वर्णन करना ही उसकी उपयोगिता मानते हैं। वह लिखते हैं-"बहुधा किसी घटना का वर्णन करना स्वयं एक निष्कर्ष होता है।.......मनुष्य की भावनाओं और स्थितियों व प्रकृति के दृश्यों और संसार के चमत्कारों की तस्वीर खींचना स्वयं एक निष्कर्ष या नतीजा है......विज्ञान या दर्शन की बारीकियों को हल करने के लिए उपन्यासकार बनाया ही नहीं गया है।"[8]

उपन्यास के लिए वह आस्कर ब्राउनिंग के बताये सिद्धान्तों को आवश्यक मानते हैं....."1. सशक्त वर्णन शैली, 2. हँसी मजाक कर सकना, 3. दर्शन, 4. ड्रामा या किसी घटना में अनायास प्रभाव उत्पन्न कर देना। सीनरी का लम्बा चौड़ा बयान कला का दोष है।"[9]

तात्पर्य यह कि प्रेमचंद के प्रारम्भिक साहित्य सम्बन्धी विचारों के आधार पर एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है क्योंकि ये विचार बाद के (1920 के बाद) विचारों से मेल खाते हैं। विचार स्वतंत्र निबंधों और फुटकल लेखों में बिखरे पड़े हैं जैसा कि उनके प्रारम्भिक लेखन से अवगत है। यही बात वह अपने 1936 के लम्बे निबन्ध "साहित्य का उद्देश्य" में लिखते हैं..."मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।"[10] वह सत्य और असत्य के संग्राम का चित्रण करने वाली विधा को साहित्य मानते हैं। वह परम्परित सुन्दरता की कसौटी बदलने की बात करते हैं। 'साहित्य का उद्देश्य' में उन्होंने लिखा-"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व है, इसे वह कदाचित स्वीकार नहीं करता। इसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है, उस बच्चों वाली रूपरहित स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है।"[11]

निश्चय ही साहित्य के इस उद्देश्य के पीछे गरीबों की पक्षधरता निहित है जिसे प्रेमचंद के सम्पूर्ण साहित्य में देखा जा सकता है। जब प्रेमचन्द साहित्य द्वारा स्वाधीनता और स्वाभाविकता की आकांक्षा करते हैं तो प्रकृति

से बढ़कर कोई अन्य सहायक उन्हें नहीं मिलता क्योंकि प्राकृतिक सौन्दर्य उन्मुक्तपूर्ण, आरम्भिक आह्लाद प्रदायक होता है, अन्य लौकिक, मानव-निर्मित सौन्दर्य अनुकृति होने के नाते सत्य से दूर होता है।

उस समय जब प्रगतिशील आंदोलन को एक वाद के दायरे में बांधा जा रहा था प्रेमचंद ने प्रगतिशीलता की बड़ी निष्पक्ष व्याख्या की जिसे आज भी प्रगतिवादी नहीं समझते। वे तो प्रगतिशील को प्रगतिवाद का पर्याय मानते हैं। जो अवैज्ञानिक और भ्रांतिपूर्ण हैं। प्रेमचंद ने कितना सत्य लिखा-"प्रगतिशील लेखक संघ, यह विचार ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार भी न होता।"[12]

प्रेमचन्द साहित्य का एक उद्देश्य "कर्म का उपदेश" देना भी मानते हैं। इकबाल की तरह प्रेमचंद भी जीवन का रहस्य संघर्ष में मानते हैं।

वह साहित्य को कला की तरह उपयोगी वस्तु मानते हैं क्योंकि उसका उपयोग मनुष्य की मनोवृत्ति जगाने और बदलने के लिए किया जाता है। वह उपदेश देता है और मनुष्य को कर्तव्य पथ पर दृढ़ रखने की शक्ति भी। उसे शोषकों का विरोध और शोषितों की पक्षधरता करनी चाहिए। उसे राजनीति की दासी बनाना अनुचित है, वह तो राजनीति को निर्धारित करने में तथा उसका नेतृत्व करने में एडवांस गार्ड तथा मशाल का कार्य करता है। उन्होंने लिखा-"वह देश भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"[13] यहीं नहीं साहित्यकार राष्ट्रवादी होने के साथ सार्वभौमिक होता है। उसकी यही सार्वभौमिकता उसे अनन्तकाल तक अजर-अमर बनाये रखती है, वह कभी पुराना नहीं पड़ता। प्रेमचंद का यह दृष्टिकोण समूची मानवता के उद्धार के लिए प्रयत्नशील दिखता है। शायद इसीलिए वह साहित्य का उद्देश्य सुन्दर और सत्य को मानते हैं क्योंकि सुन्दर और सत्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। प्रेमचंद अमीरों का मुंह जोहने वाले और अमीरों की भाषा शैली अपनाने वाले साहित्यकार को निकृष्ट कोटि का मानते हैं। सच्चा साहित्यकार गरीबों का पक्षधर होता है और उन्हीं की भाषा शैली अपनाता है। कदाचित इसी कारण वह इतिहासकार भी होता है। प्रेमचंद यही स्वीकार करते हैं-"साहित्य ही सच्चा इतिहास है। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयां ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का

नाम है और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन सी वस्तु डाल सकती है। क्योंकि साहित्य अपने देश काल का प्रतिबिम्ब होता है।"[14]

प्रेमचंद साहित्य को आदर्शवादी मानते हैं। इसीलिए वह साहित्य के माध्यम से मनुष्य के देवत्व को जगाना चाहते हैं। जगाने की यह प्रक्रिया उपदेश देकर नहीं सम्पन्न की जा सकती क्योंकि साहित्य उपदेश का कार्य करने में अक्षम होता है। प्रेमचंद मानते हैं कि मनुष्य की कोमल भावनाओं पर चोट करके तथा भावों को प्रकृति के आदर्श से जोड़कर ही साहित्यिक रूचि पैदा करना साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए। भावों का सौन्दर्य ही साहित्य का आधार होना चाहिए। लेकिन निरा भावुकता ही श्रेय नहीं है उसमें बुद्धिवाद का हस्तक्षेप आवश्यक है। प्रेमचंद इसीलिए बुद्धिवाद को भावुकता को नियंत्रित करने का साधन मानते हैं। वह मनोविज्ञान को भी महत्व देते हैं। उनका विश्वास है कि आधुनिक साहित्य मनोविज्ञान के बिना अपूर्ण है।

साहित्य में हास्य और व्यंग्य, श्रृंगारिकता और रसिकता भी आवश्यक है। वह लिखते हैं-"रसिकता, भोजन रूपी जीवन के लिए चटनी के समान है जो उसके स्वाद और रूचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर कोई जीवित नहीं रह सकता।"[15]

प्रेमचंद का एक तर्क यह भी है कि साहित्य को ईश्वर विमुख होना चाहिए। इसीलिए वह ईश्वर विमुख किए जाने वाले साहित्यिक आंदोलन का स्वागत करते हैं। वह लिखते हैं-"साहित्य की नवीन प्रगति ईश्वर से विमुख हो रही है। इस विद्रोह को बहुत पहले खड़ा हो जाना चाहिए था। जहां मेल है, सामंजस्य है, वहीं ईश्वर है। नकली ईश्वरवाद से आत्मवाद प्रस्फुटित हो रहा है।"[16]

प्रेमचंद साहित्य और फिल्म को परस्पर विरोधी मानते हैं। क्योंकि फिल्म से साहित्य के किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। इसलिए फिल्म साहित्य के विकास में बाधक ही नहीं त्याज्य भी है। उनका तर्क है-"वहां (सिनेमा) का जलवायु ही ऐसा है कि आदर्शवादी भी जाय तो नमक की खान में नमक बन कर रह जाय।........साहित्य जनरूचि का पथ-प्रदर्शक होता है उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जनरूचि के पीछे चलता है। जनता जो कुछ मांगे वही देता है। साहित्य हमारी सुन्दर भावना का स्पर्श कर हमें आनन्द प्रदान करता है। सिनेमा हमारी कुत्सित भावनाओं को स्पर्श कर हमें मतवाला बनाता है।"[17]

उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो। यह सारी लड़ाई मुट्ठी भर शिक्षित आदमियों की है।"[330]" जाति-पाँति, छुआ-छूत और धार्मिक साम्प्रदायिक दंगों में मध्यवर्ग ही शरीक होता है। 'कायाकल्प' का चक्रधर इसका विरोध करता है और समाज तथा देश को प्रगतिशील विचारों से जोड़कर देखता है।

'गबन' में एक साथ कई मध्यवर्गीय समस्याएँ प्रेमचंद उठाते हैं और उन तमाम आदतों का चित्रण करते हैं जिनके कारण मध्यवर्ग की अलग पहचान कायम होती है जैसे मिथ्या प्रदर्शन प्रियता, रिश्वत, गबन, मुखबिरी, स्वार्थमय मिथ्याचारिता, कुण्ठा और विषमतायें, मिथ्याभिमान, फैशनेबुल बनकर सामान्य जनता से दूर होते जाने की त्रासदी, युनिवर्सिटी शिक्षा के कुप्रभाव, वेश्याचारिता, विधवा समस्या, संयुक्त कुटुम्ब की त्रासदी आदि। दयानाथ पारिवारिक मर्यादा के लिए बेटे की शादी में कर्ज लेकर तथा गहने उधार लेकर प्रदर्शन करता है जो पारिवारिक अशांति का कारण बनता है। उसका पुत्र रमानाथ उससे भी बढ़कर है। सदैव आमदनी से अधिक खर्च करता है और सामाजिक सम्मान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दोस्तों से उधार लेकर कपड़े, घड़ी पहन कर ससुराल जाता है, बी० ए० न कर पाने पर भी युनिवर्सिटी की अंग्रेजी शिक्षा की पूरी छाप अपने ऊपर छोड़ लेता है। फिजूलखर्ची, फैशनपरस्ती, स्वार्थपरता, मिथ्याप्रदर्शन प्रियता, पराश्रिता, अभिमान और संकटों में हार जाने वाले मन का निर्माण उसकी शिक्षा का परिणाम होता है। प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-"घर की असली दशा को वह सदैव बदनामी की तरह छिपाता रहा। यह उसी का परिणाम था कि इतने मित्रों के होते हुए भी वह बेकार था।.....पत्नी से तीस की नौकरी बताना अपमान की बात थी।.... वह साहबी ठाठ बनाकर दफ्तर पर रोब जमाना चाहता था।"[331]" 'उधार हार लेकर रमा घर आया......रतन से कंगन का रूपया लेकर अपना उधार चुकता किया.....तगादे से तंग आकर घूस देना शुरू किया पर जालपा से भेद नहीं खोला.....ऋणी होने पर रास्ता बदल कर मुंह छिपा कर चलने लगा......फिर तंग आकर गबन किया।'.......इन वाक्यांशों से स्पष्ट है कि रमानाथ में मध्यवर्गीय चरित्र की सभी कमजोरियाँ विद्यमान हैं। प्रेमचंद लिखते हैं-"अगर जालपा मोह के इस झोंके में अपने को स्थिर रख सकती, अगर रमा संकोच के आगे सिर न झुका देता, दोनों के हृदय में प्रेम का सच्चा प्रकाश होता, तो वे पथभ्रष्ट होकर सर्वनाश की ओर न जाते।"[332]" रमा के समान उसकी पत्नी जालपा भी स्त्री समाज में

नाम है और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन सी वस्तु डाल सकती है। क्योंकि साहित्य अपने देश काल का प्रतिबिम्ब होता है।"[14]

प्रेमचंद साहित्य को आदर्शवादी मानते हैं। इसीलिए वह साहित्य के माध्यम से मनुष्य के देवत्व को जगाना चाहते हैं। जगाने की यह प्रक्रिया उपदेश देकर नहीं सम्पन्न की जा सकती क्योंकि साहित्य उपदेश का कार्य करने में अक्षम होता है। प्रेमचंद मानते हैं कि मनुष्य की कोमल भावनाओं पर चोट करके तथा भावों को प्रकृति के आदर्श से जोड़कर ही साहित्यिक रूचि पैदा करना साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए। भावों का सौन्दर्य ही साहित्य का आधार होना चाहिए। लेकिन निरा भावुकता ही श्रेय नहीं है उसमें बुद्धिवाद का हस्तक्षेप आवश्यक है। प्रेमचंद इसीलिए बुद्धिवाद को भावुकता को नियंत्रित करने का साधन मानते हैं। वह मनोविज्ञान को भी महत्व देते हैं। उनका विश्वास है कि आधुनिक साहित्य मनोविज्ञान के बिना अपूर्ण है।

साहित्य में हास्य और व्यंग्य, श्रृंगारिकता और रसिकता भी आवश्यक है। वह लिखते हैं-"रसिकता, भोजन रूपी जीवन के लिए चटनी के समान है जो उसके स्वाद और रूचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर कोई जीवित नहीं रह सकता।"[15]

प्रेमचंद का एक तर्क यह भी है कि साहित्य को ईश्वर विमुख होना चाहिए। इसीलिए वह ईश्वर विमुख किए जाने वाले साहित्यिक आंदोलन का स्वागत करते हैं। वह लिखते हैं-"साहित्य की नवीन प्रगति ईश्वर से विमुख हो रही है। इस विद्रोह को बहुत पहले खड़ा हो जाना चाहिए था। जहां मेल है, सामंजस्य है, वहीं ईश्वर है। नकली ईश्वरवाद से आत्मवाद प्रस्फुटित हो रहा है।"[16]

प्रेमचंद साहित्य और फिल्म को परस्पर विरोधी मानते हैं। क्योंकि फिल्म से साहित्य के किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। इसलिए फिल्म साहित्य के विकास में बाधक ही नहीं त्याज्य भी है। उनका तर्क है-"वहां (सिनेमा) का जलवायु ही ऐसा है कि आदर्शवादी भी जाय तो नमक की खान में नमक बन कर रह जाय।........साहित्य जनरूचि का पथ-प्रदर्शक होता है उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जनरूचि के पीछे चलता है। जनता जो कुछ मांगे वही देता है। साहित्य हमारी सुन्दर भावना का स्पर्श कर हमें आनन्द प्रदान करता है। सिनेमा हमारी कुत्सित भावनाओं को स्पर्श कर हमें मतवाला बनाता है।"[17]

उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो। यह सारी लड़ाई मुट्ठी भर शिक्षित आदमियों की है।"330" जाति-पाँति, छुआ-छूत और धार्मिक साम्प्रदायिक दंगों में मध्यवर्ग ही शरीक होता है। 'कायाकल्प' का चक्रधर इसका विरोध करता है और समाज तथा देश को प्रगतिशील विचारों से जोड़कर देखता है।

'गबन' में एक साथ कई मध्यवर्गीय समस्याएँ प्रेमचंद उठाते हैं और उन तमाम आदतों का चित्रण करते हैं जिनके कारण मध्यवर्ग की अलग पहचान कायम होती है जैसे मिथ्या प्रदर्शन प्रियता, रिश्वत, गबन, मुखबिरी, स्वार्थमय मिथ्याचारिता, कुण्ठा और विषमतायें, मिथ्याभिमान, फैशनेबुल बनकर सामान्य जनता से दूर होते जाने की त्रासदी, युनिवर्सिटी शिक्षा के कुप्रभाव, वेश्याचारिता, विधवा समस्या, संयुक्त कुटुम्ब की त्रासदी आदि। दयानाथ पारिवारिक मर्यादा के लिए बेटे की शादी में कर्ज लेकर तथा गहने उधार लेकर प्रदर्शन करता है जो पारिवारिक अशांति का कारण बनता है। उसका पुत्र रमानाथ उससे भी बढ़कर है। सदैव आमदनी से अधिक खर्च करता है और सामाजिक सम्मान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दोस्तों से उधार लेकर कपड़े, घड़ी पहन कर ससुराल जाता है, बी0 ए0 न कर पाने पर भी युनिवर्सिटी की अंग्रेजी शिक्षा की पूरी छाप अपने ऊपर छोड़ लेता है। फिजूलखर्ची, फैशनपरस्ती, स्वार्थपरता, मिथ्याप्रदर्शन प्रियता, पराश्रिता, अभिमान और संकटों में हार जाने वाले मन का निर्माण उसकी शिक्षा का परिणाम होता है। प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-"घर की असली दशा को वह सदैव बदनामी की तरह छिपाता रहा। यह उसी का परिणाम था कि इतने मित्रों के होते हुए भी वह बेकार था।......पत्नी से तीस की नौकरी बताना अपमान की बात थी।..... वह साहबी ठाठ बनाकर दफ्तर पर रोब जमाना चाहता था।"331" 'उधार हार लेकर रमा घर आया......रतन से कंगन का रूपया लेकर अपना उधार चुकता किया.....तगादे से तंग आकर घूस देना शुरू किया पर जालपा से भेद नहीं खोला.....ऋणी होने पर रास्ता बदल कर मुंह छिपा कर चलने लगा......फिर तंग आकर गबन किया।'.......इन वाक्यांशों से स्पष्ट है कि रमानाथ में मध्यवर्गीय चरित्र की सभी कमजोरियाँ विद्यमान हैं। प्रेमचंद लिखते हैं-"अगर जालपा मोह के इस झोंके में अपने को स्थिर रख सकती, अगर रमा संकोच के आगे सिर न झुका देता, दोनों के हृदय में प्रेम का सच्चा प्रकाश होता, तो वे पथभ्रष्ट होकर सर्वनाश की ओर न जाते।"332" रमा के समान उसकी पत्नी जालपा भी स्त्री समाज में

से ज्यादा खर्च करने के आदी हैं क्योंकि प्रदर्शन प्रियता और फिजूल-खर्ची इस वर्ग का गुण है। दूसरी ओर डा0 भुवन मोहन भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक है जो शादी में अधिक दहेज की माँग करता है। यहाँ प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि दहेज ही मध्यवर्गीय परिवार को संकट में डालता है और निर्दोष बालिकायें निर्मला की तरह अनमेल विवाह की शिकार होती हैं। आज आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के बीच छटपटाता मध्यवर्गीय नारी समाज कितना निरीह है। यह दहेज कभी वर पक्ष की ओर से जबरन मांगा जाता है तो अक्सर कन्या पक्ष के लोग अपनी मर्यादा को दिखाने के लिए बिना मांगे भी देते हैं और आर्थिक संकट में पड़ते हैं।

'रंगभूमि' में ताहिर का परिवार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य में निम्न मध्य वर्ग के चित्रण के लिहाज से अनूठा है। उसकी दशा, पारिवारिक कलह, झूठी मर्यादा के लिए प्रदर्शन प्रियता, पैसे-पैसे की बेईमानी उसके रग-रग में है। ताहिर अपने परिवार के लिए और मर्यादा बनाये रखने के लिए स्वयं को मिटा देता है, बच्चे भूखे मरते हैं, घरनी गहने बेचकर भी परिवार पालन नहीं कर पाती और लांछित होती है। विमाताओं से तंग रहता हुआ भी जगहंसाई के डर से उन्हें कष्ट नही होने देता और सौतेले भाई के लिए सर्वस्व बलिदान कर देता है, जबकि वह भी स्वार्थी हो जाता है। ताहिर कहता है-"दोस्तों मैं इस (माहिर दरोगा) बेवफा, दगाबाज, कमीने आदमी का भाई हूँ। मैंने अपने बच्चों को, अपने कुनबे को, अपनी जाति को इसके लिए मिटा दिया। उसकी माँ और भाइयों के लिए मैंने सब कुछ सहा।"[327]" इसकी पत्नी कुल्सूम निम्न मध्यवर्ग के आत्म सम्मान और स्वाभिमान का प्रतीक है। जो विषम परिस्थितियों का हँस कर मुकाबला करती है। डॉ0 गांगुली मध्यवर्गीय राजनैतिक चेतना को उभारते हैं। अंग्रेजी शासन और सभ्यता को वह गुलामी का कारण मानते हुए कहते हैं-"काउंसिल कुछ नहीं कर सकता है।"[328]"

"कायाकल्प" में मध्यवर्गीय सुधार भावना की अभिव्यक्ति हुई है। चक्रधर, लौंगी, मनोरमा और अहिल्या के माध्यम से प्रेम-विवाह, दहेज, विधवा और साम्प्रदायिकता की भावना उभारी गयी है। बज्रधर, हरिसेवक और यशोदा नंदन पुरातनवादी हैं। इसमें प्रेमचंद धर्म औंर राजनीति को जोड़कर देखते हैं। उनका विश्वास है कि साम्प्रदायिकता शिक्षित समुदाय की उपज है। चक्रधर कहता है-"सारा जुल्म हमारे पढ़े लिखे भाई ही कर रहे हैं। हमारी शिक्षा ने हमें पंगु बना दिया है।"[329]" एक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं-"क्या साम्प्रदायिकता

उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो। यह सारी लड़ाई मुट्ठी भर शिक्षित आदमियों की है।"[330]" जाति-पाँति, छुआ-छूत और धार्मिक साम्प्रदायिक दंगों में मध्यवर्ग ही शरीक होता है। 'कायाकल्प' का चक्रधर इसका विरोध करता है और समाज तथा देश को प्रगतिशील विचारों से जोड़कर देखता है।

'गबन' में एक साथ कई मध्यवर्गीय समस्याएँ प्रेमचंद उठाते हैं और उन तमाम आदतों का चित्रण करते हैं जिनके कारण मध्यवर्ग की अलग पहचान कायम होती है जैसे मिथ्या प्रदर्शन प्रियता, रिश्वत, गबन, मुखबिरी, स्वार्थमय मिथ्याचारिता, कुण्ठा और विषमतायें, मिथ्याभिमान, फैशनेबुल बनकर सामान्य जनता से दूर होते जाने की त्रासदी, युनिवर्सिटी शिक्षा के कुप्रभाव, वेश्याचारिता, विधवा समस्या, संयुक्त कुटुम्ब की त्रासदी आदि। दयानाथ पारिवारिक मर्यादा के लिए बेटे की शादी में कर्ज लेकर तथा गहने उधार लेकर प्रदर्शन करता है जो पारिवारिक अशांति का कारण बनता है। उसका पुत्र रमानाथ उससे भी बढ़कर है। सदैव आमदनी से अधिक खर्च करता है और सामाजिक सम्मान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दोस्तों से उधार लेकर कपड़े, घड़ी पहन कर ससुराल जाता है, बी0 ए0 न कर पाने पर भी युनिवर्सिटी की अंग्रेजी शिक्षा की पूरी छाप अपने ऊपर छोड़ लेता है। फिजूलखर्ची, फैशनपरस्ती, स्वार्थपरता, मिथ्याप्रदर्शन प्रियता, पराश्रिता, अभिमान और संकटों में हार जाने वाले मन का निर्माण उसकी शिक्षा का परिणाम होता है। प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-"घर की असली दशा को वह सदैव बदनामी की तरह छिपाता रहा। यह उसी का परिणाम था कि इतने मित्रों के होते हुए भी वह बेकार था।......पत्नी से तीस की नौकरी बताना अपमान की बात थी।..... वह साहबी ठाठ बनाकर दफ्तर पर रोब जमाना चाहता था।"[331]" 'उधार हार लेकर रमा घर आया......रतन से कंगन का रूपया लेकर अपना उधार चुकता किया......तगादे से तंग आकर घूस देना शुरू किया पर जालपा से भेद नहीं खोला.....ऋणी होने पर रास्ता बदल कर मुंह छिपा कर चलने लगा.......फिर तंग आकर गबन किया।'.......इन वाक्यांशों से स्पष्ट है कि रमानाथ में मध्यवर्गीय चरित्र की सभी कमजोरियाँ विद्यमान हैं। प्रेमचंद लिखते हैं-"अगर जालपा मोह के इस झोंके में अपने को स्थिर रख सकती, अगर रमा संकोच के आगे सिर न झुका देता, दोनों के हृदय में प्रेम का सच्चा प्रकाश होता, तो वे पथभ्रष्ट होकर सर्वनाश की ओर न जाते।"[332]" रमा के समान उसकी पत्नी जालपा भी स्त्री समाज में

से ज्यादा खर्च करने के आदी हैं क्योंकि प्रदर्शन प्रियता और फिजूल-खर्ची इस वर्ग का गुण है। दूसरी ओर डा0 भुवन मोहन भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक है जो शादी में अधिक दहेज की माँग करता है। यहाँ प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि दहेज ही मध्यवर्गीय परिवार को संकट में डालता है और निर्दोष बालिकायें निर्मला की तरह अनमेल विवाह की शिकार होती हैं। आज आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के बीच छटपटाता मध्यवर्गीय नारी समाज कितना निरीह है। यह दहेज कभी वर पक्ष की ओर से जबरन मांगा जाता है तो अक्सर कन्या पक्ष के लोग अपनी मर्यादा को दिखाने के लिए बिना मांगे भी देते हैं और आर्थिक संकट में पड़ते हैं।

'रंगभूमि' में ताहिर का परिवार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य में निम्न मध्य वर्ग के चित्रण के लिहाज से अनूठा है। उसकी दशा, पारिवारिक कलह, झूठी मर्यादा के लिए प्रदर्शन प्रियता, पैसे-पैसे की बेईमानी उसके रग-रग में है। ताहिर अपने परिवार के लिए और मर्यादा बनाये रखने के लिए स्वयं को मिटा देता है, बच्चे भूखे मरते हैं, घरनी गहने बेचकर भी परिवार पालन नहीं कर पाती और लांछित होती है। विमाताओं से तंग रहता हुआ भी जगहंसाई के डर से उन्हें कष्ट नही होने देता और सौतेले भाई के लिए सर्वस्व बलिदान कर देता है, जबकि वह भी स्वार्थी हो जाता है। ताहिर कहता है-''दोस्तों मैं इस (माहिर दरोगा) बेवफा, दगाबाज, कमीने आदमी का भाई हूँ। मैंने अपने बच्चों को, अपने कुनबे को, अपनी जाति को इसके लिए मिटा दिया। उसकी माँ और भाइयों के लिए मैंने सब कुछ सहा।''[327] इसकी पत्नी कुल्सूम निम्न मध्यवर्ग के आत्म सम्मान और स्वाभिमान का प्रतीक है। जो विषम परिस्थितियों का हँस कर मुकाबला करती है। डॉ0 गांगुली मध्यवर्गीय राजनैतिक चेतना को उभारते हैं। अंग्रेजी शासन और सभ्यता को वह गुलामी का कारण मानते हुए कहते हैं-''काउंसिल कुछ नहीं कर सकता है।''[328]

''कायाकल्प'' में मध्यवर्गीय सुधार भावना की अभिव्यक्ति हुई है। चक्रधर, लौंगी, मनोरमा और अहिल्या के माध्यम से प्रेम-विवाह, दहेज, विधवा और साम्प्रदायिकता की भावना उभारी गयी है। बज्रधर, हरिसेवक और यशोदा नंदन पुरातनवादी हैं। इसमें प्रेमचंद धर्म और राजनीति को जोड़कर देखते हैं। उनका विश्वास है कि साम्प्रदायिकता शिक्षित समुदाय की उपज है। चक्रधर कहता है-''सारा जुल्म हमारे पढ़े लिखे भाई ही कर रहे हैं। हमारी शिक्षा ने हमें पंगु बना दिया है।''[329] एक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं-''क्या साम्प्रदायिकता

उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो। यह सारी लड़ाई मुट्ठी भर शिक्षित आदमियों की है।"[330]" जाति-पाँति, छुआ-छूत और धार्मिक साम्प्रदायिक दंगों में मध्यवर्ग ही शरीक होता है। 'कायाकल्प' का चक्रधर इसका विरोध करता है और समाज तथा देश को प्रगतिशील विचारों से जोड़कर देखता है।

'गबन' में एक साथ कई मध्यवर्गीय समस्याएँ प्रेमचंद उठाते हैं और उन तमाम आदतों का चित्रण करते हैं जिनके कारण मध्यवर्ग की अलग पहचान कायम होती है जैसे मिथ्या प्रदर्शन प्रियता, रिश्वत, गबन, मुखबिरी, स्वार्थमय मिथ्याचारिता, कुण्ठा और विषमतायें, मिथ्याभिमान, फैशनेबुल बनकर सामान्य जनता से दूर होते जाने की त्रासदी, युनिवर्सिटी शिक्षा के कुप्रभाव, वेश्याचारिता, विधवा समस्या, संयुक्त कुटुम्ब की त्रासदी आदि। दयानाथ पारिवारिक मर्यादा के लिए बेटे की शादी में कर्ज लेकर तथा गहने उधार लेकर प्रदर्शन करता है जो पारिवारिक अशांति का कारण बनता है। उसका पुत्र रमानाथ उससे भी बढ़कर है। सदैव आमदनी से अधिक खर्च करता है और सामाजिक सम्मान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दोस्तों से उधार लेकर कपड़े, घड़ी पहन कर ससुराल जाता है, बी0 ए0 न कर पाने पर भी युनिवर्सिटी की अंग्रेजी शिक्षा की पूरी छाप अपने ऊपर छोड़ लेता है। फिजूलखर्ची, फैशनपरस्ती, स्वार्थपरता, मिथ्याप्रदर्शन प्रियता, पराश्रिता, अभिमान और संकटों में हार जाने वाले मन का निर्माण उसकी शिक्षा का परिणाम होता है। प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-"घर की असली दशा को वह सदैव बदनामी की तरह छिपाता रहा। यह उसी का परिणाम था कि इतने मित्रों के होते हुए भी वह बेकार था।......पत्नी से तीस की नौकरी बताना अपमान की बात थी।..... वह साहबी ठाठ बनाकर दफ्तर पर रोब जमाना चाहता था।"[331]" 'उधार हार लेकर रमा घर आया......रतन से कंगन का रूपया लेकर अपना उधार चुकता किया......तगादे से तंग आकर घूस देना शुरू किया पर जालपा से भेद नहीं खोला.....ऋणी होने पर रास्ता बदल कर मुंह छिपा कर चलने लगा.......फिर तंग आकर गबन किया।'.......इन वाक्यांशों से स्पष्ट है कि रमानाथ में मध्यवर्गीय चरित्र की सभी कमजोरियाँ विद्यमान हैं। प्रेमचंद लिखते हैं-"अगर जालपा मोह के इस झोंके में अपने को स्थिर रख सकती, अगर रमा संकोच के आगे सिर न झुका देता, दोनों के हृदय में प्रेम का सच्चा प्रकाश होता, तो वे पथभ्रष्ट होकर सर्वनाश की ओर न जाते।"[332]" रमा के समान उसकी पत्नी जालपा भी स्त्री समाज में

से ज्यादा खर्च करने के आदी हैं क्योंकि प्रदर्शन प्रियता और फिजूल-खर्ची इस वर्ग का गुण है। दूसरी ओर डा0 भुवन मोहन भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक है जो शादी में अधिक दहेज की माँग करता है। यहाँ प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि दहेज ही मध्यवर्गीय परिवार को संकट में डालता है और निर्दोष बालिकायें निर्मला की तरह अनमेल विवाह की शिकार होती हैं। आज आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के बीच छटपटाता मध्यवर्गीय नारी समाज कितना निरीह है। यह दहेज कभी वर पक्ष की ओर से जबरन मांगा जाता है तो अक्सर कन्या पक्ष के लोग अपनी मर्यादा को दिखाने के लिए बिना मांगे भी देते हैं और आर्थिक संकट में पड़ते हैं।

'रंगभूमि' में ताहिर का परिवार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य में निम्न मध्य वर्ग के चित्रण के लिहाज से अनूठा है। उसकी दशा, पारिवारिक कलह, झूठी मर्यादा के लिए प्रदर्शन प्रियता, पैसे-पैसे की बेईमानी उसके रग-रग में है। ताहिर अपने परिवार के लिए और मर्यादा बनाये रखने के लिए स्वयं को मिटा देता है, बच्चे भूखे मरते हैं, घरनी गहने बेचकर भी परिवार पालन नहीं कर पाती और लांछित होती है। विमाताओं से तंग रहता हुआ भी जगहंसाई के डर से उन्हें कष्ट नही होने देता और सौतेले भाई के लिए सर्वस्व बलिदान कर देता है, जबकि वह भी स्वार्थी हो जाता है। ताहिर कहता है-"दोस्तों मैं इस (माहिर दरोगा) बेवफा, दगाबाज, कमीने आदमी का भाई हूँ। मैंने अपने बच्चों को, अपने कुनबे को, अपनी जाति को इसके लिए मिटा दिया। उसकी माँ और भाइयों के लिए मैंने सब कुछ सहा।"[327] इसकी पत्नी कुल्सूम निम्न मध्यवर्ग के आत्म सम्मान और स्वाभिमान का प्रतीक है। जो विषम परिस्थितियों का हँस कर मुकाबला करती है। डॉ0 गांगुली मध्यवर्गीय राजनैतिक चेतना को उभारते हैं। अंग्रेजी शासन और सभ्यता को वह गुलामी का कारण मानते हुए कहते हैं-"काउंसिल कुछ नहीं कर सकता है।"[328]

"कायाकल्प" में मध्यवर्गीय सुधार भावना की अभिव्यक्ति हुई है। चक्रधर, लौंगी, मनोरमा और अहिल्या के माध्यम से प्रेम-विवाह, दहेज, विधवा और साम्प्रदायिकता की भावना उभारी गयी है। बज्रधर, हरिसेवक और यशोदा नंदन पुरातनवादी हैं। इसमें प्रेमचंद धर्म औंर राजनीति को जोड़कर देखते हैं। उनका विश्वास है कि साम्प्रदायिकता शिक्षित समुदाय की उपज है। चक्रधर कहता है-"सारा जुल्म हमारे पढ़े लिखे भाई ही कर रहे हैं। हमारी शिक्षा नें हमें पंगु बना दिया है।"[329] एक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं-"क्या साम्प्रदायिकता

हैं? वह तो लिविंग का स्टैन्डर्ड ऊँचा कर रहे हैं तो लड़के भी क्यों न ऊँचा करें।"[342]" यहाँ गिरते और बदलते नैतिक मूल्यों का संकेत प्रेमचंद देते हैं। कहानियों में प्रेमचंद शिक्षकों की फैशन परस्ती को रेखांकित करते हैं।

जहाँ एक ओर विद्यार्थी समुदाय आंदोलन के साथ होता जा रहा था वहीं पश्चिमी नकल करके भारतीय संस्कृति से विमुख भी होता जा रहा था। यद्यपि अंग्रेजी संस्कृति स्वार्थ प्रधान है इसलिए युवकों, विद्यार्थियों का कुण्ठित होना भी स्वाभाविक था। वह एक लेख में लिखते हैं-"हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धांत, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारा आचार व्यवहार, सभी हमारे कल्चर के अंग हैं। पर आज हम कितनी बेदर्दी से कल्चर की जड़ काट रहे हैं। हमारी योग्यता और विद्वता की यही एक परख हो गयी है कि अंग्रेजी में कितने कुशल हैं। मुझे तो आप सिर से पांव तक गुलाम नजर आते हैं। हमारी सभ्यता कहती है" अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओ; पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है- अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओं, चाहे उसके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने ही लिए जिओ और अपने ही लिए मरो। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय प्रधान है जहाँ हम सारे बंधनों से मुक्त हो दुराचरण में पड़ जाते हैं, उसमें परिवार का अर्थ केवल स्त्री और पुरुष हैं, इसमें स्वार्थ और संकीर्णता प्रधान है, सेवा और त्याग नहीं, अपनी संस्कृति को खो बैठे तो हमारा अंत हो जाएगा।"[343]" "अकबर की शायरी" की समीक्षा करते हुए प्रेमचंद एक जगह लिखते हैं।-"एक तरफ पश्चिमी सभ्यता का सिक्का फिर रहा है, दूसरी ओर पूर्वी सभ्यता दिलों पर आधिपत्य जमाये हुए है। जिन्दगी के हर पहलू में उलट-पुलट का जमाना है। अभी किसी हालत पर ठहराव की सूरत पैदा नहीं हो रही है और इसीलिए तरह-तरह की बुराइयाँ दिखायी दे रही हैं।"[344]" एक पत्र में अपने लड़के को युनिवर्सिटी के विषाक्त माहौल में न भेजने का विचार प्रेमचंद व्यक्त करते हुए दयानारायण निगम को लिखते हैं-"यह युनिवर्सिटी में न पढ़ते तो अच्छा था, घमण्डी बदतमीज, दु:शील, मिजाज में हरदर्जा उद्दण्डता, सहानूभूति शून्य, खुद परस्त और उजड़्ड, यह आम रविश है। अपवाद भी है लेकिन बहुत कम। लड़कियों में भी यह दोष नुमायाँ है। लक्षण बता रहे हैं कि आने वाला जमाना गृहस्थी के लिए कातिल होगा।"[345]"

शिक्षित मध्यवर्ग कुण्ठाओं का शिकार इसी शिक्षा और सभ्यता के कारण हो रहा है। इसे प्रेमचंद बार-बार उभारते हैं। अमरकांत, सलीम,

असहयोग व अहिंसा आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ में सुखदा, नैना, मुन्नी, रेणुका जैसी मध्यवर्गीय नारियाँ भी हैं। दूसरी ओर सलीम और आत्मानंद भी सुभाषचंद्र से प्रभावित हो क्रांतिकारी आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते दिखायी देते हैं। इस तरह प्रेमचंद तत्कालीन समाज में मध्यवर्ग की राजनैतिक भूमिका स्पष्ट करते हैं। गाँधी और सुभाष के अहिंसात्मक और हिंसात्मक दोनों आंदोलनों का सूत्र मध्यवर्ग और खासकर शिक्षित मध्यवर्ग-विद्यार्थी व अध्यापक के हाथों में देखकर प्रेमचंद आश्वस्त थे। इस समय तक आंदोलन तेज हो गया था। यद्यपि गांधी का प्रभामंडल निस्तेज होता जा रहा था, शिक्षित मध्यवर्ग के हाथों नेतृत्व की लगाम होने के कारण आंदोलन हिंसात्मक नहीं हो पा रहा था। अमरकांत अंत तक आंदोलन को अपने अनुसार गांधीवादी नीतियों से चलाता है और उपन्यास का अंत भी समझौतावादी ढंग से सम्पन्न कर गाँधी के विजय का संकेत देता है। अमरकांत में मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति के पूरे गुण मिल जाते हैं। प्रेमचंद उसे "दिलजला त्यागी" कहते हैं। वह प्रेमिका को दिखाने के लिए और अभिमानी पिता को झुकाने के लिए देशप्रेमी बनता है जबकि उसके सारे कार्य स्वार्थ से भरे होते हैं। पत्नी को आंदोलन में शरीक होते देख आंदोलन में भाग लेकर जेल जाता है ताकि पत्नी के समक्ष सर ऊँचा कर सके। प्रदर्शन-प्रियता, अहंकार और स्वार्थमय कर्तव्य उसके खास गुण हैं।

डॉ० शांति कुमार शिक्षा नीति पर जो विचार व्यक्त करते हैं वे मध्यवर्ग विचार हैं-"यह किराये की तालीम हमारे कैरेक्टर को तवाह किये डालती हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है। व्यापार से ज्यादा नफा हाता है। तालीम में ज्यादा खर्च करो, ज्यादा ऊँचा ओहदा पावोगे। मैं चाहता हूँ ऊँची से ऊँची तालीम सबके लिए सुलभ हों। युनिवर्सिटी के दरवाजे सब के लिए खुले रखना चाहता हूँ।"[340] अमरकांत भी इसे अनुभव करता हुआ सोचता है-"जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है डिग्री की नहीं, हमारी डिग्री है- हमारा सेवाभाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरलता।उसे इस शिक्षा से ही घृणा हो गयी थी, जब वह अपने अध्यापकों को फैशन की गुलामी करते, स्वार्थ के लिए नाक रगड़ते, कम से कम काम करके अधिक से अधिक लाभ के लिए हाथ पसारते देखता तो उसे घोर मानसिक वेदना होती थी। इन्हीं महानुभावों के हाथ में राष्ट्र की बागडोर।"[341] यही नहीं अपने एक पत्र में सलीम भी लिखता है-' यह जो अनगिनती लेक्चरर और प्रोफेसर हैं, क्या सबके सब सादी जिन्दगी के नमूना

हैं? वह तो लिविंग का स्टैन्डर्ड ऊँचा कर रहे हैं तो लड़के भी क्यों न ऊँचा करें।"342" यहाँ गिरते और बदलते नैतिक मूल्यों का संकेत प्रेमचंद देते हैं। कहानियों में प्रेमचंद शिक्षकों की फैशन परस्ती को रेखांकित करते हैं।

जहाँ एक ओर विद्यार्थी समुदाय आंदोलन के साथ होता जा रहा था वहीं पश्चिमी नकल करके भारतीय संस्कृति से विमुख भी होता जा रहा था। यद्यपि अंग्रेजी संस्कृति स्वार्थ प्रधान है इसलिए युवकों, विद्यार्थियों का कुण्ठित होना भी स्वाभाविक था। वह एक लेख में लिखते हैं-"हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धांत, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारा आचार व्यवहार, सभी हमारे कल्चर के अंग हैं। पर आज हम कितनी बेदर्दी से कल्चर की जड़ काट रहे हैं। हमारी योग्यता और विद्वता की यही एक परख हो गयी है कि अंग्रेजी में कितने कुशल हैं। मुझे तो आप सिर से पांव तक गुलाम नजर आते हैं। हमारी सभ्यता कहती है" अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओ; पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है- अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओं, चाहे उसके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने ही लिए जिओ और अपने ही लिए मरो। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय प्रधान है जहाँ हम सारे बंधनों से मुक्त हो दुराचरण में पड़ जाते हैं, उसमें परिवार का अर्थ केवल स्त्री और पुरुष हैं, इसमें स्वार्थ और संकीर्णता प्रधान है, सेवा और त्याग नहीं, अपनी संस्कृति को खो बैठे तो हमारा अंत हो जाएगा।"343" "अकबर की शायरी" की समीक्षा करते हुए प्रेमचंद एक जगह लिखते हैं।-"एक तरफ पश्चिमी सभ्यता का सिक्का फिर रहा है, दूसरी ओर पूर्वी सभ्यता दिलों पर आधिपत्य जमाये हुए है। जिन्दगी के हर पहलू में उलट-पुलट का जमाना है। अभी किसी हालत पर ठहराव की सूरत पैदा नहीं हो रही है और इसीलिए तरह-तरह की बुराइयाँ दिखायी दे रही हैं।"344" एक पत्र में अपने लड़के को युनिवर्सिटी के विषाक्त माहौल में न भेजने का विचार प्रेमचंद व्यक्त करते हुए दयानारायण निगम को लिखते हैं-"यह युनिवर्सिटी में न पढ़ते तो अच्छा था, घमण्डी बदतमीज, दुःशील, मिजाज में हरदर्जा उद्दण्डता, सहानूभूति शून्य, खुद परस्त और उजड्ड, यह आम रविश है। अपवाद भी है लेकिन बहुत कम। लड़कियों में भी यह दोष नुमायाँ है। लक्षण बता रहे हैं कि आने वाला जमाना गृहस्थी के लिए कातिल होगा।"345"

शिक्षित मध्यवर्ग कुण्ठाओं का शिकार इसी शिक्षा और सभ्यता के कारण हो रहा है। इसे प्रेमचंद बार-बार उभारते हैं। अमरकांत, सलीम,

असहयोग व अहिंसा आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ में सुखदा, नैना, मुन्नी, रेणुका जैसी मध्यवर्गीय नारियाँ भी हैं। दूसरी ओर सलीम और आत्मानंद भी सुभाषचंद्र से प्रभावित हो क्रांतिकारी आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते दिखायी देते हैं। इस तरह प्रेमचंद तत्कालीन समाज में मध्यवर्ग की राजनैतिक भूमिका स्पष्ट करते हैं। गाँधी और सुभाष के अहिंसात्मक और हिंसात्मक दोनों आंदोलनों का सूत्र मध्यवर्ग और खासकर शिक्षित मध्यवर्ग-विद्यार्थी व अध्यापक के हाथों में देखकर प्रेमचंद आश्वस्त थे। इस समय तक आंदोलन तेज हो गया था। यद्यपि गांधी का प्रभामंडल निस्तेज होता जा रहा था, शिक्षित मध्यवर्ग के हाथों नेतृत्व की लगाम होने के कारण आंदोलन हिंसात्मक नहीं हो पा रहा था। अमरकांत अंत तक आंदोलन को अपने अनुसार गांधीवादी नीतियों से चलाता है और उपन्यास का अंत भी समझौतावादी ढंग से सम्पन्न कर गाँधी के विजय का संकेत देता है। अमरकांत में मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति के पूरे गुण मिल जाते हैं। प्रेमचंद उसे "दिलजला त्यागी" कहते हैं। वह प्रेमिका को दिखाने के लिए और अभिमानी पिता को झुकाने के लिए देशप्रेमी बनता है जबकि उसके सारे कार्य स्वार्थ से भरे होते हैं। पत्नी को आंदोलन में शरीक होते देख आंदोलन में भाग लेकर जेल जाता है ताकि पत्नी के समक्ष सर ऊँचा कर सके। प्रदर्शन-प्रियता, अहंकार और स्वार्थमय कर्तव्य उसके खास गुण हैं।

डॉ0 शांति कुमार शिक्षा नीति पर जो विचार व्यक्त करते हैं वे मध्यवर्ग विचार हैं-"यह किराये की तालीम हमारे कैरेक्टर को तवाह किये डालती हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है। व्यापार से ज्यादा नफा हाता है। तालीम में ज्यादा खर्च करो, ज्यादा ऊँचा ओहदा पावोगे। मैं चाहता हूँ ऊँची से ऊँची तालीम सबके लिए सुलभ हों। युनिवर्सिटी के दरवाजे सब के लिए खुले रखना चाहता हूँ।"[340]" अमरकांत भी इसे अनुभव करता हुआ सोचता है-"जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है डिग्री की नहीं, हमारी डिग्री है- हमारा सेवाभाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरलता।उसे इस शिक्षा से ही घृणा हो गयी थी, जब वह अपने अध्यापकों को फैशन की गुलामी करते, स्वार्थ के लिए नाक रगड़ते, कम से कम काम करके अधिक से अधिक लाभ के लिए हाथ पसारते देखता तो उसे घोर मानसिक वेदना होती थी। इन्हीं महानुभावों के हाथ में राष्ट्र की बागडोर।"[341]" यही नहीं अपने एक पत्र में सलीम भी लिखता है-' यह जो नगिनती लेक्चरर और प्रोफेसर हैं, क्या सबके सब सादी जिन्दगी के नमूना

हैं, और पद सम्मान, धन प्राप्त करने की लालसा में आत्म हनन करने से नहीं चूकते। राय साहब उन्हें फटकारते हैं-"आप रिश्वत और कर्तव्य दोनों साथ-साथ नहीं निभा सकते। आप की निगाह हमेशा अपने लाभ की ओर रही है, प्रजा हित की ओर नहीं। जब कभी आप मैदान में आये हैं, उसका यही शुभ परिमाण हुआ है कि आपके सम्मान और आमदनी में इजाफा हुआ है।"[353] कहानियों में भी प्रेमचंद सम्पादकों को समाज का कलंक घोषित करते हैं-'जीवन का शाप', 'आखिरी हीला', 'रसिक सम्पादक', 'स्त्री व पुरूष', 'डिग्री के रूपये' और 'डिमांस्ट्रेशन'। इसके अतिरिक्त 'मुफ्त का यश', 'आप बीती' और 'लेखक' नामक कहानियां लेखक की समस्याओं से संबंधित हैं। सेवासदन में सम्पादक प्रभाकर सम्पादक के कर्तव्यों की याद करता है-"आप हम सम्पादकों के कर्तव्य को नहीं जानते। हम पब्लिक के सामने अपना हृदय खोलकर रखना अपना धर्म समझते हैं।"[354]

'गोदान' में मेहता और मालती के माध्यम से प्रेमचंद मध्यवर्ग को सामान्य जन से जोड़ते हैं। मेहता भारतीय समाज में वर्गीय आदर्शों की स्थापना करते हैं। वह आर्थिक प्रगति हेतु शोषण का विरोध करते हैं और जड़ पर कुल्हाड़ी चला कर शोषण के उन्मूलन की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। मेहता युनिवर्सिटी में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर हैं। मेहता एक ओर आदर्शवादी हैं दूसरी ओर स्वयं को प्रकृतिवादी भी कहते हैं। उनमें गांधीवाद और बुद्धिवाद की झलक भी दिखायी देती है। वह असमानता को प्रकृति का गुण मानते हुए रूस में भी असामनता की चर्चा करते हैं। इसी तरह छुआ-छूत को सामयिक मानते हैं। यह उनके बुद्धिवाद का प्रभाव है। वह कहते हैं-"धन को आप किसी अन्याय के बराबर फैला सकते हैं लेकिन बुद्धि को, चरित्र को और रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे-बड़े का भेद केवल धन से नहीं होता। मैंने बड़े-बड़े धन-कुवेरों को भिक्षुकों के सामने घुटने टेकते देखा है, रूप के चौखट पर बड़े-बड़े महीप नाक रगड़ते हैं। क्या वह सामाजिक विषमता नहीं है? आप रूस की मिसाल देंगे। वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राजकर्मचारी का रूप ले लिया है। बुद्धि तब भी राज करती थी, अब भी करती है और हमेशा करती रहेगी।"[355] इसमें बुद्धिवाद और प्रकृतिवाद दोनों का सारांश है, संकेत है।

मेहता प्रेम को सेवा और त्याग का अंश मानते हैं। वह पत्नी को आदर्श से गिरी हुई नहीं देख सकते। उनके अनुसार-"मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता

नीचे की ओर ले जाऊँगी । संसार को तुम जैसे साधकों की जरूरत है जो अपनेपन को इतना फैला दे कि सारा संसार अपना हो जाय। संसार में आतंक की अन्याय की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्धविश्वास का, कपट धर्म का स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने यह आर्त पुकार सुनी है। मैं भी तुम्हारे पीछे- पीछे चलूंगी।"[352]" मालती का उदगार समूची मानव जाति के उद्धार के लिए है जिसमें किसान, मजदूर, गरीब जनता, शोषित नारी सभी शामिल हैं। इस तरह मध्यवर्गीय शिक्षिता नारी को प्रेमचंद निम्नवर्ग की करूणा से जोड़ते हैं और समूचा मध्यवर्ग समाज के अन्य शोषित उपेक्षित वर्ग के साथ संयुक्त होता है। यद्यपि यह अति आदर्शवाद समाज का यथार्थ नहीं है, तत्कालीन परतंत्र भारत की आवश्यकता जरूर है। प्रेमचंद ने मालती के रूप में नारी मनोविज्ञान की बलि दी है।

गोदान में मालती के पिता मि0 कौल मध्यवर्गीय प्रदर्शन और अहंकार प्रियता के अच्छे उदाहरण हैं जो दलाली से धन कमातें हैं, उच्च मर्यादा और सम्मान अर्जित करने की इच्छा से लड़कियों को अंग्रेजी शिक्षा दिलाते हैं, फिजूलखर्ची हैं, शराब सेवन करते हैं, कर्जदार हैं और प्रदर्शन के लिए उच्च वर्ग के समकक्ष होने के लिए भोंड़ा प्रदर्शन करते हैं। मालती उन्हीं की एक लड़की है। दूसरी लड़की सरोज भी उन्हीं की तरह फैशनपरस्त है। वह विवाह को प्रेम के आधार पर मान्य ठहराती है। वह स्त्री के समानाधिकार की आवाज उठाती है और पुरुषों को दोषी ठहराती है। लेकिन मालती उनके इन विचारों का विरोध करती है और प्रगतिशील विचारों से मध्यवर्गीय नारी का प्रेरणास्रोत बनती है जो पाश्चात्य शिक्षा संस्कृति ग्रहण कर भी भारतीयता को नहीं छोड़ती और मानवता को जीवन की सार्थकता मानती है। "शांति" और "रहस्य" नामक कहानियों में भी प्रेमचंद नारी स्वातंत्र्य का समर्थन करते हैं। लेकिन उच्छृंखलता और तितलीपन का विरोध भी करते हैं जो पाश्चात्य शिक्षा-सस्कृति के प्रभाव की उपज है।

सम्पादकों, लेखकों को प्रेमचंद मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी वर्ग मानते हैं। किन्तु उनकी स्वार्थपरता, बेवशी और तंगी की समस्या भी उठाते हैं। "गोदान" के सम्पादक ओंकारनाथ विदेशी विज्ञापनों से धन बटोरते हैं, पैसा लेकर पूंजीपतियों-जमींदारों के शोषण को पत्र में नहीं छापते और जनहित की उपेक्षा करते हैं. भारतीयता का दम्भ भरते जरूर हैं लेकिन जनता को प्रभावित करने के लिए। आवश्यकता पड़ने पर धर्म त्याग कर मालती के हाथों शराब भी पीते

हैं, और पद सम्मान, धन प्राप्त करने की लालसा में आत्म हनन करने से नहीं चूकते। राय साहब उन्हें फटकारते हैं-"आप रिश्वत और कर्तव्य दोनों साथ-साथ नहीं निभा सकते। आप की निगाह हमेशा अपने लाभ की ओर रही है, प्रजा हित की ओर नहीं। जब कभी आप मैदान में आये हैं, उसका यही शुभ परिमाण हुआ है कि आपके सम्मान और आमदनी में इजाफा हुआ है।"[353] कहानियों में भी प्रेमचंद सम्पादकों को समाज का कलंक घोषित करते हैं-'जीवन का शाप', 'आखिरी हीला', 'रसिक सम्पादक', 'स्त्री व पुरूष', 'डिग्री के रूपये' और 'डिमांस्ट्रेशन'। इसके अतिरिक्त 'मुफ्त का यश', 'आप बीती' और 'लेखक' नामक कहानियां लेखक की समस्याओं से संबंधित हैं। सेवासदन में सम्पादक प्रभाकर सम्पादक के कर्तव्यों की याद करता है-"आप हम सम्पादकों के कर्तव्य को नहीं जानते। हम पब्लिक के सामने अपना हृदय खोलकर रखना अपना धर्म समझते हैं।"[354]

'गोदान' में मेहता और मालती के माध्यम से प्रेमचंद मध्यवर्ग को सामान्य जन से जोड़ते हैं। मेहता भारतीय समाज में वर्गीय आदर्शों की स्थापना करते हैं। वह आर्थिक प्रगति हेतु शोषण का विरोध करते हैं और जड़ पर कुल्हाड़ी चला कर शोषण के उन्मूलन की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। मेहता युनिवर्सिटी में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर हैं। मेहता एक ओर आदर्शवादी हैं दूसरी ओर स्वयं को प्रकृतिवादी भी कहते हैं। उनमें गांधीवाद और बुद्धिवाद की झलक भी दिखायी देती है। वह असमानता को प्रकृति का गुण मानते हुए रूस में भी असामनता की चर्चा करते हैं। इसी तरह छुआ-छूत को सामयिक मानते हैं। यह उनके बुद्धिवाद का प्रभाव है। वह कहते हैं-"धन को आप किसी अन्याय के बराबर फैला सकते हैं लेकिन बुद्धि को, चरित्र को और रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे-बड़े का भेद केवल धन से नहीं होता। मैंने बड़े-बड़े धन-कुवेरों को भिक्षुकों के सामने घुटने टेकते देखा है, रूप के चौखट पर बड़े-बड़े महीप नाक रगड़ते हैं। क्या वह सामाजिक विषमता नहीं है? आप रूस की मिसाल देंगे। वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राजकर्मचारी का रूप ले लिया है। बुद्धि तब भी राज करती थी, अब भी करती है और हमेशा करती रहेगी।"[355] इसमें बुद्धिवाद और प्रकृतिवाद दोनों का सारांश है, संकेत है।

मेहता प्रेम को सेवा और त्याग का अंश मानते हैं। वह पत्नी को आदर्श से गिरी हुई नहीं देख सकते। उनके अनुसार-"मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता

नीचे की ओर ले जाऊँगी । संसार को तुम जैसे साधकों की जरूरत है जो अपनेपन को इतना फैला दे कि सारा संसार अपना हो जाय। संसार में आतंक की अन्याय की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्धविश्वास का, कपट धर्म का स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने यह आर्त पुकार सुनी है। मैं भी तुम्हारे पीछे- पीछे चलूंगी।"[352]" मालती का उदगार समूची मानव जाति के उद्धार के लिए है जिसमें किसान, मजदूर, गरीब जनता, शोषित नारी सभी शामिल हैं। इस तरह मध्यवर्गीय शिक्षिता नारी को प्रेमचंद निम्नवर्ग की करूणा से जोड़ते हैं और समूचा मध्यवर्ग समाज के अन्य शोषित उपेक्षित वर्ग के साथ संयुक्त होता है। यद्यपि यह अति आदर्शवाद समाज का यथार्थ नहीं है, तत्कालीन परतंत्र भारत की आवश्यकता जरूर है। प्रेमचंद ने मालती के रूप में नारी मनोविज्ञान की बलि दी है।

गोदान में मालती के पिता मि0 कौल मध्यवर्गीय प्रदर्शन और अहंकार प्रियता के अच्छे उदाहरण हैं जो दलाली से धन कमातें हैं, उच्च मर्यादा और सम्मान अर्जित करने की इच्छा से लड़कियों को अंग्रेजी शिक्षा दिलाते हैं, फिजूलखर्ची हैं, शराब सेवन करते हैं, कर्जदार हैं और प्रदर्शन के लिए उच्च वर्ग के समकक्ष होने के लिए भोंड़ा प्रदर्शन करते हैं। मालती उन्हीं की एक लड़की है। दूसरी लड़की सरोज भी उन्हीं की तरह फैशनपरस्त है। वह विवाह को प्रेम के आधार पर मान्य ठहराती है। वह स्त्री के समानाधिकार की आवाज उठाती है और पुरुषों को दोषी ठहराती है। लेकिन मालती उनके इन विचारों का विरोध करती है और प्रगतिशील विचारों से मध्यवर्गीय नारी का प्रेरणास्त्रोत बनती है जो पाश्चात्य शिक्षा संस्कृति ग्रहण कर भी भारतीयता को नहीं छोडती और मानवता को जीवन की सार्थकता मानती है। "शांति" और "रहस्य" नामक कहानियों में भी प्रेमचंद नारी स्वातंत्र्य का समर्थन करते हैं। लेकिन उच्छृंखलता और तितलीपन का विरोध भी करते हैं जो पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति के प्रभाव की उपज है।

सम्पादकों, लेखकों को प्रेमचंद मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी वर्ग मानते हैं। किन्तु उनकी स्वार्थपरता, बेवशी और तंगी की समस्या भी उठाते हैं। "गोदान" के सम्पादक ओंकारनाथ विदेशी विज्ञापनों से धन बटोरते हैं, पैसा लेकर पूंजीपतियों-जमींदारों के शोषण को पत्र में नहीं छापते और जनहित की उपेक्षा करते हैं भारतीयता का दम्भ भरते जरूर हैं लेकिन जनता को प्रभावित करने के लिए। आवश्यकता पड़ने पर धर्म त्याग कर मालती के हाथों शराब भी पीते

48. विविध प्रसंग - भाग एक.
49. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 29.
50. विविध प्रसंग - भाग एक.
51. वरदान - पृ0 80.
52. मानसरोवर - भाग 6 - पृ0 255.
53. मानसरोवर - भाग 6 पृ0 255.
54. चिट्ठी पत्री - भाग एक.
55. विविध प्रसंग - भाग एक.
56. विविध प्रसंग - भाग एक.
57. मंगलाचरण - पृ0 12.
58. मंगलाचरण - पृ0 6.
59. मंगलाचरण - पृ0 353.
60. वरदान - पृ0 35.
61. सेवासदन - पृ0 58.
62. प्रेमाश्रम - पृ0 340.
63. कायाकल्प - पृ0 275.
64. निर्मला - पृ0 101.
65. गबन - पृ0 110..
66. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 292.
67. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 261.
68. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 336.
69. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 346.
70. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 234.
71. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 11.
72. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 279.
73. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 270.
74. प्रतिज्ञा - पृ0 100.
75. प्रेमाश्रम - पृ0 339.
76. निर्मला - पृ0 23.
77. मानसरोवर - भाग 3 - पृ0 74.
78. मानसरोवर - भाग 4 - पृ0 54.
79. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 87.
80. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 270.
81. विविध पसंग - भाग 3 - पृ0 250.
82. चिट्ठी पत्री - भाग 2.
83. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 93.
84. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 236.
85. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 103.
86. रंगभूमि - पृ0 427.
87. चिट्ठी - पत्री - भाग 2.
88. प्रतिज्ञा - पृ0 54.
89. प्रेम0 के0 उप0 का शिल्प0 - पृ0 545.
90. कायाकल्प - पृ0 345.
91. मानसरोवर - भाग 3 - पृ0 100.
92. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 183.
93. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 249.
94. कलम, तलवार और त्याग -पृ0 56.
95. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 264.
96. सेवासदन - पृ0 57.
97. सेवासदन - पृ0 249
98. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 261.
99. सेवासदन - पृ0 232.
100. सेवासदन - पृ0 289.
101. सेवासदन - पृ0 381.
102. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 57.
103. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 361.
104. सेवासदन - पृ0 136.
105. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 267.
106. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 267.
107. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 266.
108. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 266.
109. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 263.
110. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 101.
111. मानसरोवर - भाग 4 - पृ0 274.
112. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 148.
113. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 246.
114. साहित्य का उद्देश्य - पृ0 186.

में रहकर सेहत, जिंदगी सब कुछ तबाह हो जाती है।"[361] इस तरह मध्यवर्गीय प्रेमचंद गांवों से तादात्म्य स्थापित कर ही जिंदगी की सार्थकता मानते हैं और वैसे चरित्रों का निर्माण भी करते हैं। यहीं उनके विचार और रचना संपूरक लगते हैं। अतः उनके रचनात्मकता एवं विचारात्मक साहित्य में कोई फासला नहीं दिखायी देता क्योंकि वह अपने विचारों को ही रचना में स्थान देते हैं। व्यक्तित्व, विचारधारा और रचनात्मकता में परस्पर एकरूपता ही प्रेमचंद को सामाजिक यथार्थवादी रचनाकार का स्थान दिलाती है।

संदर्भ :

1. विविध प्रसंग - भाग एक.
2. वरदान - पृ0 18.
3. प्रेमा (मंगलाचरण) - पृ0 129.
4. चिट्ठी-पत्री - भाग एक.
5. मानसरोवर भाग 6 - पृ0 220.
6. विविध प्रसंग - भाग एक.
7. विविध प्रसंग - भाग एक.
8. विविध प्रसंग - भाग एक.
9. प्रेमा (मंगलाचरण).
10. मानसरोवर - भाग 6 पृ0 153.
11. विविध प्रसंग - भाग एक.
12. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 153.
13. प्रेमा (मंगलाचरण) पृ0 127.
14. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 156.
15. गुप्तधन - भाग 1 - पृ0 189.
16. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 56.
17. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 80.
18. विविध प्रसंग - भाग एक.
19. वरदान (मंगलाचरण) पृ0 63.
20. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 28.
21. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 43.
22. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 144.
23. वरदान - पृ0 32.
24. वरदान - पृ0 69.
25. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 31.
26. वरदान - पृ0 45.
27. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 271.
28. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 265.
29. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 5.
30. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 46.
31. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 213.
32. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 213.
33. मानसरोवर - भाग 6 - पृ0 11.
34. विविध प्रसंग - भाग एक.
35. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 162.
36. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 54.
37. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 94.
38. रूठी रानी (मंगलाचरण) - पृ0 398.
39. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 1.
40. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 20.
41. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 41.
42. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 79.
43. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 124.
44. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 35.
45. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 82.
46. रूठीरानी (मंगलाचरण) - पृ0 391.
47. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 9.

48. विविध प्रसंग - भाग एक.
49. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 29.
50. विविध प्रसंग - भाग एक.
51. वरदान - पृ0 80.
52. मानसरोवर - भाग 6 - पृ0 255.
53. मानसरोवर - भाग 6 पृ0 255.
54. चिट्ठी पत्री - भाग एक.
55. विविध प्रसंग - भाग एक.
56. विविध प्रसंग - भाग एक.
57. मंगलाचरण - पृ0 12.
58. मंगलाचरण - पृ0 6.
59. मंगलाचरण - पृ0 353.
60. वरदान - पृ0 35.
61. सेवासदन - पृ0 58.
62. प्रेमाश्रम - पृ0 340.
63. कायाकल्प - पृ0 275.
64. निर्मला - पृ0 101.
65. गबन - पृ0 110.
66. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 292.
67. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 261.
68. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 336.
69. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 346.
70. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 234.
71. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 11.
72. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 279.
73. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 270.
74. प्रतिज्ञा - पृ0 100.
75. प्रेमाश्रम - पृ0 339.
76. निर्मला - पृ0 23.
77. मानसरोवर - भाग 3 - पृ0 74.
78. मानसरोवर - भाग 4 - पृ0 54.
79. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 87.
80. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 270.
81. विविध पसंग - भाग 3 - पृ0 250.
82. चिट्ठी पत्री - भाग 2.
83. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 93.
84. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 236.
85. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 103.
86. रंगभूमि - पृ0 427.
87. चिट्ठी - पत्री - भाग 2.
88. प्रतिज्ञा - पृ0 54.
89. प्रेम0 के0 उप0 का शिल्प0 - पृ0 545.
90. कायाकल्प - पृ0 345.
91. मानसरोवर - भाग 3 - पृ0 100.
92. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 183.
93. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 249.
94. कलम, तलवार और त्याग -पृ0 56.
95. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 264.
96. सेवासदन - पृ0 57.
97. सेवासदन - पृ0 249
98. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 261.
99. सेवासदन - पृ0 232.
100. सेवासदन - पृ0 289.
101. सेवासदन - पृ0 381.
102. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 57.
103. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 361.
104. सेवासदन - पृ0 136.
105. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 267.
106. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 267.
107. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 266.
108. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 266.
109. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 263.
110. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 101.
111. मानसरोवर - भाग 4 - पृ0 274.
112. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 148.
113. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 246.
114. साहित्य का उद्देश्य - पृ0 186.

में रहकर सेहत, जिंदगी सब कुछ तबाह हो जाती है।"361" इस तरह मध्यवर्गीय प्रेमचंद गांवों से तादात्म्य स्थापित कर ही जिंदगी की सार्थकता मानते हैं और वैसे चरित्रों का निर्माण भी करते हैं। यहीं उनके विचार और रचना संपूरक लगते हैं। अतः उनके रचनात्मकता एवं विचारात्मक साहित्य में कोई फासला नहीं दिखायी देता क्योंकि वह अपने विचारों को ही रचना में स्थान देते हैं। व्यक्तित्व, विचारधारा और रचनात्मकता में परस्पर एकरूपता ही प्रेमचंद को सामाजिक यथार्थवादी रचनाकार का स्थान दिलाती है।

संदर्भ :

1. विविध प्रसंग - भाग एक.
2. वरदान - पृ0 18.
3. प्रेमा (मंगलाचरण) - पृ0 129.
4. चिट्ठी-पत्री - भाग एक.
5. मानसरोवर भाग 6 - पृ0 220.
6. विविध प्रसंग - भाग एक.
7. विविध प्रसंग - भाग एक.
8. विविध प्रसंग - भाग एक.
9. प्रेमा (मंगलाचरण).
10. मानसरोवर - भाग 6 पृ0 153.
11. विविध प्रसंग - भाग एक.
12. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 153.
13. प्रेमा (मंगलाचरण) पृ0 127.
14. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 156.
15. गुप्तधन - भाग 1 - पृ0 189.
16. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 56.
17. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 80.
18. विविध प्रसंग - भाग एक.
19. वरदान (मंगलाचरण) पृ0 63.
20. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 28.
21. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 43.
22. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 144.
23. वरदान - पृ0 32.
24. वरदान - पृ0 69.
25. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 31.
26. वरदान - पृ0 45.
27. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 271.
28. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 265.
29. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 5.
30. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 46.
31. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 213.
32. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 213.
33. मानसरोवर - भाग 6 - पृ0 11.
34. विविध प्रसंग - भाग एक.
35. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 162.
36. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 54.
37. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 94.
38. रूठी रानी (मंगलाचरण) - पृ0 398.
39. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 1.
40. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 20.
41. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 41.
42. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 79.
43. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 124.
44. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 35.
45. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 82.
46. रूठीरानी (मंगलाचरण) - पृ0 391.
47. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 9.

को सदा प्राण से अधिक प्रिय मानते रहना।"[57]" प्रकारान्तर से यह देश की आजादी के लिए शपथ लेने की प्रेरणा है।

रणजीत सिंह को भी स्वतंत्रता का प्रहरी कहकर उन्होंने बहुपत्नीत्व और नशे बाजी की निंदा की है। राणा जंग बहादुर के साहस, अस्पृश्यता निवारण, शरणागत रक्षा की प्रशंसा है। मानसिंह हिन्दू-मुस्लिम एकता के हिमायती होने के कारण प्रेमचंद को पसन्द थे। टोडरमल भी आदर्श शासन व्यवस्था का प्रतीक होकर उभरा है। गैरी वाल्डी में सैनिक, व स्वदेश सेवक के ऊँचे आदर्श मिलते हैं।

राजनीतिक नेताओं की जीवनियों के पीछे राजनीतिक पक्षधरता प्रमुख है। गोखले में उन्हें स्वदेशी आंदोलन के समर्थक अंग्रेजी राज के पक्षधर का चरित्र मिला। भंडारकर स्वाधीनता और विधवा विवाह के समर्थक के रूप में उल्लेखनीय हुए। बदरूद्दीन तैयबजी कांग्रेस के समर्थक, लड़कियों को अंग्रेजी शिक्षा देने के हिमायती, पर्दाप्रथा के विरोधी, अंग्रेजी फैशन के विरोधी, समय के पाबन्द और सच्चे न्यायविद थे। सर सैयद के विषय में उन्होंने लिखा-"मुसलमानों ने सर सैयद पर नास्तिक, अवसरवादी और प्रकृति पूजक होने का आरोप लगाया।" प्रेमचंद ने उन्हें साम्प्रदायिक कहा।

धर्म चिन्तकों में स्वामी विवेकानन्द की जीवनी प्रेमचंद के रामकृष्ण मिशन के प्रति गहरे लगाव को व्यक्त करती है। विवेकानंद के भाषण का उल्लेख करते हुए उन्हें नौजवानों का सच्चा रहनुमा कहा। प्रेमचंद ने केवल साहित्यकारों को ही श्रद्धांजलियाँ दी थी। ये श्रद्धांजलियाँ 1921 से मिलती है। इसके पीछे उनका वैचारिक लगाव भी अवश्य था क्योंकि उनके प्रति उनका या तो व्यक्तिगत साम्य था अथवा सामाजिक हितवादिता। लम्बी श्रद्धांजलियाँ भी हैं जिनमें सिद्धान्तों की व्याख्या है और अपनी राय भी। विचारधारात्मक लगाव को आसानी से पहचाना जा सकता है। यह इनकी वैचारिक परिपक्वता और विचार साम्य का उदाहरण है।

सम्पादकीय अग्रलेख

प्रेमचंद साहित्यकार के साथ-साथ सम्पादक भी थे। जागरण, हंस के अतिरिक्त कुछ अन्य पत्र-पत्रिकाओं का अल्प समय तक ही सही उन्होंने कुशल सम्पादन किया था। अपने सम्पादकीय अग्रलेखों में प्रेमचंद ने राष्ट्र भाषा हिन्दी, राष्ट्रलिपि नागरी, साहित्यकार के दायित्व, भारतीय साहित्य के संगठन, हंस की नीति, जागरण की नीति आदि की विस्तृत और बराबर चर्चाएं

की हैं। 22 अगस्त 32 के जागरण में "जागरण का नया रूप" शीर्षक में जागरण की साहित्यिक और राजनीतिक पक्षधरता की बात उठायी। उन्होंने लिखा-"समाज का दुःखी और निर्बल अंश उसे सदा अपनी वकालत करते हुए पायेगा।[58]" जागरण का दाम पाँच पैसा करने की टिप्पणी बड़ी तार्किक और महत्वपूर्ण है। जिसमें पाठक की साझेदारी कायम करने की विलक्षण क्षमता है। इससे पता चलता है कि वह पाठकों को कितनी मित्रता से अपन बना लेते थे। 21 मई 34 के 'जागरण की समाधि' पर लिखा-"जिन ग्राहकों के पैसे हमारे ऊपर आते हैं उनसे हमारी विनती है कि वे हमें हंस पत्रिका भेजकर ऋण चुकाने की अनुमति दें। हमें आशा है कि पाठक हमें क्षमा कर देंगे। हम तो जाते हैं मैकदे से मीर। फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।[59]"

इसी भाँति हंस के अगस्त-सितम्बर 1935 के अंक में लिखा-"हम साहित्य को प्रांतीयता के संकुचित क्षेत्र से निकाल कर राष्ट्रीयता के वृहद क्षेत्र में लाकर सांस्कृतिक एकता में जो कसर थी, उसे पूरा कर लेना चाहते हैं।[60]"

सम्पादकीय अग्रलेखों को देखते हुए प्रेमचंद को सफल संपादक कहा जा सकता है क्योंकि पत्रों में वे एक निश्चित मान्यता लेकर आगे बढ़े हैं और उसके माध्यम से उन्होंने राजनीतिक-सांस्कृतिक और साहित्यिक मापदण्डों को निश्चित करने तथा बढ़ावा देने में सच्चे सहयोगी, गुरू और उपदेशक की भूमिका निभायी है। साहित्यिक और राजनीतिक आदर्श से हटकर किसी कच्ची विचारधारा को बढ़ावा नहीं दिया। ये अग्रलेख उसके प्रमाण हैं।

इन सम्पादकीय अग्रलेखों में प्रेमचंद सच्चे, ईमानदार और प्रगतिशील सम्पादक का दायित्व निभाते हैं और सम्पादक को शुद्ध साहित्य से जोड़कर रचनात्मक और विचारात्मक साहित्य के द्वैत को कम करते हैं। इससे न केवल अपूर्ण व अपच रचना को सर्वांग सुन्दर बनाकर प्रकाशित करते हैं वरन् यह भी ध्यान दिलाते हैं कि बहुज्ञता और समकालीन मुख्यधारा से जुड़े रहने में ही सम्पादक की सार्थकता हैं।

विविध लघु टिप्पणियाँ

प्रेमचंद ने 1931 के बाद समय-समय पर छोटी-छोटी टिप्पणियाँ जागरण और हंस में लिखी थीं। ये टिप्पणियाँ छोटी प्रभावोत्पादक और अत्याधुनिक व सामयिक चर्चित विषयों पर लिखी गयी हैं। इनके माध्यम से म्युनिसिपैलिटी खासकर काशी म्युनिसिपैलिटी के काले कारनामों का उद्‌घाटन किया और अफसरों की रिश्वतबाजी, जनविरोधी कार्यों की चर्चा भी की है।

वैसे कुछेक म्युनिसिपैलिटियों के सही कार्यों की भी प्रशंसा की है जिन्हें सरकारी नियंत्रण में स्वतंत्र कार्य का मौका नहीं मिलता। कभी-कभी सरकारी लापरवाही और राजनीति के कारण गैर जिम्मेदार अनुभवहीन चेयरमैन और अफसर म्युनिसिपैलिटी में आकर घोर अत्याचार करते हैं।

इन टिप्पणियों में किसान, मजदूर जमींदार और उनके कारिन्दों की समस्याओं, उत्पीड़न, कर्ज, बेदखली, सरकारी तौर पर कृषि विरोधी कार्यक्रमों की खुलकर भर्त्सना है। इसके अतिरिक्त कचहरी के अन्याय, जुएंबाजी के फैलते माहौल, नगरों की नित्यप्रति की दुर्घटनाएं, मंदिरों की दशा, रेलवे की गंदी दशा, बेकारी के कुप्रभाव, नाव दुर्घटना, बिजली विभाग की निष्क्रियता, अंग्रेजी दवाओं के प्रभाव पर रोष, राहजनी, हत्या, लूट आदि पर चिंता व्यक्त की तथा सामाजिक व्यवसाय के अन्य मसलों पर छोटे-छोटे नोट लिखे हैं। इससे उनके संवाददाता और सम्पादक की कला तथा दायित्व पर प्रकाश पड़ता है। ये नोट अधिकांशतः 1931 से 1934 तक के ही मिलते हैं 1935-36 में ये अत्यल्प हैं। इन टिप्पणियों में बड़ी प्रखरता है। हर जगह अत्याचार, अनाचार कुशासन और कलुषित आदतों के विषय में कहीं कड़ी चेतावनी है, कहीं उभरा आक्रोश और इनके पीछे सुधारात्मक रवैया अपनाने की पहल है। उनके रचनात्मक लेखन की भांति ही इनमें अन्याय के प्रति तीव्र आक्रोश है। 15 जून 33 में लिखा-''बनारस के आनरेरी मुंसिफों की तरह शैतान भी नहीं घूमता। इन अंधेरी इजलासों में वकीलों की चांदी है। एक मुंसिफ तो चार बजे तक ताश खेलते हैं। निकम्मे मुंसिफ बन कर जनता का गला क्यों दबाते हो।''[61]

इस तरह से टिप्पणियां उनके विचारात्मक विकास की सशक्त कड़ी हैं जिनका विस्तृत खाका उनके रचनात्मक साहित्य में भी मिलता है।

पत्र

पत्र व्यक्ति के व्यक्तित्व का आईना होता है। विचारात्मक लेखन का यह सशक्त केन्द्र बिन्दु है जहां से व्यक्तित्व के फैलाव को नापा जा सकता है। आत्मीयों को लिखे गये पत्रों में हृदयगत सारी गुप्त और वाह्य स्थितियों का खुलासा होता है। जिन बातों व रहस्यों को रचनात्मक लेखन में लिखना असम्भव होता है और लिखा भी नहीं जा सकता; उन बातों और रहस्यों को व्यक्ति आत्मीय को लिखे गये पत्रों में जाने और अनजाने में प्रकट कर देता है क्योंकि पत्र लिखते समय साहित्य सृजन जैसी कोई प्रतिबद्धता और

सजगता नहीं रहती, उस समय उसके समक्ष व्यक्ति की भावनाएं होती हैं और उसका आत्मीय। जिसे वह अपने दैनिक दु:ख-सुख, परिस्थितियों, योजनाओं इच्छाओं-आकांक्षाओं को बड़ी ईमानदारी से सहभागी मानकर वर्णित करता है। शायद उसे यह भान भी नहीं रहता कि ये पत्र और विचार किसी दूसरे तक भी पहुँच सकते हैं। पत्र लिखकर वह अपनी चिंताओं को बांटना चाहता है। इसी लिए मैंने पत्र को मानव व्यक्तित्व का आईना माना है जिसमें उसकी सम्पूर्ण छवि प्रतिबिम्बित होती है।

प्रेमचंद ने सबसे अधिक पंत्र अपने परम आत्मीय "जमाना" सम्पादक मुंशी दया नारायण निगम को लिखे हैं। अभी तक सबसे पुराना पत्र 18 मार्च 1910 ई0 का ही प्राप्त हुआ है किन्तु इसके पहले भी बहुत से पत्र उन्हें लिखे गये होंगे क्योंकि 1906 में ही वह "जमाना" से सम्बद्ध हुए थे। इन पत्रों के आधार पर उनके व्यक्तित्व के स्याह और सफेद दोनों पक्षों को आसानी से समझा जा सकता है। एक बात जो सबसे अधिक उभरती है, वह है उनके धनलिप्सा के लिए साहित्य सृजन की। वह आजादी को अपने तक ही सीमित रखना चाहते थे; बच्चों को व्यापार में लगाकर धन कमाने की मान्यता उनके देश-प्रेम की लम्बी दलील पर एक प्रश्नचिह्न है। उनके हर्ष, विषाद, प्रेम, व्यापार, खानदानी मसलों, लेखन छपाई और पारिश्रमिक, दर्शन, राजनीतिक लगाव, धनप्राप्ति के लिए अनेक पुस्तकों के सृजन आदि की स्वच्छ छवि इन पत्रों से उजागर होती है। अमृतराय ने इन पत्रों के आधार पर ही उनका जीवन-चरित्र लिखा है किन्तु उनके व्यक्तित्व के स्याह पक्ष को उन्होंने बड़ी खूबी से दबा दिया है। ये पत्र प्रेमचंद के व्यक्तित्व के स्याह पक्ष को भी उजागर करने के गवाह और प्रमाण हैं।

दूसरे तरह के पत्र साहित्यकारों के लिए लिखे गये हैं। जिनमें जैनेन्द्र, बनारसी दास चतुर्वेदी, इम्त्याज अली ताज, रामचन्द्र टण्डन, विनोद शंकर व्यास, दशरथ प्रसार द्विवेदी, उषा देवी मित्रा, उपेन्द्र नाथ अश्क, श्रीराम शर्मा, विष्णु प्रभाकर आदि प्रमुख हैं। इनको लिखे गये पत्रों में भी साहित्य चर्चा, राजनीतिक गतिविधियों, साहित्यिक राजनीति, व्यक्तिगत दिनचर्या की अनेकानेक बाते हैं। इन पत्रों में सबसे अधिक जोर उन्होंने साहित्य पर दिया है। जैनेन्द्र तथा बनारसी दास के पत्रों में व्यक्तिगत समस्याओं पर अधिक लिखा है किन्तु अन्य को साहित्यगत उपदेश भी दिया है। राजनीतिक समस्याओं पर तथा

अपनी आलोचना लिखने की प्रेरणा भी अधिक दी है। इन्द्रनाथ मदान को अपनी संक्षिप्त जीवनी लिखकर भेजी है।

चचेरे भाई महताब राय को लिखे गये पत्रों में उनकी व्यापारिक बुद्धि का अंदाजा मिलता है। इनमें प्रेमचंद के व्यक्तित्व के कुछ स्याह अंश अधिक प्रकट हुए हैं। इसके आधार पर उन्हें परिवार के उत्तरदायित्वों पर खरा नहीं उतारा जा सकता। ये पत्र बड़ी चालाकी युक्त शब्द कौशल और हास्य पूर्ण हैं जो उन्हें व्यक्ति के साथ कुशल व्यवसायी की छवि प्रदान करते हैं।

तात्पर्य यह है कि इन पत्रों के माध्यम से प्रेमचंद के व्यक्तित्व का सही चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है, जो अलग चर्चा और शोध का विषय है। इस पर स्वतंत्र शोध करने पर उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपने मौलिक और भिन्न रूप से सामने आयेगा और मेरा आग्रह है कि इस मुद्दे पर उनके विचारात्मक और साहित्यगत फासले को भी देखा जा सकता है यद्यपि यहां यह भी गुंजाइश है कि लेखक मूलतः एक मनुष्य भी होता है अतः उसके जीवन संघर्षों और आंतरिक बनावट व प्रकृति को रचनात्मकता के साथ बलात् जोड़कर नहीं घसीटा जाना चाहिए।

अनुवाद

प्रेमचंद ने कुछ अंग्रेजी और उर्दू पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। अनुवाद करने के पीछे प्रमुख दो उद्देश्य थे-एक धन प्राप्ति का और दूसरा अच्छी कृति को हिन्दी के पाठकों तक पहुंचा कर कुछ आदर्श उपस्थित करने का। "अनुवादों से भाषा का गौरव चाहे न बढ़े-साहित्यिक ज्ञान अवश्य बढ़ता है।"[62] लेकिन प्रारम्भ में उन्होंने अनेक उर्दू अंग्रेजी कहानियों का जो अनुवाद किया था, उसका प्रमुख उद्देश्य द्रव्यार्जन ही था। ये अनुवाद प्रारम्भिक समय में किये गये थे। इनकी संख्या का निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि इन अनूदित कहानियों के नीचे वह अपना नाम नहीं लिखवाते थे। इम्त्याज अली ताज को लिखे गये 29 जून 1920 के पत्र में उन्होंने लिखा-"यह मजमून आस्कर वाइल्ड के एक किस्से का तर्जुमा है मगर इसके आखीर में मेरा नाम देने की जरूरत नहीं क्योंकि "आबेहयात" और "अश्केनदामत" के बाद से मैंने अहद कर लिया है कि तजुर्मे मैं न करूंगा।"[63] लेकिन उन्होंने अनुवाद करना बन्द नहीं किया। यह मानना होगा कि इन प्रमुख पुस्तकों के अनुवाद के पीछे प्रेमचंद की वैचारिक पक्षधरता भी प्रमुख थी, यद्यपि मूल में **धनोपार्जन** ही था। हिन्दुस्तानी एकेडमी की प्रेरणा और व्यापारिक रजामन्दी पर

उन्होंने तीन नाटकों का अनुवाद किया। 28 फरवरी 29 को निगम को लिखा-"जस्टिस मैं किसी न किसी तरह कर ही डालूँगा लेकिन बाकी दोनों को मेरा इस्तीफा है। इतने ही वक्त में मैं ज्यादा फायदे का काम कर सकता हूँ।"[64] फिर 23 मई 29 को लिखा-"मेरा तो 'सिल्वर बाक्स' अब थोड़ा रह गया है। 'जस्टिस' साफ भी हो गया है। गॉल्सवर्दी के तीन नाटकों 'न्याय', चाँदी की डिबिया' और 'हड़ताल' के अनुवाद 1930 तक प्रेमचंद ने समाप्त कर दिया था। हड़ताल 1930 में छपा, चाँदी की डिबिया भी 1930 में छपा, न्याय भी 30 में ही छपा। ये तीनों नाटक हिन्दुस्तानी एकेडमी से छपे।

इसके पहले अनातोले फ्रांस के 'पायस' का 'अहंकार' नाम से अनुवाद माला बड़ा बाजार, कुमार सभा कलकत्ता से 1923 में छपा।"[65] इसके बाद भी अनातोले की एक कहानी के अनुवाद को उन्होंने 1925 में निगम को पत्र द्वारा सूचित किया।

"अनातोले फ्राँस का एक किस्सा हिन्दी में तर्जुमा कर रहा हूँ और मेरे ही प्रेस में छप भी रहा है।"

1919 में मॉटरलिंक के नाटक "पेलियस एण्ड मेलीसण्ड" का उर्दू अनुवाद "शबेतार" नाम से करके 5 अगस्त 1919 को निगम को पत्र में सूचित किया। 1923 में इलियट के उपन्यास "साइलस माइनर" का "सुखदास" नाम से अनुवाद छपा।

1926 में गंगा पुस्तक माला से रतन नाथ सरशार के ग्रंथ का "आजाद ---" नाम से अनुवाद किया।

इसके अतिरिक्त जवाहर लाल नेहरू के "पिता के पत्र-पुत्री के नाम" का भी अनुवाद किया।

प्रेमचंद ने इन नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों के अनुवाद सम्बद्ध लेखक की प्रतिभा, कला तथा विषय वस्तु से प्रभावित होकर ही किया अतः उनकी विचारात्मक साझेदारी उनके साथ अवश्य थी। अहंकार की भूमिका में लिखा-"उस समय (ईसा की दूसरी शताब्दी) की ईसाई दुनिया का आप को इतना सजीव ज्ञान हो जाता है जितना सैकड़ों इतिहास के पन्ने पलटने से न होता।"[66] सुखदास की भूमिका में लिखा-"वह मानव हृदय के रहस्यों का अनूठा चित्र है। अंग्रेजी का सर्वोत्तम उपन्यास है।"[67] इसी कारण अहंकार का ावाद भी उन्होंने किया क्योंकि वह अंग्रेजी साहित्य का सर्वोत्तम उपन्यास वह भूमिका में लिखते हैं-"हमने इसका अनुवाद केवल इसलिए किया है

कि हमें यह पुस्तक सर्वांग सुन्दर प्रतीत हुई। इससे सुन्दर साहित्य अंग्रेजी मे हमने नहीं देखा।'68'

यही उद्देश्य प्रत्येक अनुवाद के पीछे निहित था। वह अनुवादों को मनमाने ढंग से स्वजातीय रंग देकर प्रस्तुत करना निकृष्ट कार्य मानते थे क्योंकि अनुवाद में यदि मूल भाव नहीं रहता तो पाठक वहां की सभ्यता -संस्कृति और साहित्यिक आदर्श से अछूता रहकर प्रेरणा नहीं ले सकता। अहंकार की भूमिका में उन्होंने लिखा-''कुछ लोगों की सम्मति है कि हमें अनुवादों को स्वजातीय रूप देकर प्रकाशित करना चाहिए। मैं सम्मति का घोर विरोधी हूँ। साहित्य में मूल विषय के अतिरिक्त और भी कितनी ही बातें समाविष्ट रहती हैं। उनमें यथा स्थान ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगोलिक आदि विषयों का समावेश किया जाता है।''69'' यही सिद्धान्त उन्होंने सुखदास के अनुवाद में प्रकट किया-''इसे अंग्रेजी कपड़ों के बदले देसी कपडे पहना दिए हैं।''

तात्पर्य यह कि प्रेमचंद ने अनुवाद करने में दो उद्देश्यों की सिद्धि की थी-एक धन प्राप्ति और दूसरा वैचारिक साम्य। यह भी सत्य है कि अनूदित करने की प्रेरणा हिन्दुस्तानी एकेडमी, अन्य प्रकाशकों या मित्रों से प्राप्त हुई थी किन्तु इन्होंने उन्हीं कृतियों को अनूदित किया जो सर्वांग सुन्दर प्रतीत हुई। अतः हम मान सकते हैं कि प्रारम्भ के अनुवादों में भले ही धन लिप्सा की प्रधानता रही है (और थी भी) किन्तु बाद में धन लिप्सा के साथ वैचारिक तादात्म्य भी प्रमुख हो गया था।

बाल-साहित्य

बालकों के लिए शिक्षाप्रद छोटी-छोटी कई कहानियां प्रेमचंद ने लिखीं, जैसे कुत्ते की कहानी, जंगल की कहानियां, राम चर्चा, मनमोदक, महात्मा शेख सादी आदि। इसके पीछे भी उनके दो उद्देश्य थे- पहला और प्रमुख उद्देश्य था- बाल कहानियों की पाठ्य पुस्तकें तैयार कर स्कूल में लगवाने की चेष्टा करना और धनार्जन करना। जैसा कि 16 दिसम्बर 1915 को निगम को उन्होंने लिखा भी-''बच्चों के लिए काबिल लिटरेचर होना जरूरी है। पहले मैं एक किताब लिखता हूँ जिसमें बच्चों के काबिल छोटी-छोटी अखलाकी, तारीखी, जुगराफी कहानियां होंगी। अगर पसन्द आ जाय और टैक्स्ट बुक मंजूर कर ले तो फिर दूसरा काम शुरू किया जाय।''70'' फिर 25 जुलाई 1917 को

महात्मा शेख सादी के हिन्दी में लिखे जाने की सूचना दी। राम चर्चा का उर्दू रूप 2 मार्च 1917 तक छप चुका था।"71"

जंगल की कहानियां और कुत्ते की कहानी भी सरस्वती प्रेस से छपीं। 'यादगारे राम' पुस्तक जो 1917 में छपी थी उसका हिन्दी अनुवाद 1929 में लाजपत राय एण्ड सन्स लाहौर में छपा। 'बांकमालों के दर्शन' नाम से संक्षिप्त जीवनियों का संग्रह 1928 में राम नारायण लाल ने इलाहाबाद ने प्रकाशित किया जब कि ये जीवनियां जमाना में समय-समय पर बहुत पहले से छप रही थीं। ये बच्चों के लिए लिखी गयी थीं-"रामचर्चा तो पांचवी-दसवीं" जमात के लिए अतिरिक्त अध्ययन के लिए मौजूद है। बांकमालों के दर्शन नवीं-दसवीं के लिए मौजूं होंगी।"72"

मनमोदक के अतिरिक्त अन्य बाल पुस्तकें 1924 में छपीं। 8 जुलाई 1924 को निगम को लिखा-"मेरे रूपये जो उन पर थे वह कर्बला, मनमोदक, सुघड़ बेटी और सुशील कुमारी इन चार किताबों की तबाअत की तैयारी में फँसे हैं।"73"

इन स्वतंत्र बाल पुस्तकों के अतिरिक्त प्रेमचंद ने अनेक संकलन लेखकों के सहयोग से तैयार किया। शिव पूजन सहाय को 22 फरवरी 25 को लिखा-"बाल विनोद माला" के निकालने के लिए पकड़ लिया गया हूँ। इस माला के लिए यदि आप कोई छोटी-मोटी हंसने-हंसाने वाली, चूहे, बिल्ली, चील, कौवे की कहानी लिखें तो बड़ा एहसान करें।"74"

इसके अतिरिक्त प्रेमचंद ने "बालविनोद वाटिका" नाम से अनेक लेखकों की बाल पुस्तकों का सम्पादन किया जो संख्या में अधिक हैं। "आजाद कथा" के अनुवाद के पीछे एक सूची दी गयी है। जिसमें सम्पादक "श्री प्रेमचंद" लेखक हैं। इसी सूची में लगभग पन्द्रह पुस्तकें हैं। इनकी संक्षिप्त समीक्षा दी गयी है। बालकों के मनोरंजन की ये पुस्तकें विभिन्न विषयों पर लिखी गयी थीं। इसके अतिरिक्त भी बहुत सी बाल पुस्तकों का सम्पादन उन्होंने किया था जिनकी लम्बी सूची तैयार करने की जरूरत है पर यह कार्य कुछ कठिन है और स्वतंत्र शोध का विषय है।

इन कहानियों को लिखने के पीछे प्रेमचंद की धन लिप्सा यद्यपि प्रमुख थी, इनके माध्यम से बच्चों को नैतिक उपदेश देने का उद्देश्य भी है। इनमें जो आदर्श नैतिक उपदेश दिया है, उनका विकास और साम्य उनके रचनात्मक लेखन में आसानी से खोजा जा सकता है। इनकी भाषा सरल और हास्य-व्यंग्य

है। शैली और विषय वस्तु की सहजता और प्रवाहशीलता के कारण ये बोधगम्य और आकर्षक हैं। परोक्ष रूप से सामाजिक बुराईयों, राजनैतिक स्थितियों का भी बड़ी कुशलता से वर्णन है। कुत्ते की कहानी के प्रमुख अंश द्रष्टव्य हैं-"किसी की मृत्यु पर खुश होना, चाहे वह अपना कट्टर शत्रु हो बुरी बात है, भला संसार में ऐसा कौन है जिसे माता के मरने का मार्मिक शोक न हो-किसी के दिन बराबर नहीं जाते।"[75] आगे लिखा-"पुलिस का ढकोसला बहुत बुरा होता है, वह आकर कुछ न कुछ चूसते हैं।"[76] उसके आगे निष्कर्ष रूप में लिखा-"न जाने आदमी साधू बनकर मुफ्त का माल कैसे उड़ाता है। मुझे तो सेवा करने में जो आनंद मिलता है, वह सेवा पाने में नहीं मिलता।"[77]

"जंगल की कहानियाँ" में दस कहानियाँ हैं। सब नैतिक उपदेशों से भरी पड़ी हैं। वनमानुस की दर्दनाक कहानी में लिखा-खूनी जानवरों पर दया करना पाप है।"[78] "गुब्वारे पर चीता" की कहानी में चिड़ियाघर की अस्त-व्यस्त स्थिति पर करारा व्यंग्य किया है। "दक्षिण अफ्रीका में शेर का शिकार" में आनंद की जिंदगी बिताने वालों की बहादुरी की कलई खोलकर रख दिया। "जुड़वा भाई" में, 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' के सूत्र का विस्तार किया है और एक व्यंग्य भी-"कभी-कभी मूर्ख मर्द जरा-जरा सी बात पर औरतों को पीटा करते हैं।"[79]

तात्पर्य यह कि इन कहानियों में प्रेमचंद की विचारात्मक परिणति लक्षित होती है। बाल साहित्य प्रेमचंद के विचारात्मक लेखन का सशक्त पहलू है।

विचारात्मक लेखन के विविध पहलुओं पर विचार करने के बाद निष्कर्षतः माना जा सकता है कि इनके माध्यम से प्रेमचंद की विचारधारा को बड़ी आसानी से समझने में सहायता मिलती है। बिना इसका अध्ययन किये रचनात्मक लेखन की ईमानदारी में प्रश्नचिह्न लगाना असम्भव है। उनके विचारात्मक साहित्य में उन सभी मूल विचारों की झलकियां मिल जाती हैं जिनका विकास उनके रचनात्मक लेखन में होता है। अतः इनकी विचारधारा के मूल तत्व विचारात्मक साहित्य में– प्रारंभिक लेखन से लेकर अंत तक के लेखन में बिखरे हुए हैं।

रचनात्मक साहित्य

रचनात्मक साहित्य के माध्यम से साहित्यकार यथार्थ और आदर्श को

एक बाना पहनाकर प्रस्तुत करता है। उसके माध्यम से वह अपने सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप से पाठक समुदाय पर प्रत्यारोपित करता है किन्तु वह उपदेशक का कार्य कम करता है; सामाजिक नेता का कार्य अधिक। उसकी रचनाधर्मिता के कारण ही उसे रचनात्मक कहा जाता है। प्रेमचंद के रचनात्मक साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है-उपन्यास, कहानी और नाटक।

उपन्यास साहित्य

प्रेमचंद के रचनात्मक साहित्य की शुरूआत उपन्यास से ही हुई। उन्होंने 1901 ई0 से उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। पहले वह उर्दू में लिखते थे। आज इस विषय पर काफी मतभेद है कि प्रेमचंद का पहला कौन सा उपन्यास है और कब लिखा गया था क्योंकि स्वयं प्रेमचंद भी इस विषय में भ्रमित दिखाई देते हैं। 1932 के हंस के लेख में उन्होंने लिखा-"1901 में पहला उपन्यास लिखा और 1902 में छपा था।" 1934 में लिखा-"और मेरी पहली किताब 1903 में छपी।"[80] इसके पहले निगम को लिखे गये 17 जुलाई 1926 के पत्र में लिखा-"सन् 1901 से लिटरेरी जिंदगी शुरू की। सन् "1904 में एक हिन्दी नाविल 'प्रेमा' लिखकर" इण्डियन प्रेस से साया कराया।"[81] इसके भी बहुत पहले 29 जनवरी 1921 को इम्त्याज अली ताज को लिखा-"हम खुर्मा व हम सबाब-और किशना" वगैरह मेरी इब्तिदाई तसानीफ हैं। मेरे पास इनमें से एक भी जिल्द नहीं और न शायद पब्लिशरों के यहां ही निकल सके और न उनके देखने की जरूरत हैं। नौमश्की के सारे उयूब उनमें मौजूद हैं।"[82] "अतः हम खुर्मा व हम सबाब" तथा किशना 1900 के बाद से 1901 के आसपास लिखकर तैयारी हुई होगी और छपी भी लेकिन "प्रेमां" जो कि हमखुर्मा व हम सवाब" का हिन्दी अनुवाद है, 1904 में नहीं छपा होगा क्योंकि तब तक प्रेमचंद हिन्दी में नहीं लिख सकते थे। मंगलाचरण में अमृतराय ने भी स्वीकार किया है कि प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर प्रेमा का प्रथम प्रकाशन वर्ष 1900 ई0 है। किन्तु अमृतराय, मदनगोपाल और कमलकिशोर गोयनका के आधार पर यह प्रेमचंद का पहला उपन्यास नहीं है। क्योंकि इसके पहले 1903 ई0 से ही "आवाज-ए-खल्क" में एक उपन्यास "असरारे मआविद्" का धारावाहिक प्रकाशन हो चुका था जिसका उल्लेख प्रेमचंद ने भी कहीं नहीं किया है। वैसे प्रताप चंद और किशना भी दो अनुपलब्ध उपन्यास हैं। जिसमें किशना का नाम तो प्रेमचंद लेते हैं किंतु प्रताप चंद का नाम नहीं लेते जैसे

कि-''1903 में प्रकाशित असरारे मआविद का नाम विस्मृत कर गये हैं। अतः प्रतापचंद को प्रेमचंद का पहला उपन्यास माना जा सकता है। जब कि किशना का प्रथम विज्ञापन 1907 में मिलता है।

यहां प्रेमचंद के उपन्यासों का कालक्रम के अनुसार निर्धारण अपेक्षित है-

प्रतापचंद

यह उपन्यास आज तक प्राप्त नहीं हो सका है। मदनगोपाल प्रतापचंद उपन्यास को 1905 में लिखा गया बताते हैं। जगेश्वर नाथ बेताव ने भी इसका उल्लेख किया है।"[83]" आलोचकों का तर्क है कि पहले तो यह उपन्यास लिखा ही नहीं गया और यदि लिखा भी गया होगा तो वह 'जलवए ईसार' या 'वरदान' का पूर्व उर्दू रूप रहा होगा क्योंकि प्रेमचंद ने इसका उल्लेख नहीं किया है। प्रेमचंद द्वारा उल्लेख न किए जाने के दो कारण हो सकते हैं। यह काफी बेकार और भाषा-शिल्प-भाव के आधार पर बिखरा हुआ रहा होगा। क्योंकि तब तक उन्हें लिखने पढ़ने का अधिक अनुभव नहीं था अतः भावावेश में लिख डालने या कहीं से छपवा डालने के बाद उन्हें अपनी भूल स्वीकार हुई और अपनी छवि धूमिल होने के डर से उसे छिपा गये। उसका विज्ञापन किसी पत्रिका में न निकलवाने का भी यही कारण था कि प्रेमचंद तब तक अज्ञात, और साधनहीन व्यक्ति थे। और सच तो यह है कि उसे लिखने के बाद स्वयं में संतुष्ट न होने के कारण उन्होंने उसके प्रचार का प्रयास ही नहीं किया। उसके उल्लेख न करने का दूसरा कारण उनकी विस्मृति हो सकती है। यद्यपि लेखक अपनी पहली बड़ी रचना ही भूल जाय; विश्वसनीय नहीं है। ऐसी गलती उन्होंने "असरारे मआविद" के साथ भी की थी। यद्यपि वह छपा भी था लेकिन प्रेमचंद ने उसका कहीं उल्लेख नहीं किया।

लेकिन इन दो कारणों में से पहला कारण तर्क संगत प्रतीत होता है। 29 जनवरी 1921 के इम्त्याज अली के पत्र में उन्होंने ऐसा ही संकेत दिया है-''हम खुर्मा व हम सबाब'' और किशना वगैरह मेरी इब्तिदाई तसानीक हैं। यह गालिबन उन्नीस सौ की तसानीफ है। मेरे पास इनमें से एक भी जिल्द नहीं और न शायद पब्लिशर के यहां ही निकल सके और न उनके देखने की ही जरूरत है।"[84]"

ध्यान देने की बातें तीन हैं-पहली "वगैरह" और दूसरी ''न उनके देखने की जरूरत है।" तीसरी "मेरे पास इनमें से एक भी जिल्द नहीं।" वगैरह में किसी अन्य किताब की भी ध्वनि है, और ''उनके देखने की जरूरत नहीं" से

उन पुस्तकों की उपेक्षा की ध्वनि है, और "उनके देखने की जरूरत नहीं" से उन पुस्तकों के अनस्तित्व की ध्वनि साफ निकल रही है। एक बात और - यह कि "हम खुर्मा व हम सबाब" तथा "किशना" के नाम लेकर उल्लेख करने का कारण इनकी अपेक्षाकृत अच्छाईयों के प्रति ध्यानाकर्षण है। किन्तु रूठी रानी, असरारे मआविद तथा प्रतापचंद का नाम तक न लेने के पीछे अवश्य ही प्रेमचंद द्वारा इन पुस्तकों के प्रति अनाकर्षण और अस्तित्वहीनता ही प्रमुख है, न कि विस्मरण का आरोप लगाना।

'किशना' नहीं मिला, प्रतापचंद नहीं मिला, सिर्फ असरारे मआविद व रूठी रानी मिल पाये। ये धारावाहिक छपे हैं। 'किसना का इश्तहार भर मिलता है। प्रतापचंद का इश्तहार भी नहीं मिलता, संकेत भर मिलता है। अत प्रतापचंद प्रेमचंद का प्रथम उर्दू उपन्यास है।

असरारे मआविद उर्फ "देवस्थान रहस्य"

यह लघु उपन्यास है। यह बनारस के साप्ताहिक उर्दू पत्र "आवाज ए-खल्क" में 8 अक्टूबर 1903 से 1 फरवरी 1905 तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। इसमें लेखक का नाम "मुंशी धनपतराय उर्फ नवाब राय इलाहाबादी" छपा है। इसका स्वतंत्र प्रकाशन शायद नहीं हुआ था। यह अधूरा ही है। इसके अधूरेपन का कोई कारण नहीं मिल सका है। इसकी रचना प्रेमचंद ने अवश्य ही 1900 ई0 के आस-पास की होगी। इनके पत्र से भी यह संकेत मिलता है।"[85]"

सर्वप्रथम यह उपन्यास अमृतराय द्वारा "मंगलाचरण" में संकलित किया गया। इसे "असरारे मआविद" उर्फ देवस्थान रहस्य नाम से प्रकाशित किया गया है।

शिल्प में विखराव हैं, भाषा में अनगढ़पन किंतु सामाजिक यथार्थ की प्रस्तुति कर आदर्श स्थापन का उद्देश्य सर्वोपरि है।

इसमें धर्म के ठेकेदार पंडे-पुजारी और महन्त के सामाजिक दुराचार और शोषण का चित्रण यथार्थ रूप से किया गया है।

प्रेमा उर्फ "हम खुर्मा व हम सबाब"

मंगलाचरण में प्रथम संस्करण की प्रति ही छपी है जिस पर प्रकाशन तिथि 1907 ई0 अंकित है। यद्यपि प्रेमचंद ने इसे 1904 में इण्डियन प्रेस से छपने की बात कही है जो प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर गलत हैं। 'हम खुर्मा

व हम सबाब' को हिन्दी में लिखने की बात भी गलत लिखी है क्योंकि तब तक वह हिन्दी नहीं लिख सकते थे। जैसा कि अमृतराय लिखते हैं, सही है कि प्रेमा को किसी मित्र से अनुवाद कराया होगा।"[86]" हम खुर्मा व हम सबाब" का हिन्दी रूपान्तर प्रेमा' 1907 में हुआ किन्तु यह उर्दू में पहले लिखा गया और छपा। प्रेमचंद के अनुसार इसका लेखन भी 1900 के आस-पास हुआ था। लेकिन यह 1903 के बाद ही लिखा गया है क्योंकि 1905 के 30 जनवरी के पत्र में उन्होंने निगम को लिखा-"आपने मेरा नाविल पढ़ा कि नहीं' फिर उसके बीस दिन बाद लिखा-"मैंने दो महीने पहले अपने उपन्यास की पाण्डुलिपि आप के पास भेज दी थी, आशा है आप मेरे लिए प्रकाशक ढूँढ लेने की कृपा करियेगा।" और यह उपन्यास लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित भी हुआ। 1906 के आस-पास यह छपा भी था।"[87]" प्रेमा उसका अनुवाद नहीं सिर्फ रूपान्तर है क्योंकि दोनों में कुछ अंतर मिलता है। प्रेमा के प्रथम प्रकाशन में लेखक का नाम "बाबू नवाब राय बनारसी" छपा है।

मुख्य कथा विधवा विवाह की है। पहले इंकार करने के बाद अंत में विधवा प्रेम विवाह समस्या का समाधान है। उपन्यास का फलक विस्तृत है, अनेक पात्रों के माध्यम से अनेक छोटी-छोटी समस्याएं उठायी गयी हैं।

किशना

यह अप्राप्त उपन्यास है। शिवरानी देवी ने इसे प्रेमचंद की पहली उपन्यास कृति कहा है। जनार्दन प्रसाद "द्विज" भी इसे प्रेमा से पहले लिखा गया मानते हैं।"[88]" "परन्तु प्यारे लाल प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास "कृष्णा" मानते हैं और उसका प्रकाशन 1908 में मानते हैं।"[89]" अमृतराय 1907 में छपने का संकेत देते हैं। किशना का पहला इश्तहार अगस्त 1907 में मिलता है और समालोचना अक्टूबर-नवम्बर 1907 के "जमाना" में मिलती है।"[90]" निश्चय ही किशना 1907 के आरम्भ में छपा होगा किन्तु इसका लेखन 1904-05 के आस-पास हुआ होगा। जब कि प्रेमचंद इसके 1900 के आसपास लिखे जाने की बात स्वीकार करते हैं। इसी समय वह 'हम खुर्मा व हम सबाब" लिखकर निगम से उसके प्रकाशन की बात कर रहे थे। प्रेमचंद ने इसके प्रकाशन स्थान का नाम मेडिकल हाल प्रेस बनारस" बताया और प्यारे लाल भी बनारस ही बताते हैं।

किशना की समालोचना जमाना में छपी थी जिसमें लिखा है-"यह भी एक नाविल है और हमारे सोशल रिफार्म से ताल्लुक रखता है। जमाना के

मशहूर मजमुननिगार मुंशी नवाबराय साहब बनारसी इसके मुसन्निफ हैं जो फने नाविल नवीसी पर उमदा अबूर रखते हैं। उन्होंने औरत के जेवर के फजूल शौक की अच्छी चथाड़ की है।"[91] 'नाविल नवीसी पर उमदा अबूर रखते हैं', से स्पष्ट है कि किशना के पहले भी प्रेमचंद के उपन्यास छप चुके थे तभी वह नाविल-नवीसों में विख्यात हो चुके थे अतः किशना को पहला उपन्यास मानना सर्वथा भ्रामक है।

किशना सामाजिक उपन्यास था जिसमें आभूषण प्रियता को केन्द्र बिन्दु बनाया गया था। यह भी 142 पृष्ठों का लघु उपन्यास था। हो सकता है आगे चलकर इसी पृष्ठभूमि पर गबन लिखा गया हो जिसकी समस्या भी आभूषण प्रियता है। गबन के सामने 'किशना' का क्या अस्तित्व? अतः प्रेमचंद ने उसे महत्व नहीं दिया होगा।

रूठीरानी

इसका प्रथम प्रकाशन जमाना में अप्रैल 1907 से अगस्त 1907 तक धारावाहिक रूप से हुआ है। यह उपन्यास उर्दू में पुस्तकाकार भी लाजपतराय एण्ड संस लाहौर से छपा है पर उसमें प्रकाशन तिथि नहीं अंकित है। जो प्रति प्राप्त हुई है वह तीसरा संस्करण है किन्तु उस पर वर्ष नहीं अंकित है फिर भी इतना निश्चित है कि यह उपन्यास 1908 के आस-पास उर्दू में प्रकाशित हुआ होगा क्योंकि 1907 के अगस्त तक यह धारावाहिक प्रकाशित हो रहा था वैसे यह हिन्दी में नहीं छपा। यह 111 पृष्ठों का लघु एवं प्रेमचंद का पहला तथा अन्तिम ऐतिहासिक उपन्यास है। कमल किशोर गोयनका के अनुसार-"इसका रचनाकाल भी सन् 1906 के आस-पास ही होना चाहिए।"[92] उनका तर्क सही लगता है क्योंकि 1905-06 में अपने लेखों में प्रेमचंद ने ऐतिहासिक उपन्यास सम्बन्धी विचार प्रकट किया था। अतः 1905 और 1906 के बीच किन्हीं महीनों में इस लघु उपन्यास की रचना प्रेमचंद ने की होगी।

इसमें मालदेव नरेश मालदेव तथा उसकी रूठीरानी उमादे की ऐतिहासिक कथा को आधार बनाया गया है। हुमायूँ, शेरशाह और अकबर के आक्रमण और घमासान युद्ध वर्णन से तथा अंत रूठीरानी के सती होने से होता है। इस लघु उपन्यास में एक ही राजवंश के 34 वर्षों की कथा संयोजित की गयी है।

वरदान उर्फ जलवए ईसार

उर्दू में ही सर्वप्रथम "जलवए ईसार" 1912 में इण्डियन प्रेस इलाहाबाद

से प्रकाशित हुआ। यह नवाबराय के नाम से छपा। हंसराज रहवर इसकी रचना तिथि का अनुमान 1905-06 में लगाते हैं और डॉ0 कमर रहीस 1910 में। मदन गोपाल इसे "प्रतापचंद" का सुसंगठित रूप बताते हैं किन्तु यह मत सर्वथा भ्रामक है। वास्तव में इसकी रचना 1910 के आस-पास ही हुई होगी क्योंकि 1900 से 1905-06 तक प्रेमचंद ने कई उपन्यास लिखे, उनके बीच में इसे भी बताना तर्क संगत नहीं है। तब तक प्रेमचंद कुछ प्रकाशकों से अच्छी तरह परिचित हो चुके थे। अतः 1905 के आस-पास लिखकर, 1912 तक यानी सात साल तक प्रकाशित न करने का कोई तर्क नहीं जंचता। यह उपन्यास लिखने के एक वर्ष भर बाद अवश्य प्रकाशित हुआ होगा। अतः इसकी रचना तिथि 1910-11 ई0 मानी जा सकती है।

'जलवए ईसार' का हिन्दी रूपान्तर 1912 के आरम्भ में हुआ। अप्रैल की 1912 की सरस्वती में इसका सर्वप्रथम विज्ञापन परिचय सहित प्रकाशित हुआ। यह 1977 सम्वत को ग्रंथ भण्डार बम्बई से प्रकाशित हुआ। अर्थात 1921 के प्रारम्भ में।

सेवासदन उर्फ बाजारे हुश्न

प्रेमचंद ने सर्वप्रथम उर्दू में ही "बाजारे हुश्न" लिखा फिर उसका हिन्दी अनुवाद करने लगे। हिन्दी में छपने के बाद उर्दू रूप छप सका। उपन्यास के विषय में दया नारायण निगम को 8 अगस्त 1917 को लिखा-"अपना नाविल खत्म कर रहा हूँ। उसे पहले हिन्दी में तबाअत करने का कस्द है। उर्दू में तो पब्लिशर उन्का हैं।[93]" "फिर 2 जून 1918 को निगम को लिखा-"अपने हिन्दी नाविल को प्रेस में देना है।[94]" इसके बाद 23 सितम्बर 1918 को लिखा-"इसका हिन्दी एडीसन दस फार्म छप चुका है।[95]" इस आधार पर कमल किशोर गोयनका ने इसका प्रकाशन दिसम्बर 1918 माना है।[96]" जबकि अमृतराय इसका प्रकाशन 1919 का मध्य मानते हैं जो गलत भी है। इसका खण्डन प्रेमचंद के ही एक पत्र (24 अप्रैल 1919) से होता है-"आप यह सुनकर खुश होंगे कि मेरे हिन्दी नाविल ने खूब शोहरत हासिल की और अक्सर नक्कादों ने उसे हिन्दी जबान का बेहतरीन नाविल कहा है। यह बाजारे हुश्न का तर्जुमा है।[97]" निश्चय ही चार महीनों के अन्दर सेवासदन की अनेक समीक्षाएं निकल चुकी थीं। इस आधार पर इसे 1918 का प्रकाशन मानना उचित है। तिथि सम्वत् 1975 का उल्लेख किया है।

'बाजारे हुश्न' का लेखन निश्चित रूप से 1916 के नवम्बर के दिनों में

शुरू हुआ था क्योंकि अपने 24 जनवरी 1917 के पत्र में निगम को उन्होंने लिखा-"मैं आजकल एक किस्सा लिखते-लिखते नाविल लिख चला।"98" समाप्ति की संभावित सूचना 8 अगस्त 1917 के पत्र में दिया अर्थात इसका उर्दू रूप लगभग ग्यारह माह में समाप्त हुआ। गोयनका ने इसकी तिथि आठ-नौ माह गलत लिखी है। इसकी समाप्ति में निश्चय ही ग्यारह माह लगा था। इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य भी अगस्त 1917 से प्रारम्भ किया और 29 जनवरी 1918 को लिखते रहने की सूचना देकर 2 जून 1918 को "प्रेस में देने" की बात लिखी अर्थात हिन्दी अनुवाद तैयार करने में लगभग नौ माह लग गये थे। सेवासदन का हिन्दी प्रकाशन हिन्दी पुस्तक एजेंसी कलकत्ता से हुआ था।

"बाजारे हुश्न" का प्रकाशन 1919 के मध्य में लाहौर से दो भागों में हुआ। अर्थात हिन्दी में छपने के बाद ही उसका उर्दू संस्करण आया। यह प्रेमचंद का पहला प्रकाशित हिन्दी उपन्यास है।

प्रेमाश्रम उर्फ गोशए आफियत

इसकी उर्दू पाण्डुलिपि उपलब्ध है। यह भी पहले उर्दू में लिखा गया किन्तु छपा पहले हिन्दी में। 1922 के अप्रैल में इसका हिन्दी अनुवाद "प्रेमाश्रम" हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता से प्रकाशित हुआ और उसके बाद उर्दू संस्करण "गोशए आफियत" नाम से लाहौर से 1928 में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ। 31 मई 1922 को प्रेमचंद ने निगम को लिखा-"मेरा नया नाविल भी शाया हो गया। बड़े अच्छे रिव्यू हो रहे हैं।"99" अर्थात प्रेमाश्रम अप्रैल के माह में प्रकाशित हुआ होगा। सरस्वती जून अंक में प्रेमाश्रम की 1200 प्रतियों के बिकने की सूचना है। यद्यपि गोयनका इस आधार पर इसका प्रकाशन 1921 के अंत या 22 के आरम्भ में मानते हैं क्योंकि मार्च या बाद के प्रकाशन से जुलाई तक हजार प्रति बिकनी असम्भव है। किन्तु गोयनका का मत निराधार है क्योंकि अप्रैल 1922 में प्रकाशित होने तथा जुलाई तक अर्थात चार माह में 1200 प्रति बिकनी असम्भव नहीं थी। क्योंकि सेवासदन की सफलता से प्रेमचंद हिन्दी साहित्य जगत में छा गये थे अतः दूसरा उपन्यास छपते ही बिक गया। यदि ऐसा न होता तो अक्टूबर 22 को वह निगम को यह न लिखते-"प्रेमाश्रम" की 1200 जिल्दें निकल गयीं। अब दूसरे एडीसन की तैयारी है।"100" निश्चय ही प्रेमाश्रम की प्रकाशन तिथि मार्च या अप्रैल 1922 उचित है।

2 मई 1918 को निगम को लिखा-''नाविल शुरू कर रखा है जो शायद महीने में चार-पाँच सुफहात से ज्यादा नहीं चलता।''[101] पहले इसका नाम 'नेकराम' फिर 'नाकाम' और छपने पर गौशए आफियत रखा। 5 सितम्बर 1919 को निगम को लिखा-''इसका नाम अभी नेक नाम रखा है।'' फिर 18 फरवरी 1920 -''मेरा दूसरा नाविल नाकाम अन करीब इख्तिताम है। पहले हिन्दी में छपेगा।'' पाण्डुलिपि के आधार पर यह 25 फरवरी 1920 को लिखकर समाप्त हुआ। इसके लिखने में 1 वर्ष 9 माह लगे।

25 फरवरी 1920 को 'नाकाम' समाप्त करने के बाद इसका हिन्दी अनुवाद शुरू किया किन्तु कार्याधिक्य के कारण अनुवाद का कार्य धीरे चल रहा था। इम्तयाज अली ताज को लिखे गये 28 अगस्त 1920 के पत्र में झुँझला कर लिखा-''कई काम छेड़ रखे थे सभी अधूरे पड़े हैं। नाकाम नामुकम्मल है। उसका हिन्दी तर्जुमा नामुकम्मल है।'' अर्थात अगस्त के पहले अनुवाद कार्य आरम्भ कर चुके थे। 20 अक्टूबर को फिर लिखा-''ईश्वर ने चाहा तो चन्द माह में मेरा अपना नाविल 'नाकाम' तैयार हो जाएगा।''[102] फिर उन्ही को 3 जनवरी 1921 को लिखा-''नाविल की हिन्दी कर रहा हूँ।''[103] अर्थात जनवरी के बाद भी वह अनुवाद कर रहे थे। लेकिन अनुवाद के बाद वह छपा मार्च-अप्रैल 1922 में ही। इसके बाद वह 'नाकाम' को गोशए आफियत के नाम से छपाने की सोचने लगे। 25 जून 1922 को निगम को लिखा-''आज कल अपना नया नाविल गोशए आफियत साफ लिख रहा हूँ।''

इससे साफ जाहिर है कि पहले प्रेमचंद नेकनाम, नाकाम का उर्दू रूप लिखने के बाद उसे साफ नहीं किया था और उसी उर्दू रूप से प्रेमाश्रम लिखकर छापने के बाद उर्दू में छापने के लिए ''गोशए आफियत'' नाम देकर उर्दू में साफ-साफ लिखते गये थे। 'गोशए आफियत' 1928 में प्रकाशित हुआ।

रंगभूमि उर्फ चौगाने हस्ती

यह भी पहले उर्दू में ''चौगानेहस्ती'' के नाम से लिखा गया। फिर हिन्दी भाषान्तर करके रंगभूमि नाम से प्रकाशित हुआ। बाद में रंगभूमि को ही दुबारा उर्दू अनुवाद इकबाल वर्मा संहर से करवाने के बाद प्रेमचंद ने चौगाने हस्ती प्रकाशित कराया क्योंकि उनके अनुसार उर्दू का पहला रूप कटा-पिटा था और हिन्दी रूपान्तर में काफी अंश जोड़े भी गये थे इसलिए दुबारा उर्दू अनुवाद आवश्यक था। 'रंगभूमि' जनवरी 1925 के अंत या फरवरी के शुरू में प्रकाशित हुआ था। शिवपूजन सहाय को लिखे गये 2 जनवरी के पत्र में

प्रेमचंद ने सूचित किया-"रंगभूमि" के 40 फार्म छप चुके हैं।"[104]" प्रेमचंद ने 22 फरवरी 1925 को शिवपूजन जी को एक प्रति भेजते हुए उस पर आलोचना लिखने का आग्रह किया। उसके प्रथम संस्करण पर बसंत पंचमी 1981 तिथि छपी है। गोयनका तथा अमृतराय भी इसका कारण प्रकाशन तिथि का अनुमान के आधार पर लिखना माना है। जो सत्य भी लगता है। माधुरी में 31 जनवरी 1925 में एक विज्ञापन निकला जिसमें पिछले महीने इसके निकलने की सूचना दी गयी थी। यह विज्ञापन का एक ढंग होता है जिसमें पाठक समुदाय पहले से पुस्तक खरीदने का प्रयास करने लगे और निकलते ही खरीद होने लगे। वैसे इसका प्रकाशन जनवरी का अंत या फरवरी का प्रारम्भ ही उचित माना जा सकता है। यह गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ से प्रकाशित हुआ।

इसका लेखन मूल उर्दू पाण्डुलिपि के आधार पर 1 अक्टूबर 1922 को "चौगाने हस्ती" नाम से आरम्भ हुआ और 1 अप्रैल 1924 को समाप्त हुआ। ऐसा अमृतराय सूचित करते हैं। (कलम का सिपाही पृ0 655)। इसे लिखने में डेढ़ वर्ष का समय लगा। 12 अगस्त 1924 को यानी तीन माह बाद ही इसका हिन्दी रूप भी तैयार हो गया। प्रेमचंद ने हिन्दी पाण्डुलिपि पर यही तिथि अंकित की है। यह प्रेमचंद का सबसे बड़ा उपन्यास है।

उर्दू में चौगाने हस्ती, लाहौर से 1927 में प्रकाशित हुआ। उर्दू का पहला रूप तैयार होने के बाद हिन्दी अनुवाद करते समय उर्दू सामग्री में कुछ परिवर्तन करके हिन्दी में सर्वप्रथम कुछ अध्याय जोड़ दिए गए, इसी से बाद में उ़र्दू की चौगाने हस्ती का अनुवाद मूल हिन्दी रंगभूमि से प्रेमचंद ने इकबाल वर्मा को पारिश्रमिक देकर करवाया था।

कायाकल्प उर्फ पर्दा-ए-मजाज

कायाकल्प का प्रकाशन 1926 के प्रारम्भ से मई तक के समय में कभी हुआ क्योंकि निगम को एक पत्र में 17 जुलाई 1926 को उन्होंने लिखा-"हिन्दी में सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, चारों नाविल दो-दो साल के वक्फे के बाद लिखे।"[105]" अमृतराय लिखते हैं-"पहली सितम्बर 1925 को मुंशी जी बनारस लौटे और उसके कुछ ही महीने बाद कायाकल्प और अहंकार मुंशी जी के अपने प्रेस से प्रकाशित हुए।"[106]"

पाण्डुलिपि के आधार पर इसके लेखन का आरम्भ 10 अप्रैल 1924 को हुआ यानि रंगभूमि समाप्त करने के हफ्ते भर बाद से ही, और अमृतराय के

अनुसार "जुलाई अगस्त आते-आते, डेढ़ बरस से कुछ समय में ही कायाकल्प समाप्त हो गया।"[107] प्रेमचंद का हिन्दीं पाण्डुलिपि में प्राप्त होने वाला यह पहला उपन्यास है। पाण्डुलिपि के आधार पर पहले इसका नामकरण 'असाध्य साधना' फिर 'मायास्वप्न', फिर 'आर्तनाद' रखा गया था।

उर्दू रूप 'पर्दा-ए-मजाज' का प्रकाशन 1930 में हुआ।

निर्मला

इसका प्रथम प्रकाशन-"चाँद", नामक हिन्दी पत्रिका में नवम्बर 1925 से लेकर नवम्बर 1926 तक (यानी एक साल तक) धारावाहिक हुआ। इसके पुस्तकाकार प्रकाशित होने की तिथि अमृतराय ने चांद प्रेस से 1927 में बतायी है। इसके लेखन की निश्चित तिथि कहीं से प्राप्त नहीं होती है लेकिन यह निश्चित है कि इसका लेखन 1925 के आरम्भ में किसी समय शुरू हुआ होगा।

इसका उर्दू रूप "निर्मला" लाहौर से 1929 में प्रकाशित हुआ।

प्रतिज्ञा उर्फ बेवा

यह उपन्यास जनवरी 1927 से "चांद" में प्रकाशित होने लगा और 1927 के नवम्बर माह में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो गया। इसका पुस्तकाकार प्रकाशन सरस्वती प्रेस बनारस से हुआ।

समालोचकों में इसके लेखन के संबंध में बड़ा मतभेद है। अधिक समालोचक इसे प्रेमा का परिवर्तित-परिवर्द्धित रूप मानते हैं क्योंकि पात्र और घटनाओं में परस्पर साम्य हैं। किन्तु इस बात को स्वयं प्रेमचंद ने अस्वीकार किया है कि दोनों एक ही हैं। -"प्रतिज्ञा और प्रेमा मेरी ही लिखी हुई हैं। प्रेमा मैंने 1905 में लिखी थी। उसमें एक विधवा का विवाह कराया गया है अर्थात् पूर्णा का अमृतराय से विवाह हुआ था, लेकिन आप दोनों पुस्तकों को सामने रख लें तो आप को सिवा वसन्त कुमार के गंगा वाले दृश्य के और कोई बात न मिलेगी। मैंने विधवा का विवाह कराके हिन्दू नारी को आदर्श से गिरा दिया था। उस वक्त जवानी की उम्र थी और सुधार की प्रवृत्ति जोरों पर थी। उस रूप में मैं उस पुस्तक को नहीं देखना चाहता था। इसलिए मैंने कथा में उलट फेर करके इसे लिख डाला, आप देखेंगे कि आरम्भ दोनों का भिन्न है, अन्त भी भिन्न है। समानता केवल पात्रों के नामों में है।"[108] अतः दोनों भिन्न हैं।

प्रतिज्ञा का उर्दू अनुवाद "बेवा" 1932 में छपा।

गबन

गबन का प्रकाशन फरवरी 1931 में हुआ। 29 फरवरी 1931 को जैनेन्द्र को पत्र में प्रेमचंद ने लिखा-"गबन छप गया है। बाइंडिंग होते ही पहुँचेगा।"[109] लेकिन प्रेस में जाने की तिथि नवम्बर 1930 या अक्टूबर है। क्योंकि जैनेन्द्र को इसकी सूचना 25 नवम्बर 1930 को दी थी। फिर 17 दिसम्बर 1930 को जैनेन्द्र को लखनऊ से लिखा "गबन अभी तैयार नहीं हुआ। तीन सौ पृष्ठ छप चुके हैं। अभी सौ पृष्ठ और होंगे।"[110] फिर 12 जनवरी 1931 को लिखा-"गबन के तीन फार्म और बाकी है।"[111]

गबन के लेखन को अमृतराय मार्च-अप्रैल 1929 का प्रारम्भ मानते हैं; जब मेरठ षड्यंत्र केस चल रहा था किन्तु गोयनका ने अमृतराय पर आरोप लगाते हुए कहा है कि-"अमृतराय के विचारानुसार मार्च 1929 में कभी गबन लिखना प्रारम्भ हुआ और 20 मार्च 1929 तक आधे से कुछ ही कम लिखा गया था। जिसकी सम्भाव्यता पर शतप्रतिशत संदेह किया जा सकता है।"[112] वास्तव में गोयनका का मत सर्वथा गलत है। क्योंकि अमृतराय ने कहीं भी उनके द्वारा निर्दिष्ट पृष्ठ पर ऐसा परस्पर विरोधी मत नहीं व्यक्त किया है। इसे गोयनका के मत का विभ्रम कहा जा सकता है।

मदन गोपाल का मत है कि गबन 1926-27 के किसी तिथि को प्रारम्भ करके 1928 के अंत में प्रेमचंद ने समाप्त किया। प्रेमचंद ने 28 फरवरी को निगम को पत्र में लिखा-"अगर इसे करता हूँ तो मेरा पर्द-ए मजाज रह जाता है। सुबह को करता हूँ तो 'कर्मभूमि' में हर्ज होता है। जस्टिस तो मैं किसी न किसी तरह कर ही डालूँगा।"[113] अतः तब तक गबन का लेखन समाप्त हो गया था। मदन गोपाल का मत भी गलत नहीं है और अमृतराय का भी कुछ सत्य प्रतीत होता है। अतः 1926-27 तक कभी शुरू करने के बाद 1929 के मार्च के बाद किन्हीं दिनों यह समाप्त हुआ होगा क्योंकि 20 मार्च 29 के मेरठ षड्यंत्र केस को तथा उसके प्रभाव को नकारा नहीं ज़ा सकता- वह एक साथ दो उपन्यास भी लिख सकते थे क्योंकि दोनों का कथानक बिल्कुल भिन्न था। 'कर्मभूमि और गबन की समाप्ति के दिन कुछ साथ-साथ बीते। यह सरस्वती प्रेस से छपा।

कर्मभूमि उर्फ मैदाने अमल

कर्मभूमि के प्रथम प्रकाशन तिथि को लेकर कुछ मतभेद है। अमृतराय

ने अगस्त 1932 को प्रकाशन तिथि माना है। प्रेमचंद ने 15 अगस्त 1932 को जैनेन्द्र को लिखा-"कर्मभूमि के तीस फार्म छप चुके हैं। अभी छः फार्म बाकी हैं।"[114] इसके विरूद्ध कमल किशोर गोयनका प्रकाशन तिथि सितम्बर 1932 मानते हैं उन्होंने कर्मभूमि के एक प्रथम संस्करण में प्रेमचंद का "निवेदन" शीर्षक प्रारम्भ कथन छपने का उल्लेख किया है। जिसमें 5 सितम्बर 1932 तिथि अंकित है।"[115] अतः यह मत सत्य के अधिक निकट है। इसका प्रकाशन सरस्वती प्रेस बनारस से हुआ।

इसके लेखन काल के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। मदन गोपाल के अनुसार 1929 में लेखन प्रारम्भ हुआ, उसमें वह फरवरी 1929 से 15 अप्रैल 1931 तक की तिथि लिखी है। लेकिन उसी पाण्डुलिपि के आधार पर ही अमृतराय 16 अप्रैल 1931 को प्रारम्भ तिथि मानते हैं। अमृतराय का मत निराधार है। प्रेमचंद के पत्रों से मदन गोपाल का मत अधिक सत्य सिद्ध होता है। सर्वप्रथम 18 फरवरी 1929 के निगम के पत्र में प्रेमचंद ने कर्मभूमि की सूचना दी है। 23 अप्रैल 1930 को कर्मभूमि के सतत लेखन का उल्लेख प्रेमचंद ने किया है। फिर 12 जनवरी 1931 को जैनेन्द्र को लिखा-"गबन के बाद "मैडलीन" छपेगी। तब तक मेरा दूसरा नाबिल भी लिखा जा चुकेगा।"[116]

अतः कर्मभूमि 16 अप्रैल 1931 को समाप्त हुआ होगा और उसका प्रकाशन सितम्बर 1932 है।

उर्दू में 'मैदाने अमल' का प्रकाशन जामिया मिल्लिया दिल्ली से हुआ।

गोदान उर्फ गऊदान

इसका प्रथम प्रकाशन 10 जून 1936 को सरस्वती प्रेस से हुआ। उन्होंने 9 जून 1936 को लिखा-"गोदान पूरा छप गया। बाइंडिंग होने पर भेजूँगा।" फिर एक दिन बाद ही 10 जून 36 को जैनेन्द्र को लिखा-"गोदान निकल गया। कल तुम्हारे पास जाएगा। खूब मोटा हो गया है। अपना विचार लिखना।"[117] लेकिन उपन्यास भेजा 22 जून को-"आज भेज रहा हूँ।"

इसका लेखन 1932 के जनवरी में हुआ। निगम को पत्र में लिखा (25 फरवरी 1932)-"एक नया नाविल भी शुरू कर दिया है मगर सर्दे बाजारी बलाएं जान ले रही है।[118] शुरू करने के बाद वह योजना बद्ध तरीके से लिख नहीं सके। 8 नवम्बर 1934 को एक पत्र में लिखा-"उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं; उधर मन ही नहीं जाता।"[119] फिर 17 दिसम्बर 1935 को लिखा-"इन दिनों मैं अपने उपन्यास में व्यस्त हूँ जिसे मैंने तीन साल हुए शुरू

किया था। मगर दूसरी मसरूफियतों की वजह से खतम नहीं कर सका।"[120]"

इसका उर्दू रूप "गऊदान" 1937 में मकतबा जामिया दिल्ली से प्रकाशित हुआ।

मंगलसूत्र

इसकी रचना प्रेमचंद ने बीमारी के दिनों में रात-रात भर जाग कर की थी। मृत्यु के क्षणों में लिखा गया यह अपूर्ण उपन्यास प्रेमचंद का अंतिम उपन्यास है। यद्यपि वह पहले से ही अस्वस्थ चल रहे थे किन्तु जून 1936 में वह गम्भीर रूप से बीमार पड़े। 5 अगस्त 1936 को निगम को लिखा-"कोई डेढ़ दो महीने से मुझे वरमे जिगर (यकृत सूजन) की शिकायत हो गयी है। दो बार मुंह से सेरों खून निकल आया है। देखिए इस बीमारी से नजात मिलती है या यह आखिरी पैगाम है।"[121]" वह 3 जून को बीमार होकर 8 अक्टूबर 1936 को महाप्रयाण कर गये। इस बीच 113 दिनों में जाग-जागकर उपन्यास के 70 पृष्ठ लिख डाला।

इसका प्रथम प्रकाशन 1948 में हुआ।

कहानी साहित्य

प्रेमचंद 1907 से कहानियां लिखने लगे थे। पहले उर्दू में लिखते थे। 1907 में पहली बार "जमाना" में उनकी पहली कहानी "संसार का सबसे अनमोल रतन" प्रकाशित हुई। 1908 में उनका पहला उर्दू कहानी संग्रह "सोजेवतन" प्रकाशित हुआ जिसमें पांच कहानियां थीं और सभी देशप्रेम के उच्च भावों से भरी थीं। सोजेवतन के सरकार द्वारा जब्त कर लिए जाने के बाद प्रेमचंद का आविर्भाव हुआ। इसके पहले वह नवाबराय के नाम से लिखते थे। इसके बाद उनकी कहानियां उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। हिन्दी में पहली कहानी "पंचपरमेश्वर" 1916 के सरस्वती में छपी। इसी वर्ष उर्दू 'प्रेम पचीसी' भाग एक का प्रकाशन भी हुआ।

हिन्दी में पहला कहानी संग्रह "सप्तसरोज" 1917 में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से प्रकाशित हुआ। दूसरा संग्रह 'नवनिधि' 1917 में ही हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई से छपा। 1919 में तीसरा संग्रह "प्रेमपूर्णिमा" हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने छापा। फिर 1923 में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से ही 'प्रेम पचीसी' का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष "प्रेमप्रसून" गंगा पुस्तक माला से छपा। 1926 में दो संग्रह "प्रेमद्वादशी" और "प्रेमप्रतिमा" गंगा पुस्तक माला से प्रकाशित हुए। इसी

वर्ष तीसरा संग्रह "प्रेम प्रमोद" चांद कार्यालय से निकला। सरस्वती प्रेस से पहली बार 1928 में "प्रेम चतुर्थी" का प्रकाशन हुआ फिर बाद के सारे संग्रह सरस्वती प्रेस से ही छपे। 1929 में दो संग्रह आये-"पांच फूल" और "प्रेमतीर्थ"। 1930 में "समरयात्रा" का प्रकाशन हुआ और 1933 में "प्रेरणा" का। 1935 में सरस्वती प्रेस से ही "मानसरोवर" भाग एक का प्रकाशन प्रेमचंद ने किया।

प्रेमचंद के मरणोपरान्त मानसरोवर के बाकी सात भाग सरस्वती प्रेस से निकले। फिर "कफन" तथा "गुप्त धन" भाग एक व दो का प्रकाशन अमृतराय ने किया। अब डॉ0 हैकरवाल ने पचीस कहानियों का एक प्रकाशन गुप्तधन भाग तीन से किया है और उनकी अप्राप्य कहानियों का एक अन्य संग्रह भी इधर प्रकाशित हुआ है।

प्रेमचंद की सारी कहानियां मानसरोवर के आठ भागों तथा कफन और गुप्तधन भाग एक-दो तीन में संग्रहीत हैं। कुछ कहानियां जो अप्राप्य थी और भूल से छूट गयी थीं उनका एक संग्रह कमल किशोर गोयनका ने इधर हाल ही में किया है 'प्रेमचंद की सोलह अप्राप्य कहानियां' नाम से। इस तरह प्रेमचंद की कुल उपलब्ध कहानियाँ की संख्या लगभग तीन सौ से अधिक हो जाती हैं।

प्रेमचंद की कहानियों का विषयवस्तु के तौर पर स्पष्ट और निष्पक्ष काल-विभाजन नहीं किया जा सकता क्योंकि कहानियों का तेवर सोजेवतन से लेकर प्रेरणा तक एक है। 1907 से लेकर 1936 तक की उनकी कहानियां एक ही तेवर धारण किये मिलती हैं। सब का उद्देश्य एक ही है। देश की मुक्ति की चिंता और आजादी की लड़ाई में राजनीतिक हस्तक्षेप व सामाजिक जागृति तथा संघर्ष का लेखा-जोखा। जो आलोचक उनकी कहानियों को प्रारम्भिक व विकासवादी आदि अनेक खण्डों में बांट कर देखते हैं, वे भले ही प्रेमचंद के शिल्पगत विकास की एक कड़ी ढूँढने में सफल होते हैं किन्तु वैचारिक विकास के नाम पर किसी स्पष्ट धारणा के निकट पहुँचने में असफल होते हैं। सोजेवतन में प्रेमचंद मुक्ति के लिये जिन अवधारणाओं का समावेश कहानियों में करके एक विराट राष्ट्रीयता की शपथ दिलाते हैं वही संकेत 'कफन' व 'पूस की रात' जैसी अंतिम काल की सर्वोत्कृष्ट कही जाने वाली कहानियों में भी देते हैं। इन्हें एक ही विचारधारा आदर्शोन्मुख यथार्थ वाद का नाम दिया जाना चाहिए।

नाटक साहित्य

प्रेमचंद ने कुल तीन नाटक लिखे हैं-संग्राम, कर्बला और प्रेम की वेदी। संग्राम 1923 में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से प्रकाशित हुआ। यह नाटक उन्होंने 1922 में ही कभी लिखा था किन्तु जून 1922 तक वह उसे लिखने में व्यस्त थे। 16 जून 1922 के निगम के पत्र में लिखा-"आज कल एक ड्रामा लिखने और अपने घर की तामीर में ऐसा मशरूफ हूँ कि कोई किस्सा लिखने का मौका न पा सका।"[122] निश्चित रूप से यह 1922 के अंत तक लिखा जा चुका था। क्योंकि 1923 में इसके छप जाने के बाद उन्होंने कर्बला पर काम करना शुरू कर दिया था। 1923 के प्रारम्भ से ही कर्बला लिखने की मानसिकता बन रही थी। निगम को लिखे गये पत्र 14 अगस्त 1923 में-"कर्बला के मुताल्लिक जनाब ख्वाजा साहब ने मुझे एक किताब दिखायी थी जिसमें मरासी मर्सियों के इन्तखाब थे।"[123] और इसी के लगभग यानी सितम्बर से 'कर्बला पर काम शुरू कर दिया जो 1924 फरवरी के शुरू में लिखकर तैयार हो गयी। इसकी सूचना निगम को देते हुए उन्होंने 17 फरवरी 1924 को लिखा-"मैंने इधर पांच महीनों में अपने नाबिल रंगभूमि के साथ एक ड्रामा लिखा है। नाम है कर्बला।"[124] अर्थात् सितम्बर 1923 से कर्बला का लेखन शुरू हुआ जो 1924 के जनवरी के अंत या 17 फरवरी तक लिखकर तैयार हो गयी। इसके तुरन्त बाद इसे छपने के लिये प्रेस में दे दिया। 8 जुलाई 1924 तक यह छप भी नहीं सकी थी। "मेरे रूपये कर्बला, मनमोदक, सुघड़बेटी और सुशील कुमारी इन चार किताबों की तवाअत और तैयारी में फंसे हैं।"[125] जुलाई में छपने के पहले ही इस पर आलोचनाएं हुई थीं- जमाना कार्यालय में। जिनका उत्तर प्रेमचंद ने दिया था।

आलोचना के विषय में उन्होंने 22 जुलाई 24 को लिखा-"यह ड्रामा तारीखी होने के साथ पोलिटिकल है। यह ड्रामा महज पढ़ने के लिये लिखा गया था, खेलने के लिए नहीं।"[126] आलोचना होने तथा उसका उत्तर देने के पहले या बाद भी यह पुस्तक सरस्वती से नहीं छप सकी। काफी परेशानियों के बाद यह नवम्बर 1924 को गंगा पुस्तक माला से छप सकी।

उर्दू में कर्बला कभी नहीं छप सका। हां, जमाना में उसका उर्दू अनुवाद जुलाई 1926 से अप्रैल 1928 तक क्रमशः प्रकाशित हुआ।

'प्रेम की बेदी' 1933 में सरस्वती प्रेस से प्रकाशित हुआ। इसका लेखन 1932 में हुआ था और पुस्तक 1933 के मार्च-अप्रैल तक छप गयी थी क्योंकि

जैनेन्द्र को 27 मई 1933 को उन्होंने लिखा-"पुस्तकों का हाल मत पूछो। "प्रेम की वेदी, और फांसी का महीनों से विज्ञापन हो रहा है पर मुश्किल से दस आर्डर आये होंगे।"[127]

प्रेमचंद ने नाटक सिर्फ पढ़ने के लिए लिखा था; खेलने के लिए नहीं। 26 दिसम्बर 1934 को इन्द्रनाथ मदान को लिखे गये पत्र में उन्होंने स्पष्ट किया-"नाटक का महत्व समाप्त हो जाता है यदि उसको खेला न जाय। रंगमंच के नाम पर मुर्दा पारसी स्टेज है जिसके नाम से मुझे हौल होता है। इसके अलावा मैं कभी नाटक की टेकनीक और रंगमंच की कला के सम्पर्क में नहीं आया। इसलिए मेरे नाटक सिर्फ पढ़े जाने के लिए थे। अब भी मुझे उम्मीद है कि एक दो नाटक लिखूँगा।"[128] यही उद्देश्य कर्बला की भूमिका में उन्होंने प्रकट किया तथा निगम को लिखे गये पत्रों में भी।

इस आधार पर प्रेमचंद को सफल नाटककार नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनके नाटक रंगमंच के काबिल नहीं हैं किन्तु ध्यान से देखने पर व आवश्यक काट-छांट करके वे अभिनय योग्य बनाए जा सकते हैं।

संदर्भ :

1. विविध प्रसंग-भाग एक.
2. विविध प्रसंग-भाग एक.
3. विविध प्रसंग-भाग एक.
4. विविध प्रसंग-भाग एक.
5. विविध प्रसंग-भाग एक.
6. विविध प्रसंग-भाग एक.
7. विविध प्रसंग-भाग एक.
8. विविध प्रसंग-भाग एक.
9. विविध प्रसंग-भाग एक.
10. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 3.
11. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 13.
12. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 9.
13. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 15.
14. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 25.
15. विविध प्रसंग-भाग तीन-पृ0 55.
16. विविध प्रसंग-भाग तीन-पृ0 54.
17. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 110.
18. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 56.
19. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 19.
20. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 19.
21. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 35.
22. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 45.
23. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 45.
24. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 53.
25. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 154.
26. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 235.
27. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 166.
28. विविध प्रसंग-भाग एक.
29. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 193.
30. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 198.

31. विविध प्रसग भाग तीन पृ0 205.
32. विविध प्रसग-भाग तीन पृ0 235.
33. विविध प्रसग-भाग तीन पृ0 232.
34. विविध प्रसग-भाग तीन पृ0 149.
35. साहित्य का उद्देश्य-पृ0 186.
36. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 250.
37. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 261.
38. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 489.
39. विविध प्रसंग-भाग एक.
40. विविध प्रसग-भाग एक.
41. विविध प्रसंग-भाग एक.
42. विविध प्रसंग-भाग एक.
43. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 327.
44. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 364.
45. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 365.
46. विविध प्रसग-भाग तीन पृ0 389.
47. विविध प्रसंग-भाग एक.
48. विविध प्रसग-भाग एक.
49. विविध प्रसंग-भाग एक.
50. विविध प्रसंग-भाग एक.
51. विविध प्रसंग-भाग एक.
52. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 60.
53. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 72.
54. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 73.
55. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 102.
56. विविध प्रसंग-भाग तीन पृ0 125.
57. कलम तलवार और त्याग पृ0 17.
58. विविध प्रसंग-भाग दो पृ0 539.
59. विविध प्रसंग-भाग दो पृ0 554.
60. विविध प्रसंग-भाग दो पृ0 500.
61. विविध प्रसंग-भाग दो पृ0 451.
62. चिट्ठी पत्री-भाग दो.
63. चिट्ठी पत्री-भाग एक.
64. कहानीकार-अंक जुलाई 1981 पृ0 31.
65. अहंकार (भूमिका)-पृ0 10.
66. अहंकार अनुवाद प्रेमचंद-पृ0 2.
67. सुखदास (अनुवाद प्रेमचंद)-भूमिका.
68. अहंकार-पृ0 10.
69. अहंकार-पृ0 11.
70. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
71. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
72. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
73. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
74. चिट्ठी-पत्री भाग दो.
75. कुत्ते की कहानी-प्रेमचंद-पृ 39.
76. कुत्ते की कहानी-प्रेमचंद-पृ0 42.
77. कुत्ते की कहानी-प्रेमचंद-पृ0 95.
78. जंगल की कहानियाँ-प्रेमचंद-पृ0 13.
79. जंगल की कहानियां-पृ0 52.
80. चिट्ठी पत्री-भाग दो.
81. चिट्ठी पत्री भाग एक.
82. चिट्ठी पत्री भाग एक.
83. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्पविधान-पृ0 74.
84. चिट्ठी पत्री भाग दो.
85. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्पविधान पृ0 56.
86. मंगला चरण (भूमिका) सं0-अमृतराय-पृ0 7.

87. कलम का सिपाही-पृ0 59.
88. प्रेमचंदकला-जनार्दन प्रसाद द्विज पृ0 7.
89. प्रेमचंद-मदन गोपाल-33.
90. कलम का सिपाही-पृ0 59.
91. कलम का मजदूर-मदन गोपाल पृ0 40.
92. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्पविधान-पृ0 111.
93. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 65.
94. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 70.
95. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 74.
96. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्पविधान-पृ0 61.
97. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 83.
98. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 57.
99. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 121.
100. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 127.
101. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 76.
102. चिट्ठी-पत्री भाग दो.
103. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 109.
104. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 221.
105. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 162.
106. कलम का सिपाही-पृ0 359.
107. कलम का सिपाही-पृ0 346.
108. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान पृ0 545.
109. प्रेमचंद एक कृती व्यक्तित्व- जैनेन्द्र-पृ0 102.
110. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 13.
111. चिट्ठी-पत्री भाग एक-पृ0 17.
112. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान-पृ0 69.
113. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
114. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 26.
115. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान पृ0 72.
116. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 18.
117. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 64.
118. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 192.
119. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 51.
120. चिट्ठी-पत्री भाग दो-पृ0 264.
121. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
122. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
123. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
124. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
125. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
126. चिट्ठी-पत्री भाग एक.
127. चिट्ठी-पत्री भाग दो.
128. चिट्ठी-पत्री भाग दो.



प्रेमचंद का रचनात्मक एवं विचारात्मक साहित्य

प्रारम्भिक उपन्यास और कहानियाँ

प्रेमचंद के रचनात्मक साहित्य को दो भागों में बांट कर देखना अधिक न्याय संगत होगा। प्रारम्भिक काल को 1900 ई0 से 1916 ई0 तक अर्थात सेवासदन के पूर्व तक मानना उचित होगा क्योंकि सेवासदन उनका प्रथम परिपक्व साहित्यिक उपन्यास है। बाद के काल, यानी 1916 ई0 से 1936 ई0 तक को विकास काल कहना तर्क संगत होगा क्योंकि इसमें निरन्तर प्रेमचंद का भाव और कलापक्ष परिवर्द्धित संबर्द्धित होता गया है।

प्रारम्भिक उपन्यासों और कहानियों की प्रामाणिक अन्तिम संख्या निर्धारित करना कठिन ही नहीं असम्भव है। अनुमान और प्रमाण के आधार पर जितनी कोशिशें की गयी हैं बाद में अनुमान और तर्क उन्हें अप्रमाणिक मानते रहें हैं। लेकिन जैसा कि लिखा जा चुका है प्रेमचंद का पहला उपन्यास प्रतापचंद ही रहा होगा। निश्चय ही अधिकाधिक कमियों के कारण उसे प्रेमचंद प्रकाश में लाने में संकोच कर गये हैं। इस तरह प्रेमचंद के अब तक प्राप्त एवं सूचित प्रारम्भिक उपन्यासों की संख्या छः है— प्रतापचंद, असरारे मआविद उर्फ देवस्थान रहस्य, हम खुर्मा व हम सबाब उर्फ प्रेमा, किशना, रूठी रानी, जलवए ईसार उर्फ वरदान। ये सारे उपन्यास उर्दू में ही लिखे गये और प्रकाशित भी हुये। केवल वरदान बाद में हिन्दी में अनुवादित होकर छपा जिसका अनुवाद भी स्वयं प्रेमचंद ने नहीं किया दूसरे से कराया था। प्रेमचंद के साहित्यिक विकास को उर्दू और हिन्दी दो अलग-अलग भाषाओं में बांटकर नहीं देखा जा सकता। लेखक की विचार प्रक्रिया का निदर्शन अनवरत होता है अतः उसके वैचारिक पहलू की विकास यात्रा को महत्व दिया जाता है; न कि शिल्प और भाषा को। वस्तुतः ये दोनों तो अभिव्यक्ति के माध्यम भर हैं। इसीं लिए यहाँ प्रेमचंद को हिन्दी उर्दू के विभाजन से परे रखकर उनके वैचारिक सम्पदा के विकास का अध्ययन अपेक्षित है।

प्रेमचंद की प्रारंम्भिक कहानियों की अब तक प्रकाशित सूची के आधार पर संख्या 58 निश्चित की जा सकती है। इसमें 1908 के लगभग से लेकर 1916 तक की कहानियों को रखा गया है। इनमें से 57 कहानियां सर्व प्रथम

उर्दू पत्रिकाओं में छपी हैं जो कभी उर्दू और बाद में हिन्दी में छपी हैं किन्तु कुछ नहीं भी छपी हैं। प्रारम्भिक काल की सिर्फ एक कहानी 'सौत' है जो 1915 में हिन्दी में छपने के बाद उर्दू में छपी। इस काल में नाटकों की तरफ प्रेमचंद ने ध्यान नहीं दिया। हां कुछ नाटकों का अनुवाद किया जो साहित्यिक प्रेरणा वश और धनार्जन के उद्देश्य से किया गया।

मूल वस्तु और अन्तर्वस्तु

मूल वस्तु और अन्तर्वस्तु दोनों अलग शब्द हैं, दोनों में पर्याप्त अंतर है। वस्तु एक चिरन्तन रूप है जो हर काल में एक सा विद्यमान रहती है किन्तु अन्तर्वस्तु किसी भी वस्तु का कलात्मक रूपायन है, अभिव्यक्ति है। किसी वस्तु के प्रति लेखक या कलाकार के दृष्टिकोण से जो कलात्मक स्वरूप बनता है; वही उस वस्तु की अन्तर्वस्तु है। किसी भी कला में वस्तु नहीं होती सिर्फ अन्तर्वस्तु होती है। वस्तु का एक आभास मात्र अन्तर्वस्तु के पीछे से होता है क्योंकि वस्तु आधार है और संक्षेप में कह सकते हैं कि अन्तर्वस्तु मौलिक व्याख्या या निष्कर्ष है। आधार में विकसन की अनेक संभावनाएं अन्तर्गुम्फित होती हैं। एक ही वस्तु से तमाम अन्तर्वस्तुएं विकसित की जाती हैं। हर कलाकार किसी एक आधार से ही अपने दृष्टिकोण, मान्यताओं और क्षमताओं के आधार पर जो कलाकृति निर्मित करता है वह उसकी मौलिक उपज होती है, उसी वस्तु पर दूसरा कलाकार दूसरी अन्तर्वस्तु की झांकी प्रस्तुत करता है। एक ही वस्तु की ये तमाम अन्तव0स्तुएं कलाकार के दृष्टकोण की सफलता की मापदण्ड है। उसी से कलाकार की विचार प्रक्रिया का आकलन किया जाता है।

वस्तु का प्रयोग अपने अनुरूप करके एक कलाकृति का निर्माण करना अन्तर्वस्तु का निर्माण करना है। कोई भी विचार जब लेख, निबन्ध, भाषण या पत्र व जीवनी द्वारा प्रस्तुत किया जाता है तो वह वस्तुगत प्रस्तुतीकरण कहा जाता है किन्तु उस विचार को कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक का रूप देना वस्तु का अन्तर्वस्तु निर्मित करना है। अतः विचारात्मक लेखन ऐसा वस्तुगत विश्लेषण है, जो रचनात्मक साहित्य में अन्तर्वस्तु बन जाता है।

जैसे पुष्प सुंदर होता है, खिलता है, महकता है, साहित्यकार उसे अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं। एक उसके मुरझा कर गिरने से नश्वरता

की प्रतीति करता है, दूसरा उसके खिलने के कारणों का सर्वेक्षण करता है, तीसरा उसमें प्रेयसी की स्मित मधुर चंचल भंगिमा की कल्पना करता है, हिलने से स्वीकारोक्ति मापता है और मुरझाने में प्रेयसी की तरह व्याकुलता का अनुभव करता है।

इस तरह एक ही वस्तु से तरह-तरह की अन्तर्वस्तु का निर्माण होता है। एक ही आधार से अलग-अलग चीजें उत्पन्न की जाती हैं, एक ही जमीन में तरह-तरह के वृक्ष तैयार किए जाते हैं और अधिक गहराई से विश्लेषित करने के लिए कहा जा सकता है एक जमीन में यदि अनेक बीजों से अलग-अलग वृक्ष उगते हैं तो एक ही बीज से उगने वाले वृक्ष को भिन्न-भिन्न स्वाद और आकार दिया जा सकता है। आम के एक ही बीज से उगे समान आकार स्वाद वाले पौधे को अलग-अलग ढंग की छालों से कलम करके भिन्न स्वाद आकार वाले वृक्ष तैयार किए जाते हैं। वैसे ही समस्यारूपी बीज का अलग दृष्टिकोण रूपी छालों से कलम करके पानी स्वरूप जीवन देकर अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है।

प्रारम्भिक कृतियों में अन्तर्वस्तु

विचारात्मक लेखन से अन्तर्सम्बन्ध

प्रेमचंद एक सजग साहित्यकार थे। आरम्भ से ही (1900 ई0 से) उन्होंने राष्ट्रीयता की अपार प्रेरणा ग्रहण करके उपन्यास और कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया किन्तु कतिपय कारणों से अनेक विचारात्मक साहित्य 1900 ई0 के आस-पास से न प्राप्त होकर 1903 ई0 से प्राप्त होता है और वह भी अल्प मात्रा में। उसका इतर कारण न होकर उनके पास पत्रों, समाचार पत्रों का अभाव था। वह पर्याप्त लेख या निबन्ध लिखने की क्षमता रखते हुए भी नहीं लिख सकते थे क्योंकि उनके पास सम्पादक और पत्रों का अभाव था। प्रायः हर नये साहित्यकार के समक्ष ऐसी समस्या आती ही है। यही कारण है कि लेखन के प्रारम्भिक काल में नया साहित्यकार विचारात्मक लेखन की अपेक्षा रचनात्मक साहित्य अधिक रचता है क्योंकि कलाकृति होने के कारण उसमें उसकी मौलिक अन्तर्वस्तु का चमत्कार सन्निहित होता है। सम्पादक और प्रकाशक उसके रचनात्मक साहित्य को प्रकाशित कर देता है किन्तु अपरिपक्व विचारात्मक लेखन को उसके अधिकारी विद्वान न हो पाने के कारण प्रकाशित करने में झिझकता है। निश्चय ही प्रेमचंद के समक्ष ऐसी

समस्या थी अतः उनके प्रारम्भिक विचारात्मक लेखन का अभाव मिलता है। एक बात और; प्रेमचंद आरम्भ से ही स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष करने वाले लेखक थे, यह बात उनकी कहानियों व उपन्यासों के तेवर से स्पष्ट है, वैचारिक धरातल पर भी यही बात वह लिखकर किसी भी सम्पादक को राजनीतिक परेशानी में डाल सकते थे जैसा कि सोजेवतन के साथ हुआ भी था। रचनात्मक साहित्य में विचाराभिव्यक्ति के लिए सजगता एवं कला मर्मज्ञता से काम लिया जाता है जिसमें कला के आवरण में विचार छिपे रहकर परोक्ष प्रभाव उत्पन्न करते हैं; जब कि विचारात्मक लेखन में वह जो कहना चाह रहे थे; वही बात रचनात्मक लेखन में भी है और जहाँ भी विचारात्मक लेखन का अवसर मिला, सैद्धान्तिक बात कहने से नहीं चूके हैं। इसलिए दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए भी बराबर ध्यान रखना होगा कि उनका समृद्ध प्रारम्भिक रचनात्मक लेखन विचारात्मक लेखन के अभाव की पूर्ति करता चलता है। कुछ मूल वस्तुएं स्वतंत्र विचारात्मक लेखन में स्पष्ट हैं, कुछ मूल वस्तुओं का प्रेमचंद सीधा उपयोग रचनात्मक लेखन में करते हैं अन्तर्वस्तु बनाकर, अपनी पैनी कलम से सजा-संवार कर, उपन्यासों-कहानियों के जरिए।

प्रारम्भ में प्रेमचंद आर्य समाज से प्रभावित थे। अतः सामाजिक सुधार उनके साहित्य का विषय था। उन्होंने शिक्षा में हिन्दू संस्कृति की पुनर्स्थापना, स्त्री की मुक्ति एवं स्त्री शिक्षा, सामाजिक दूषण जैसे मद्य निषेध, वेश्यावृत्ति का विरोध, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति आक्रामकता, अस्पृश्यता निवारण, हिन्दू संस्कृति की गरिमा के प्रति आकर्षण, पश्चिमी सभ्यता का विरोध, इतिहास के प्रति आदर दृष्टि और दहेज जैसी कुप्रथा का विरोध आदि वस्तुओं से साहित्य की अन्तर्वस्तु का निर्माण किया।

सामाजिक सुधार के प्रति प्रयत्नशील रहते हुए भी प्रेमचंद देश की वर्तमान राजनीति के प्रति भी चिंतित थे। इसी से स्वदेशी आन्दोलन का स्वागत, कर प्रणाली की निंदा, साम्प्रदायिकता का विरोध, कांग्रेस से सहमति और शोषण के प्रति तीव्र आक्रोश भी उनके साहित्य का विषय बना। अतः दो विचारधाराएं उनके अन्तर्मन में उद्वेलित थीं एक सामाजिक सुधार की और दूसरी राजनैतिक सुधार की। एक के लिए आर्य समाज जैसा सशक्त सामाजिक आंदोलन का और दूसरे के लिए कांग्रेस के दोनों विरोधी दल नरम और गरम दल का द्वन्द्व जिसके लिए कभी वह गोखले की ओर झुकते तो कभी तिलक

की ओर, कभी गोखले के स्वर में स्वर मिला कर सुधार से सहमति प्रकट करते तो कभी तिलक के साथ कदम मिलाने की चेष्टा करते; जैसा कि पिछले अध्याय में व्याख्यायित किया जा चुका है। किन्तु सुधार की बात करते हुए भी या कि गोखले का ढीले मन से समर्थन करते हुए भी प्रेमचंद की आक्रामकता व क्रांतिकारी प्रवृत्ति हर जगह उभरी हुई दिखायी देती है चाहे सोजेवतन की कहानियां हों या ऐतिहासिक कहानियों या जीवनियों के बहाने क्रांति की बात कहने की उत्कट इच्छा हो या 'वरदान' में विरजन के पत्र के आवरण में शोषित कृषकों और शोषकों के अत्याचार की आंशिक चर्चा या 'देवस्थान रहस्य' में पण्डे-पुरोहितों पर कटाक्ष या 'प्रेमा' 'वरदान' या 'देवस्थानरहस्य' में अंग्रेजी संस्कृति के बहिष्कार का सांकेतिक उपदेश और राष्ट्रीयता की प्रबल भावना का सूत्र रूप में उपयोग करते हुए देश का उपकार करने वाले देशप्रेमी बेटे की प्राप्ति का मां सुवामा द्वारा देवी से वरदान मांगने की कथा और प्रेमा के अमृतराय द्वारा देश के उद्धार के लिए सर्वस्व अर्पण करने की प्रतिज्ञा। हर जगह किसी न किसी रूप में प्रेमचंद दबे-दबे मन से, डरते हुए देश की मुक्ति और क्रांति का संकेत देते रहते हैं।

सर्वप्रथम हम सामाजिक सुधार के मूल वस्तुओं को लें और उनके अन्तर्वस्तु की व्याख्या करें।

पहली मूल वस्तु शिक्षा से सम्बन्धित है। प्रेमचंद कालीन राजनीति में शिक्षा को लेकर कई मान्यताएं प्रभावी थीं। शिक्षा मूलवस्तु थी और उसे अन्तर्वस्तु रूप में विकसित व्याख्यायित करने वाले साहित्यकारों के अनेक वर्ग थे। एक वर्ग अंग्रेजी शिक्षा का हिमायती था, दूसरा हिन्दी राष्ट्रभाषा का और तीसरा बीच का रास्ता उचित समझता था किन्तु प्रेमचंद ने युगीन आवश्यकता को पहचान कर राष्ट्रभाषा हिन्दी पर जोर दिया तथा पश्चिमी संस्कृति का विरोध करते हुये, भारतीय संस्कृति का समर्थन किया। सन् 1909 में एक लेख 'जमाना' में 'संयुक्त प्रांत में आरम्भिक शिक्षा' नाम से लिखा "जिस शिक्षा को हम आरम्भिक शिक्षा कहते हैं, वह देहातों के लिए आरम्भिक शिक्षा नहीं है बल्कि नब्बे फीसदी लड़कों के लिए यही अंतिम शिक्षा है....उनकी भाषा का सुधार होना चाहिए ताकि लड़के रामायण तो समझ लें, व्याकरण की कोई जरूरत नहीं। उसे खारिज कर देना चाहिए। भूगोल भी काफी है, हिसाब में भी कुछ कसर नहीं, अमली सवालों की मश्क ज्यादा होना चाहिए। ड्राइंग व्यर्थ है। उसके बदले तन्दरुस्ती के बारे में एक छोटी सी प्राइमर होनी

चाहिए। और भाषा के व्याकरण की जगह पर खेती के कुछ उसूल सिखाए जाने चाहिए।"[1]

इसे अन्तर्वस्तु में ढाल कर प्रेमचंद ने वरदान में लिखा।"[2] प्रेमा में भी यहीं बात इस ढंग से कही गयी है-"जलसों के अलावा उन्होंने देहातों में जाकर हिन्दी में तकरीर करना शुरू की।"[3] जाहिर है कि इसी समय प्रेमचंद ने हिन्दी लेखन की ओर भी ध्यान देना शुरू किया था जैसा कि जमाना सम्पादक को लिखे गये 13 मई 1909 के एक पत्र से स्पष्ट है-"हिन्दी पर्चे का क्या हुआ। निकलने वाले हो तो हिन्दी में 'पर्याप्त लिखने की आदत डालूँ।"[4] पत्रों से स्पष्ट है कि प्रेमचंद 1914-15 तक हिन्दी में पर्याप्त लिखने लगे थे। हिन्दी-अनुराग को अन्तर्वस्तु में ढालते हुए उन्होंने उपन्यासों में प्रयुक्त किया है। "वरदान" की विरजन भी हिन्दी सीखती है। 1915 ई0 की कहानी "विस्मृति" में "कैलासी दूजी को रामायण और सीता चरित्र सुनाती है।" 1915 की कहानी धोखा में-"दक्षिण की दिवार पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के कवियों का सम्मेलन था, सहृदय कवि सूर, तेजस्वी तुलसी, सुकवि केशव और रसिक बिहारी विराजमान थे।"[5] इसके बाद 1913-16 तक केशव, भारतेन्दु, बिहारी आदि की समीक्षाएं भी उन्होंने लिखीं।

इसी सिलसिले में वह संस्कृत शिक्षा की महत्ता स्वीकारते हैं क्योंकि भारतीय संस्कृति का अक्षय भण्डार उसी साहित्य में सुरक्षित है। 1912 में इससे संबंधित लेख उन्होंने लिखा।"[6]

यहीं प्रेमचंद अंग्रेजी भाषा का विरोध तथा अंग्रेजी सभ्यता की निंदा करते हैं वैचारिक और रचनात्मक धरातल पर। 1903 में ही "ओलिबर क्रामवेल" की जीवनी में लिखा-"टैक्स बहुत सी चीजों पर बढ़ा दिया गया था- .....यह आज जो हम अंग्रेजी राज्य व्यवस्था देखते हैं वह करीब-करीब उसी नमूने पर बनायी गयी है।"[7] 1909 ई0 में लिखा-"पश्चिमी सभ्यता की बुनियाद लाभ-ईर्ष्या और ऐश्वर्य पर है।"[8] यह है मूल वस्तु। इसका उपयोग उन्होंने अन्तर्वस्तु में अच्छे ढंग से किया। "प्रेमा" में महरी का कथन कितना प्रभावोत्पादक है-"अंग्रेजी जमाना आवा है, अंग्रेजी पढ़-पढ़के जउन न होई जाइ तउन अचरज नाहीं।"[9] यहीं संकेत वह 1908 की कहानी "यह मेरी मातृभूमि है" में देते हैं। फिर 1910 ई0 की कहानी "बड़े घर की बेटी" में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त श्रीकण्ठ सिंह तो "अंग्रेज सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे, वह बहुधा वहुत जोर से उसकी निंदा और तिरस्कार किया करते थे।"[10] स्त्री शिक्षा को

प्रेमचंद महत्व देते हैं पर वह शिक्षा आधुनिक ढंग की पश्चिमी शिक्षा न होकर हिन्दू संस्कृति की शिक्षा होनी चाहिए। 1906 ई0 में एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा-"ग्रंथकार के अनुसार लड़कियां दो चार हर्फ उर्दू जबान में पढ़ लिख सकें, घर का रोज का खर्च लिख लें, बच्चों को मामूली किताबें पढा सकें, अपनी व घरवालों की सेहत ठीक रखें, बच्चों की आम बीमारियों का इलाज हकीम न मिलने पर घर पर कर लें, स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन पकाएं, सीने-पिरोने और कुछ काढ़ने की जानकारी रखती हों और सामान्य ज्ञान की बातों का उनके पास खजाना हो।"[11] इसका उपयोग अन्तर्वस्तु रूप में "देवस्थान रहस्य" में करते हुए उन्होंने स्त्री अशिक्षा से उत्पन्न बुराइयों पर दृष्टिपात किया है। अज्ञानता वश स्त्रियां भोग विलास और लालसाओं की शिकार होती हैं दूसरी तरफ शिक्षित विरजन व प्रेमा धार्मिक ढंग से जीवन निर्वाह करती हैं और अपने प्रेमियों, पतियों को सुधारती हैं, साथ ही सामाजिक सुधार भी करती हैं। इसी तरह रूठीरानी भी व्यभिचारी पति को नसीहतें देती है। अतः वस्तु को अन्तर्वस्तु बनाते समय प्रेमचंद सजग रहते हैं। शिक्षा संबंधी ये विचार उन्हें हिन्दू संस्कृति की विरासत से प्राप्त हुए हैं जिनका उपयोग वह विपरीत परिस्थितियों में दृढ़ता से समाज हित के लिए करते है जो सच्चे कलाकार का धर्म है।

प्रारंभिक काल की रचनाओं में समाज सुधार के दूसरे पहलू भी मौलिकता के साथ उभरे हैं। विवाह प्रथा की कुरीतियों का उन्होंने विरोध किया, बाल विवाह के वह विरोधी थे, और विधवा विवाह के समर्थक। डॉ0 सर रामकृष्ण भण्डारकर की जीवनी में उन्होंने उनकी प्रसंशा करते हुए लिखा-"1891 ई0 में आपने अपनी विधवा पुत्री का पुनर्विवाह कर नैतिक साहस का परिचय दिया जो अपने देश के सुधारवादियों में एक दुर्लभ गुण है।"[12] यह है मूलवस्तु, यही वस्तु उपन्यास, कहानियों में अन्तर्वस्तु का नया रूप ग्रहण करती है। प्रेमा में विधवा पूर्णा का अमृतराय से शास्त्र विहित ढंग से विवाह होता है। तभी आर्य समाजी प्रेमचंद स्वयं भी विधवा शिवरानी देवी से विवाह करते हैं। प्रेमा में वह सनातन पंथियों का विरोध करते हैं "हमारा तर्जे मुआशरत अहकमामे वेद से मुतनाकिस है और जिसको गलती से सनातन धर्म कहते हैं; वो पुराने और वोसीदा ख्याल के लोगों की जमात है जो मजहब के पर्दे में जाती फलाह ढूंढते हैं, इसलिए हमको उससे मजबूरन किनारा कश होना पडेगा।"[13] विवाह में वह साधारण ढंग को उत्तम मानते थे। आर्य समाजी

ढंग का उपयोग प्रेमा में ही किया वहां विधि पूर्वक विवाह हुआ। न गीत गाये गये, न गाली-गलौज, न नेक चार की नौबत आयी। उनकी कहानियों की अन्तर्वस्तु प्रेम को वैवाहिक जीवन की अनिवार्य शर्त मानती हैं। प्रेम दाम्पत्य जीवन के सुधार की कसौटी है। दाम्पत्य का स्वरूप समर्पण ही वैवाहिक सुख प्रदान कर सकता है, प्रेम का लोप विवाहोपरान्त भी नहीं होता। वह पुरुष स्त्री दोनों के लिए पातिव्रत अनिवार्य मानते हैं। पत्नी के लिए पति सब कुछ है। यह भारतीय हिन्दू संस्कृति की मान्यता है। वह "बड़े घर की बेटी" में लिखते हैं- स्त्री का स्वाभिमान और मार्यादा पति तक है।"[14]" "अमृत" (1913) कहानी में वह प्रेम की सर्वोत्कृष्टता पर टिप्पणी करते हैं।"[15]" प्रेम-विवाह के लिए वह अन्तर्जातीय विवाह के विरोधी हैं। "शोक का पुरस्कार" (1909) ई0 कहानी में ईसाई प्रेमिका ने हिन्दू प्रेमी से शादी नहीं की। प्रारम्भिक कहानियों में प्रेम मूलवस्तु की कई अन्तर्वस्तुएं विकसित हुई हैं। यही निष्कर्ष निकलता है कि देश प्रेम के समक्ष सांसारिक प्रेम महत्वपूर्ण नहीं है। "सोजेवतन" की कहानियों में यह उभर कर आया है। 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' वतन की हिफाजत में गिरने वाला खून का आखिरी कतरा है, जिसके साथ राजकुमारी विवाह करती है, 'सांसारिक प्रेम और देशप्रेम' में इटली का देशप्रेमी प्रेमिका मैग्डलीन को छोड़कर चला जाता है। ये सारे प्रेम-प्रसंग युवावस्था के हैं अतः बाल विवाह का प्रेमचंद ने विरोध किया। विवाह के संबंध में प्रेमचंद ने अकबर की नीतियों की प्रशंसा की "अकबर ने निश्चित किया ब्याह बालिग होने के पहले न हुआ करे। बहु विवाह भी अनुचित बताया गया.....सती की क्रूर प्रथा के अंत का श्रेय भी अकबर को प्राप्त है।"[16]" इसके लिए वह आर्य समाज के साथ ही स्वामी विवेकानंद को भी आदर्श मानते हैं। विवेकानंद की जीवनी में उन्होंने लिखा-"स्वामी जी सामाजिक सुधारों के समर्थक थे पर उसकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय समाज सुधार के जो यत्न किये जाते थे वे प्रायः उच्च और शिक्षित वर्ग से ही संबंध रखते थे। परदे की रस्म, विधवा विवाह, यही इस समय की सामाजिक आवश्यकताएं हैं।"[17]"

इन कहानियों में प्रेम के भिन्न-भिन्न रूपों का उपयोग किया गया है, इस का उद्देश्य देशभक्ति की भावना को प्रबलतम बनाना ही है यद्यपि इससे पारिवारिक सुख भी स्थायी होता है।"[18]" वरदान में अश्लीलता है।"[19]" अश्लीलता का यही रूप बल्कि इससे भी लज्जास्पद रूप "देवस्थान रहस्य" में मिलता है जहाँ मंदिर में अश्लीलता का साम्राज्य है, मंदिर से घर लौटते समय रास्ते

में नवयुवकों की टोलियां ही नहीं, बूढ़े मियां भी उन पर अश्लील शब्दों की बौछार करते हैं। प्रेमचंद समस्या की तह तक जाकर अश्लीलता के कारणों की खोज करते हैं। स्त्रियों की अशिक्षा, धार्मिक पाखण्ड और सामाजिक शिथिलता वश इस समस्या की वृद्धि हुई। 1909 के निबन्ध "गालियाँ" में रूढ़ि परम्परा को दोषी बताया। मद्यपान, भंग, चरस, पान इसी को बढ़ावा देते हैं। मंदिर में शिष्यों सहित महंत भी भंग, शराब में मस्त हैं। रास्ते में नवयुवक भी। और रूठीरानी के राजकुमार भी मद्यपान, भंग, शराब में मस्त हैं। इसी पर फिदा होकर राजकुमारी को नाराज कर दिया। मद्य निषेध के बारे में प्रेमचंद रणजीत सिंह की जीवनी में लिखते हुए उनकी निंदा करते हैं-"महाराजा तो गजब के पीने वाले थे। इसी से लकवे के शिकार हुए, अंतिम आक्रमण संघातिक सिद्ध हुआ।" प्रेमचंद ने मद्य निषेध के लिए अकबर की प्रसंशा भी की। 1905 में "आइने अकबरी" की समीक्षा में मुसलमानों के मद्यपान की कड़ी आलोचना की। अतः नशा सेवन से आत्मिक सामाजिक पतन होने के साथ दुर्व्यसन का विकास होता है।

अन्य सामाजिक सुधारों अस्पृश्यता और साम्प्रदायिकता की मूलवस्तु प्रेमचंद राजा जंगबहादुर की जीवनी में उभारते हैं। भरी सभा में नीची जाति के हाथ का जल पीकर उन्हें सदा के लिए शुद्ध तथा सामाजिक दासत्व और अपमान से मुक्त कर दिया। भरत के भक्तों में कितने ऐसे हैं जो आधी शताब्दी बीत जाने पर भी किसी अछूत के हाथ से जल ग्रहण करने का साहस कर सके।"[21] किंतु प्रारंभिक रचनात्मक लेखन में प्रेमचंद ने इसे अन्तर्वस्तु का रूप दिया— "सिर्फ़ एक आवाज" कहानी में "हम मजबूत दिल से प्रतिज्ञा करें कि हम अछूतों के साथ भाई चारे का सलूक करेंगे।"[22] विचारात्मक लेखन में भी इस विषय पर उनके विचार काफी प्रगतिशील हैं। जो गांधी के भारतीय भूमि पर आगमन के पहले उनके अस्पृश्यता संबंधी विचारों से मेल खाते हैं। अतः यहां भी वह सुधारवादी आंदोलन से प्रभावित हो चुके थे। आभूषण जहाँ नारी श्रृंगार का साधन है, वहीं दुर्गुणों की खान भी। प्रेमचंद आभूषण प्रियता के विरोधी हैं। "देवस्थान रहस्य" का रामकली प्रसंग इससे सम्बन्धित हैं। "वरदान" में भी यह समस्या उठायी गयी है।"[23]

आगे विरजन भी अपने पत्र में लिखती हैं-"उन्हीं स्त्रियों पर भूत, चुड़ैलों के आक्रमण का भय रहता है जो मानव श्रृंगार किये, रंगीन वस्त्र पहने, अकेले उनकी दृष्टि में पड़ जाये।"[24] वस्तु का कितने कलात्मक ढंग से

उपयोग किया गया है। अन्तर्वस्तु के तौर पर वस्तु कितनी चमत्कृत और प्रभावोत्पादक हो गयी है, स्त्री की आभूषण प्रियता पर प्रेमचंद कहानी "बेटी का धन" (1915) में टिप्पणी करते हैं-"स्त्री का गहना ऊख का रस है जो पेरने से ही निकलता है।"[25]

रिश्वतखोरी की बात भी प्रेमचंद प्रारम्भिक उपन्यास कहानियों में उठाते हैं। कचहरी के कर्मचारियों में रिश्वतखोरी आम बात है। "वरदान" में उनकी टिप्पणी है-"सेवक लाल और चंदू लाल कचहरी में नौकर थे। वेतन कम पर ऊपरी आमदनी बहुत थी।"[26] कहानी नमक का दरोगा (1913) में भी ऐसी ही टिप्पणी है-"मासिक वेतन जो पूर्णमासी का चाँद है जो एक दिन दिखायी देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है।"[27] "सज्जनता का दण्ड" (1916) में "रिश्वत लोक और परलोक दोनों को ही नाश कर देती है।"[28]

सबसे बड़ी समस्या जिसे प्रेमचंद सर्वप्रथम उठाते हैं और गहराई से छानबीन करते हैं वह है धार्मिक आडम्बरों का पर्दाफाश। मंदिर-मठों की दुर्व्यवस्था और पंडे-पुराहित, महन्तों के कुकृत्य पर भारी असंतोष व्यक्त करते हुए सामाजिक पतन में उनकी मुख्य भूमिका निर्धारित करते हैं। धार्मिक आडम्बर को लेकर उसे अन्तर्वस्तु बनाना प्रेमचंद के निर्भीक, तत्वान्वेषी आक्रामक दृष्टिकोण का परिचायक है। "देवस्थान रहस्य" उपन्यास में अन्तर्वस्तु का चरम विकास मिलता है। लेखक की यह मौलिकता युगीन समाज में चुनौती थी। मंदिर के महंत की झाँकी का ताना-बाना जिस अन्तर्वस्तु से बुना गया है वह प्रेमचंद के लिए ही संभव था। उस समय के आर्य समाजी भी सनातनी के प्रति इतनी सूक्ष्म अन्तर्भेदिनी दृष्टि का विकास नहीं कर सके थे-"यह जो आप महंत जी के माथे पे लाल निशान देख रहे हैं, यह चंदन के निशान नहीं बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि हजरत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है। आप जो इनके गले में मोहन की माला देख रहे हैं यह असल में लोभ का फंदा है, सिर पर रखी हुई तिरछी टोपी आप की अक्ल के तिरछेपन को जाहिर कर रही है। आप के शरीर पर रंग-बिरंगी मिर्जई नहीं है बल्कि अंधविश्वासों को सब्जबाग दिखाने का यंत्र है जो आपके हृदय के अन्धकार और कालिमा के ऊपर पर्दे की तरह पड़ा हुआ है।"[29]

"देवस्थान रहस्य" में व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा-"एक इतिहासकार लिखता है-यह अख्तियार जिस दिन पादरियों के हाथ से निकला उसी दिन

इंगलिस्तान की उस सांस्कृतिक भवन की नींव पड़ी जो आज कल दुनिया में अभिमान की दृष्टि से देखा जाता है।" इसके माध्यम से प्रेमचंद कहना चाहते है कि भारत से भी इस धार्मिक शोषण को समाप्त करना चाहिये। इसे आगे बढ़ाते हुये लिखते हैं-"आजकल हमारे पुजारियों का यही हाल है। जामाने भर के मुफ्तखोर जाहिल, ऐश पसन्द लोग इसी जरिये से अपनी जीविका प्राप्त करते हैं और भोले-भाले लोगों को शिकार बनाते हैं। कैसी शर्म की बात है कि ऊँची-नीची घराने की औरतें सबेरे-सबेरे तड़के गंगा स्नान को जायें, तीर्थ, यात्रा के लिए कमर बांधे, ठाकुर द्वारों में मटरगस्ती करें।"[30] वह स्त्रियों के लिए मंदिर जाने गंगा स्नान करने से रोकते हैं क्योंकि वहाँ वे धर्म संचय करने नहीं धर्म गंवाने जाती हैं। उनकी नेक सलाह है "पूजा के लिए नीयत की सच्चाई और ध्यान की एकाग्रता। अगर पूजा का सब समान घर के अंदर इकट्ठा कर लिया जाय तो दिक्कत न हो।"[31]

स्पष्ट है कि प्रेमचंद धर्म का नहीं, धार्मिक आडम्बर और रूढ़ियों का विरोध करते हैं और घर में रहकर ईश्वर की आराधना को महत्व देते हैं। महंतों की दुष्चरित्रता का प्रसंग प्रेमचंद प्रेमा में भी उठाते हैं। वहाँ रामकली इंद्रिय सुख-भोग के लिए मंदिर जाती है और सखियों को भी प्रेरित करती है। पण्डित मोटेराम शास्त्री भी इसी युग की उपज हैं। अंधेर (1913 ई0) कहानी में वह सत्यनारायण की कथा सुनाते हैं। प्रेमचंद धर्म के आधार पर ईश्वर की भक्ति पर बल देते हैं। "घमण्ड का पुतला" कहानी (1916) में उन्होंने धर्म के सच्चे लोगों की कसौटी निश्चित की है। "वैभव और प्रताप, कमाल और शोहरत यह सब घटिया चीजें हैं, भौतिक चीजों और वासनाओं में लिपटे हुए लोग इस योग्य नहीं कि हम उनके सामने भक्ति से सिर झुकाएं, वैराग्य और परमात्मा से दिल लगाना ही वे महान गुण हैं जिनकी ड्योढ़ी पर बड़े-बड़े वैभवशाली और प्रतापी लोगों के सिर भी झुक जाते हैं।"[32]

यही बात दूसरे ढंग से प्रेमचंद ने 1908 ई0 की कहानी "यही मेरी मातृभूमि है" में कही है।"[33]

प्रेमचंद हिन्दू संस्कृति को धर्म का नाम देते हैं। संस्कृति की तमाम अच्छाइयों को उन्होंने अन्तर्वस्तु बनाया है। आतिथ्य सत्कार धर्म, ममता, (1912), शाप, (1910); परोपकार धर्म, अमावस्या की रात्रि, परीक्षा, आन पर जान देने का धर्म, रानी सारन्धा में; कुल मार्यादा के लिए उत्सर्ग का धर्म विस्मृति, मनावन में; शरणागत रक्षा का धर्म जुगनू की चमक में, पातिव्रत धर्म,

शोक का पुरस्कार, विक्रमादित्य का तेगा, आखिरी मंजिल, विजय, शाप, पाप का अग्निकुंड, आदि में। ईमानदारी का धर्म, घमण्ड का पुतला, अमावस्या की रात्रि, पछतावा, नमक का दरोगा, पंच परमेश्वर आदि में, सत्य भाषण का धर्म राजा हरदौल, भाईचारा, दो भाई और संयुक्त-कुटुम्ब का धर्म, बड़े घर की बेटी आदि में अनेक तथ्यों को प्रेमचंद ने कहानियों का विषय बनाया है।

इसके अतिरिक्त लोक प्रचलित मान्यताओं को भी प्रेमचंद ने प्रारंभिक रचनाओं का विषय बनाया जैसे ज्योतिष पर विश्वास, भूत-प्रेत की शक्तिमत्ता; जादू-टोने की शक्ति पर शंकर, देवी-देवता की मान्यता, लोक मान्यता पर विश्वास आदि। वरदान में विरजन देवी देवता पूजने वाले काशी भर के चमत्कार का आंखों देखा वर्णन करती है तथा उसकी भविष्यवाणी की पुष्टि भी करती है। होली की लौ टेढ़ी जलने से गांव में विपत्ति आने की लोक मान्यता की सिद्धि का उल्लेख भी करती है। कतिपय कहानियों में भी प्रेतयोनि की चर्चा प्रेमचंद ने की है। जिस प्रकार प्रेमचंद सामाजिक सुधार के धरातल पर आर्य समाज से प्रभावित थे उसी प्रकार राजनैतिक धरातल पर वह कांग्रेस को मान्यता देते थे। पत्रों से यह बात जाहिर है कि वह कांग्रेस की बैठकों में जाया करते थे। दया नारायण निगम को लिखे गये पत्रों में राजनैतिक हलचलों व कांग्रेस की क्रियाशीलता का उल्लेख कई बार आया है। 1905 ई0 के एक लेख 'देशी चीजों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है' में कांग्रेस पर विस्तृत विचार किया।"34"

कांग्रेस की नीतियों से असंतुष्ट मुसलमानों का एक वर्ग साम्प्रदायिकता की आवाज उठा रहा था, प्रेमचंद ने दोनों को मिलाने वाली नीतियों का विकास करने का निर्देश दिया। जहाँ सर सैयद अहमद को कांग्रेस विरोधी और साम्प्रदायिक मुसलमान कह कर निंदा की वहीं 'बदरूद्दीन तैयब जी की जीवनी में उनकी देशभक्ति, कांग्रेस भक्ति और साम्प्रदायिकता विरोधी होने की मिसाल देकर आदर्श उपस्थित किया।"35" सर सैयद को फटकारते हुए उन्होंने लिखा कि वह साम्प्रदायिक व देश द्रोही थे। मूलवस्तु साम्प्रदायिकता को उन्होंने 'अकबर की जीवनी में' भी उठाते हुए लिखा-"अकबर को रात दिन यही चिंता रहती थी कि किसी तरह भारत की विभिन्न जातियों सम्प्रदायों को एक में मिलाकर शक्तिशाली स्वदेशी राज्य की स्थापना करें।"36" इसी बात को 'राजा मान सिंह की जीवनी' में भी उल्लेख किया। हमारी दृष्टि में तो उसका मूल्य और महत्व इसलिए है कि उसके मानसिंह घराने ने पहले-पहल ही

परस्पर विरोधी समुदायों हिन्दू मुसलमान को मिलाने का यत्न किया।"[37]" फिर एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए उन्होंने कांग्रेसी मुसलमानों की सूची प्रस्तुत की। 1908 में विक्रमोर्वशीयम की समीक्षा में भी हिन्दू मुस्लिम एकता और समझौता को महत्वपूर्ण और पेचीदा बताया। इसी प्रकार 1905 के एक रिव्यू में कांग्रेस भक्त बदरूद्दीन तैयब जी की प्रशंसा भी की। यह बात प्रेमचंद गांधी से बहुत पहले उठाते हैं।

इसका रचनात्मक उपयोग सबसे पहले प्रेमचंद ने "रूठीरानी" में किया। इसे अन्तर्वस्तु के रूप में इस कलाकारी से संगुम्फित किया कि ऐतिहासिकता भी बनी रहे और मौलिकता की झलक भी मिलती रहे। इसमें प्रेमचंद लिखते हैं, "वह जोधपुर के बजार में मारा गया। रूठीरानी की हिदायत से उसने जोधपुर वालों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव किया था। इसलिए वह लोग उसकी लाश को बड़ी इज्जत से खवासपुर से गये, वहां उसका मकबरा बनाया। उसके नाम का गांव बसाया। एक ओर यादगारी कब्र जोधपुर में बनवायी। दोनों जगह उसकी कब्र पर मन्नते चढ़ने लगीं। हिन्दू मुसलमान दोनों आज तक वहां चादर चढ़ाते हैं, फातिहा पढ़ते हैं, यह सब उसकी नेकी का फल है जो कम बादशाहों को मयस्सर हुआ है।"[38]" पंचपरमेश्वर में दो मित्र जुम्मन शेख और अलगू चौधरी की मित्रता, परस्पर आदर और न्याय शीलता को प्रेमचंद ने कलात्मक सच्चाई से उभारा है। प्रेमचंद बताना चाहते हैं कि हिन्दू मुस्लिम एकता से ही सामाजिक राजनीतिक उन्नति सम्भव है। प्रेमचंद जनता के मन में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करना चाहते थे। देश की स्वतंत्रता के लिए इसीलिए जहाँ वह विभिन्न् जीवनियों में मानसिंह, राणाप्रताप, रणजीतसिंह, राणा जंग बहादुर और गेरी वाल्डी का गुण गान करते हैं, वहीं तमाम ऐतिहासिक कहानियों में स्वतंत्रता प्राप्ति की चिंता व्यक्त करते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति की मूल वस्तु को कहानियों में अन्तर्वस्तु बनाते समय प्रेमचंद कहीं-कहीं ऐतिहासिक तौर पर झूठ भी बोल जाते हैं, पर अतिरंजना को मजाक नहीं बनने देते। कहानियों में उत्साह, दृढ़ निश्चय और देश मुक्ति की अपूर्व भावना को इस तरह बाँधते हैं कि यह भावना कभी संग्राम क्षेत्र में भाट कवियों की याद दिलाती है।

देखा जाय तो प्रेमचंद द्वारा लिखित जीवनियां मात्र जीवनी न होकर रोचक कहानी हैं जिनमें वस्तु और अन्तर्वस्तु समाहित हो गयी है क्योंकि वह जीवनी के बहाने सिद्धान्तोपदेश देने की चालाकी हमेशा दिखाते हैं। इन

जीवनियों में यह भाव बहुत स्पष्ट है कि हमारे देशवासी भी राणा प्रताप, रणजीत सिंह जैसे बनकर देश को आजाद करायें, इसके लिए प्राणोत्सर्ग ही नहीं सर्वस्व का त्याग करना पड़ेगा। इन जीवनियों के बहाने उन्होंने बड़ी कलात्मकता से अंग्रेजों को खुलकर गाली दी है। राणा प्रताप की जीवनी में लिखा-"वह यह नहीं देख सकते थे कि कोई बाहरी आये और हमारे बराबर का होकर रहे। उन्होंने मुसीबतें उठायीं, जानें गंवाई, पर अपने देश पर कब्जा करने वालों के कदम उठाने की चिंता में सदा जलते जुड़ते रहे। उनके दावे ज्यादा मर्दानगी और बहादुरी के थे कि रहें तो हम रहें या हमारे जाति वाले; कोई दूसरी कौम हरगिज कदम न जमाने पायें।"[39]" आगे उन्होंने लिखा-"स्वाधीनता को सदा प्राणों से प्रिय मानते रहना।" ऐसी ही लगने वाली बात कितने परोक्ष ढंग से प्रेमचंद रणजीतसिंह की जीवनी के बहाने उठाते हैं-"किसी आदमी को क्या हक है कि दूसरों को अपना अधीन बनाकर रखे और उनके अस्तित्व से खुद फायदा उठाये।"[40]"

राणा जंग बहादुर की जीवनी में उनकी रणकुशलता को आदर्श नीति बताते हुए अंग्रेजों के प्रति आक्रोश उभारा "अक्सर राणा को चालबाजियों, साजिशों यहां तक कि मुफ्त हत्याओं तक का सहारा लेना पड़ता था पर सम्भवतः उस परिस्थिति में वही नीति उपयुक्त थी....जंग बहादुर अंग्रेजों के साहस, अवसर पहचानने की योग्यता और प्रबंध कुशलता के बड़े प्रसंशक थे।"[41]"

कितनी बड़ी बात प्रेमचंद ने जीवनी के बीच में कह दी है; शायद यही निष्कर्ष भी है। वह युद्ध आवश्यक मानते हैं और उसके लिए भी हत्याओं, चालबाजियों को उपयुक्त नीति की संज्ञा देते हैं- जैसे प्रेमचंद अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध का खुला ऐलान कर रहे हों किन्तु आवेश में डालकर असफलता प्राप्त करने से सहेजते रोकते भी हैं इसलिए देशवासियों में अंग्रेजों जैसी अवसर वादिता, साहस और प्रबंधकुशलता से युद्ध संचालन की मूलवस्तु कितनी कलात्मकता से अन्तर्वस्तु में परिवर्तित होने लगती है। यही निष्कर्ष स्वामी विवेकानंद की जीवनी से भी निकालते हैं और उनका एक वाक्यांश पेश करते हैं-"मेरे जवान दोस्तों बलवान बनो। गीता का उपदेश कायरों को नहीं दिया गया था बल्कि अर्जुन को दिया गया था।"[42]"

देशभक्ति और राष्ट्रीयता की प्रबल भावना ही देश की स्वतंत्रता में योग दे सकती है। इटालियन सैनिक गेरी बाल्डी की जीवनी में उसकी सफलता

के लिए प्रेमचंद ने हर एक सैनिक में राष्ट्रीयता की उत्कट भावना पर टिप्पणी की। "वह स्वतंत्रता का सच्चा पुजारी था। इटली को गुलामी के गढ़े से निकाला। कितनी ही बार उसने नौसिखिए अनुभवहीन रंगरूटों से दुश्मनों को हरा दिया। इसका कारण यह था कि उसका हर आदमी राष्ट्रीयता के नशे में चूर होता था।"[43]

स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की भावना को प्रेमचंद स्वाधीनता की अनिवार्य शर्त मानते हैं। प्रारम्भिक काल की अधिकाधिक कहानियां इसी मूल वस्तु पर आधारित हैं। यह मेरी मातृभूमि है (1908), राजा हरदौल (1911), रानी सारन्धा (1910), पाप का अग्नि कुण्ड (1910), जुगनू की चमक (1916) दुनिया का सबसे अनमोल रत्न (1907), शेख मखमूर (1909), सांसारिक प्रेम और देशप्रेम (1908), आल्हा (1912), आदि कहानियाँ तथा वरदान और रूठीरानी उपन्यास में इसी को अन्तर्वस्तु बनाया है। ये कहानियाँ प्रेम पर आधारित होते हुए भी देशभक्ति और राष्ट्रीयता के उच्च भावों से ओत प्रोत हैं बल्कि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि प्रेम कहानी के ताने बाने में राष्ट्रीयता संगुम्फित है। शारीरिक प्रेम और देश प्रेम का द्वन्द्व उभारती हुई ये कहानियां शारीरिक प्रेम पर देश प्रेम की विजय घोषित करती हैं। "सांसारिक प्रेम और देश प्रेम" कहानी में मैजिनी के मुख से प्रेमचंद बोल रहे हैं-"आजादी। हाय आजादी। तेरे लिए मैंने कैसे-कैसे दोस्त कुर्बान किये, क्या यह देखने के लिए कि मेरा प्यारा वतन, मेरा प्यारा देश धोखेबाज अत्याचारी दुश्मनों के पैरों तले रौंदा जाय नहीं मैं यह देखने के लिए जिंदा नहीं रह सकता)"[44]" यह यहां देशवासियों के भीतर चुनौती देता हुआ संघर्ष और स्वतंत्रता के लिए उनका आह्वान है। मैजिनी देश को स्वतंत्र न कर पाने के कारण प्रेमिका को भी छोड़कर मर गया किन्तु यही रास्ता नहीं है। इसके लिए प्रेमचंद आल्हा, राणाप्रताप, रणजीत सिंह, रानी सारन्धा की मिसाल देते हैं। "आल्हा" कहानी (1912) में वह दिल को उत्तेजित करने वाली बात कहते हैं-"तुम्हारे बाप ने जिस पर प्राण न्यौछावर किया-वही राज अब दुश्मनों के पाँव तले रौंदा जा रहा है। तुम्हारी मातृभूमि पर बर्बादी की घटा छायी हुई है।"[45]" उपन्यास "वरदान" में सुवामा देवी से देश पर न्यौछावर होने वाली संतान, वरदान में माँगती है। "रूठीरानी" में हिन्दू एकता की बात प्रेमचंद उठाते हुए कहते हैं-"हिन्दुओं में अनबन और फूट ने हमेशा मुल्क वीरान किया है और गैरों से हमेशा हारें दिलायी हैं।"[46]"

तात्पर्य यह कि प्रेमचंद के प्रारम्भिक विचारात्मक और रचनात्मक लेखन दोनों से एक ही गूंज उठती है-"खून का आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे, दुनिया का सबसे अनमोल रतन है।[47]"

जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है, प्रेमचंद कांग्रेस के साथ रहकर राजनीतिक गतिविधियों की छानबीन कर रहे थे। स्वदेशी आंदोलन में शरीक भी थे और उसकी उपयोगिता पर टिप्पणी भी कर रहे थे। 1905 में एक लम्बा लेख "देशी चीजों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है" लिखा। उसी साल एक दूसरा लेख "स्वदेशी आंदोलन" लिखकर निष्कर्ष निकाला-"विदेशी चीजों का रिवाज, सभ्य लोगों का डाला हुआ है और अगर स्वदेशी आंदोलन को सफलता होगी तो उन्हीं के किए होगी।[48]" इसे अन्तर्वस्तु का रूप देते समय प्रेमचंद ने पात्रों को स्वदेशी चीजें प्रयुक्त करते दिखाया है-"विरजन साधारण तौर पर कपड़े पहनती है, बाला जी ने देश-भक्ति के उपदेश के पीछे विदेशी-वस्तु-बहिष्कार का भाव भी व्यक्त किया है। "प्रेमा" के अमृतराय अपने भाषणों में जाति सेवा का उपदेश देते समय स्वदेशी वस्तु प्रयोग पर बल देते हैं। पर स्वदेशी की यह भावना इतनी अन्तर्निहित है कि अलग से नहीं देखी जा सकती।

इसी क्रम में प्रेमचंद अंग्रेजी कर प्रणाली का विरोध करते हैं। अकबर की जीवनी में अकबर को कर माफ कर देने वाला प्रजा पालक शासक कहते हैं।[49]" 1905 के एक रिव्यू में लिखा-"तमाम सभ्य संसार में कहीं कुल पैदावार पर आठ फीसदी से ज्यादा टैक्स नहीं, हिन्दुस्तान में पन्द्रह फीसदी से पच्चीस फीसदी है, न कि जैसा मौलवी साहब फरमाते हैं।[50]"

रचनात्मक लेखन में इस मूल वस्तु का उपयोग प्रेमचंद ने कई स्थानों पर किया है। "वरदान" में विरजन अपने पत्र में लिखती हैं-"अनर्थकारी दुर्देव ने सारा खेल बिगाड़ दिया। खेती की यही दशा और लगान उगाहा जा रहा है, बड़ी विपत्ति का सामना है। मार-पीट गाली अपशब्द सभी साधनों से काम लिया जा रहा है। दीनों पर यह दैवी प्रकोप।[51]" इसमें कर प्रणाली की कठोरता की निंदा की गयी है। "पछतावा" कहानी (1914 ई0) में लगान की क्रूरता से उगाही और कृषकों पर जमींदारों-कारिन्दों की अमानवीय सख्तियों की विस्तृत चर्चा है। कारिन्दे बूढ़े किसान को पीटते हैं। विचारात्मक साहित्य में कर प्रणाली पर रोष प्रकट करने वाले प्रेमचंद रचनात्मक साहित्य में उसका विरोध ही नहीं करते, संघर्ष के लिये उकसाते भी हैं। शायद इसी का परिणाम है कि पछतावा कहानी में वह संघर्षशील मुद्रा में दिखायी देते हैं-"और बूढ़े

की गर्दन पकड़ी। बाप की ऐसी हालत देखकर उनका रक्त गर्म हो उठा। वे दोनों झपटे और कादिर खां पर टूट पड़े, धमाधम शब्द सुनायी पड़ने लगा। खां साहब का पानी उतर गया। साफा अलग जा गिरा। अचकन के टुकड़े-टुकड़े हो गये, मलूका ने देखा बात बिगड़ गयी, उठा और कादिर खां को छुड़ाकर लड़कों को गालियां देने लगा। जब लड़कों ने उसी को डांटा तो दौड़कर कुंवर साहब के चरणों पर गिर पड़ा।"52"

कितनी सशक्त कहानी है, इसमें प्रेमाश्रम के बलराज का बीज है और मलूका तो जैसे होरी का साक्षात रूप है, मलूका होरी की तरह सब कुछ सहता हुआ कहता है कि हमारी गर्दन सरकार की मुट्ठी में है।"53" वहीं उसके जवान लड़के बलराज के रूप में संघर्ष और प्रतिकार के लिए तैयार हो जाते हैं। भले ही मलूका कुंवर साहब की शरण में जाता है पर लड़के कुंवर साहब के सामने उनके आदमियों और जमींदार कुंवर साहब का भी विरोध करते हैं। यह मार मानो कुंवर साहब पर पड़ी है।

स्पष्ट है कि प्रारम्भिक काल में ही प्रेमचंद ने शोषण के दोनों स्तरों का विरोध ही नहीं किया, संघर्ष की आवाज भी उठायी। एक तरफ अंग्रेजी हुकूमत, अंग्रेजी सभ्यता की जगह हिन्दू सभ्यता और स्वतंत्रता की क्रांतिकारी पहल की; दूसरी ओर स्वदेशी शोषकों जमीदारों, पण्डे पुरोहितों के विरूद्ध आक्रामक दृष्टिकोण अपना कर शोषण को समूल नष्ट करने का बीड़ा सा उठा लिया।

एक बात जो कुछ धूमिल सी है किन्तु यथार्थ है; प्रेमचंद के अन्तर्वस्तु का निष्कर्ष कही जा सकती है। यह नहीं कि प्रेमचंद दो स्तरों पर लड़ाई लड़ने के पक्ष में हैं- अंग्रेजों से अलग और जमींदारों, धर्माचार्यों से अलग बल्कि वह बीच का रास्ता खोजते लग रहे हैं; राजाओं जमींदारों के सहयोग से देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना जागृत कर विदेशी हुकूमत को समूल उखाड़ फेंकने की ओर प्रारम्भ से ही वह इसका आभास देते दिखायी पड़ते हैं। वहाँ उनका अभिप्राय देशी राजाओं के संगठन द्वारा और स्वदेशी सैनिकों की सहायता से स्वतंत्रता प्राप्त करना है किन्तु इसके लिए राजाओं को प्रजापालक दृढ़ निश्चयी, संगठित और देशभक्त बनने की शर्त भी रखते हैं; अतः प्रेमचंद स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष और क्रांति को आधार मानते हैं; समझौते को कदापि नहीं।

शिल्प की दृष्टि से प्रेमचंद के प्रारम्भिक उपन्यास नये-नये प्रयोगों से भरे हैं। यद्यपि शिल्प का ढांचा ढीला है किन्तु प्रारम्भिक प्रयोग होने के कारण इनका बड़ा महत्व है। अनेक स्तरों पर मौलिकता के दर्शन होते हैं। शिल्प विधान उत्तरोत्तर मजबूत होता गया है किन्तु सर्वथा निर्दोष नहीं हो पाया है। असरारे मआविद उर्फ देवस्थान रहस्य का कथानक ढीला और अपूर्ण है। पात्रों की अनावश्यक बाढ़ आ गयी है, किन्तु मुख्य पात्रों के चरित्र-चित्रण में स्वभाव व वातावरण का ध्यान रखा गया है। उनका नामकरण भी जाति और धर्म के आधार पर हुआ है, यद्यपि चरित्र पर विशेष ध्यान न देकर वर्णन पर जोर है। इसी कारण मनोविज्ञान कहीं उभर नहीं पाया है, वर्णनविधि कुछ-कुछ नाटकीयता लिए हुए अधिकांश वर्णनात्मक है। संवाद कम हैं पर जो हैं वे चरित्र निर्माण और कथा को आगे बढ़ाने में सहायक हैं। घटनाएं अधिक घटी हैं। मुख्य कथा धार्मिक आडम्बर से इतर भी कुछ प्रासंगिक कथाएं हैं पर वे बहुत कमजोर हैं। वैवाहिक जीवन की कटुता रामकली में पायी जाती है। वेश्या सरस्वती की कुप्रवृत्तियों को भी प्रासंगिक कथा का दर्जा दे सकते हैं जो धार्मिक स्थलों की शोभा होने के साथ समाज की भोली स्त्रियों को पथभ्रष्ट बनाने में योग देती हैं, शराब, भांग और उसके समाज का भी विस्तृत वर्णन हैं, भंगदेवी की महिमा कविता में गायी गयी है जो अत्युक्तिपूर्ण और अप्रासंगिक हो गयी है। आभूषण प्रेम की समस्या भी उठायी गयी है। उपन्यास की भाषा में कई तरह के शब्दों का प्रयोग हुआ है, अंग्रेजी शब्द, अपभ्रंश और देशज शब्दों के अतिरिक्त ध्वनिमूलक शब्दों के कुछ प्रयोग हैं। अलंकार, लोकोक्ति और मुहावरों का खूब प्रयोग हुआ है। लेखक बार-बार पात्रों को सम्बोधित कर कथा सूत्र बढ़ाता जाता है। इससे वह तादात्म्य की स्थिति उत्पन्न करना चाहता है। एक स्थान पर पाठकों के स्थान पर श्रोताओं का संबोधन दोषपूर्ण है।

अनेक त्रुटियों के होते हुए भी यह उपन्यास शिल्प के स्तर पर एक प्रयोग है जिसमें भविष्य के लिये तमाम सम्भावनाएं अन्तर्निहित हैं।

प्रेमचंद के प्रारम्भिक लेखन की भाषा शैली ओर कथासूत्र पर समकालीन लेखकों का प्रभाव पड़ा था। जैसा कि पिछले अध्याय में लिखा भी जा चुका है कि प्रारम्भ में बंकिम चंद्र चटर्जी, रतननाथ सरसार, शरर, और डिकेन्स का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। 1914 में लिखते हैं-"मुझे अभी तक यह इत्मीनान नहीं हुआ कि कौन सा तर्जे तहरीर अख्तियार करूँ, टाल्सटाय के किस्से पढ

चुका हूँ। तब से कुछ इसी रंग की तरफ तबीयत माइल है।"[54]"

1906 ई0 में उन्होंने शरर और सरशार पर एक लम्बा आलोचनात्मक लेख लिखा जिसमें शरर के समक्ष सरशार को श्रेष्ट सिद्ध किया है। सरशार की उपन्यास भंगिमा पर उन्होंने लिखा-"सरशार ने उन सामाजिक रोगों के उपचार का बीड़ा उठाया था जिनके पंजे में फंसकर समाज की जान निकली जा रही थी....सरशार की बेधड़क ठिठोली डिकेन्स के गम्भीर व्यंग्य से अधिक प्रभावशाली हैं। आगे लिखा-"प्रकट ही है कि दुष्ट लोग भोली-भाली औरतों को कैसी-कैसी ऊपरी दिखावे की चीजों से अपने धोखे के जाल में फंसाया करते हैं।....जामे सरशार तो आखीर तक शराब के बुरे नतीजों से लोगों को सावधान करने के लिए लिखा गया है, सरशार के जितने उपन्यास है वे मनुष्य के विचारों, उनके अच्छे और बुरे आचरणों और उनकी सुंदर और नीच भावनाओं के सच्चे चित्र हैं। इसके आगे सरशार के उपन्यासों में समस्या प्रधानता न होने की भी प्रशंसा की है। बहुधा किसी घटना का वर्णन करना स्वयं एक निष्कर्ष होता है।"[55]" यही नहीं वह सरशार की विषय वस्तु के उस पहलू से भी प्रभावित हैं, जिसमें उसने गांवों, तथा वहाँ की गंदी बस्तियों के रहने वाले लोगों का चित्र खींचा है।

इस दृष्टि से देखें तो प्रेमचंद के पहले उपन्यास देवस्थान रहस्य में ही ये सारी बातें यथावत विद्यमान हैं। सामाजिक पंडे-पुरोहितों के उस दल पर हमला किया है जिससे जन सामान्य पीड़ित हैं। सरशार की आलारखी और देवस्थान रहस्य की रामकली में न केवल स्वभाव का साम्य है बल्कि आचरण और परिस्थितियों का भी संयोग यथावत है। दोनों उपन्यास मनुष्य की अच्छी बुरी भावनाओं के चित्र भी हैं। प्रेमचंद की शैली सरशार की शैली की तरह है जिसमें दिल्लगी के कोड़े लगाए गये हैं, वह डिकेन्स के ऋणी हैं। उन्होंने जामें सरशार की तरह समस्या प्रधान उपन्यास नहीं लिखा बल्कि अनेक समस्याओं को एक में मिला कर प्रस्तुत किया। कई जगहों पर प्रेमचंद असावधान हो गये हैं, सरशार के एक दोष पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा 'सीनरी का लम्बा चौड़ा बयान कला का दोष हैं।' किन्तु स्वयं अनेक लम्बी चौड़ी सीनरी का समावेश कर इस दोष से युक्त हो गये है।

प्रेमा उपन्यास में प्रेमचंद ने न केवल रहस्य की तरह ही भाषा शिल्प का प्रयोग किया है किंतु कुछ नये शिल्प का आयोजन कर कुछ पुरानी परम्पराओं को लादा भी है। देवस्थान रहस्य में कोई समस्या प्रमुख बनकर

नहीं आयी है। प्रेमा में विधवा विवाह की ज्वलंत समस्या के इर्द-गिर्द ही लेखक ने ताना-बाना बुना है। धार्मिक आडम्बर और धार्मिक पंडे-पुरोहितों द्वारा लड़कियों की छेड़खानी का दृश्य भी उभारा गया है। रामकली नामक स्त्री यहाँ भी आयी है। देवस्थान में अपने दुष्कर्मों को प्रज्ज्वलित रखने वाली विवाहिता रामकली प्रेमा में विधवा होकर आयी है। प्रेमचंद पूर्व जन्म का उससे प्रायश्चित करवा रहे हैं, पात्रों के विकास की यह परम्परा जो एक उपन्यास से दूसरे उपन्यास में चलती है.....प्रेमचंद की अपनी सैद्धान्तिक विशेषता है, जो प्रत्येक उपन्यास में विद्यमान हैं।

भविष्य के लिए कथा संकेत देने की पद्धति का यहाँ पहली बार उपयोग हुआ है। पात्रों द्वारा आत्महत्या या मृत्यु करा के कथा सूत्रों को बढ़ाने की टेकनीक भी यहीं से प्रारम्भ हुई है। इस उपन्यास में पात्रों द्वारा पहली बार कथा को आगे बढ़ाने का सार्थक कार्य किया गया है, विरजन जैसे पात्रों की भांति अलग प्रासंगिक कथाओं का आभास या समस्याएं उपस्थित करने का नहीं। इस अतिरिक्त कथोपकथन और लेखकीय टिप्पणी का बेहतर उपयोग कथा को आगे बढ़ाने में किया है जो शिल्प के स्तर पर एक विकसित कदम है। विधवा विवाह के लिए सिर्फ शिक्षित युवकों द्वारा उत्साहित होने, सुधार आंदोलन की विफलता के लिए धनी व शोषक लोगों के गठबन्धन और उनके सहयोग से आम जनता का आक्रोश मय-विरोध तात्कालिक सामाजिक स्थिति को उभारने में सफल हुआ है। पं0 भृगुदत्त के तांत्रिक पाठ और उसके माध्यम से जीविका चलाने की चालाकी का प्रेमचंद विरोध करते हैं।

यहाँ पहली बार संस्कृत के अधिकाधिक शब्दों के प्रयोग हैं। अपभ्रंश और देशी तथा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, मुहावरे लोकोक्तियों की आयोजना होते हुए भी वाक्य रचना में अनेक दोष हैं। वाक्य रचना में न केवल उर्दू रचना का प्रभाव है, प्रत्युत भोजपुरी और अवधी के भी दो चार प्रयोग हैं। व्याकरण दोष की गणना तो व्यर्थ ही है। यह सब होते हुए भी इसमें शिल्पगत विकास की अच्छी सम्भावनाएं दृष्टिगत हैं।

रूठीरानी प्रेमचंद का एक मात्र ऐतिहासिक उपन्यास है। अपने विचारात्मक लेखन में ऐतिहासिक उपन्यास के विषय में प्रेमचंद ने गम्भीर विचार किया था। 1905 के कृष्णकुंवर तथा 1906 में शरर और सरशार की आलोचना में ऐतिहासिक उपन्यास पर टिप्पणी किया है।"[56]"

निश्चित है कि 1906 में प्रेमचंद ऐतिहासिक उपन्यास के विषय में

गम्भीर विचार कर रहे थे और शरर के उपन्यासों के अध्येता थे। उन पर शरर के ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रभाव भी है। देवस्थान रहस्य और प्रेमा की लीक से हटकर यह उपन्यास सामाजिक दायरे से कट गया है क्योंकि प्रेमचंद ने इसमें सती प्रथा की प्रशंसा की है। कुछ स्थानों पर उन्होंने ऐतिहासिक ज्ञान की अपेक्षा निजी निरीक्षण को भी महत्व दिया है- जहाँ राजकुमार के शराब पीने और उसके कुपरिणामों की चर्चा है अथवा हिन्दुओं की एकता पर टिप्पणी है अथवा हिन्दू मुसलमान एकता का संकेत देना है, बहु विवाह प्रथा का विरोध करते हुए रूठीरानी की सौतों का चरित्र उद्घाटित करना है और बहुविवाह के फलस्वरूप राजवंश के विनाश का चित्रण करना है किन्तु सती प्रथा को स्वीकार करने से लेखक की विचारधारा का हनन हुआ है। हो सकता है प्रेमचंद कल्पना के स्थान पर ऐतिहासिक ज्ञान की यथार्थता के प्रति अन्याय करना अनुचित समझ बैठे हों, क्योंकि सम्पूर्ण उपन्यास में प्रेमचंद ऐतिहासिक तिथि की प्रामाणिकता और घटना के वर्णनक्रम के प्रति सदैव सचेत रहे हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों के कथा शिल्प का उपयोग भी किया गया है। वर्णनात्मकता को महत्व दिया गया है। लेखकीय टिप्पणी भी अधिक है। संवाद कम हैं। शुद्ध ऐतिहासिकता के कारण रूठीरानी का सामाजिक परिप्रेक्ष्य फीका पड़ गया है। परम्परा भंजक होते हुए भी रूठीरानी के ऐतिहासिक उपन्यास होने पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता और यह उनके प्रारंभिक उपन्यासों की श्रृंखला में एक अलग महत्वपूर्ण संयोगशील ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में जाना जाएगा।

प्रमुख उपन्यास और कहानियाँ

नारी की मुक्ति

आरम्भ से ही प्रेमचंद नारी पराधीनता के प्रति चिंतित दिखायी देते हैं। उन्होंने पराधीनता के सभी पहलुओं पर विचार किया है। प्रारंभिक लेखन में जैसा लिखा जा चुका है प्रेमचंद स्त्री शिक्षा पर विशेष बल देते हैं। स्त्री शोषण संबंधित प्रारम्भिक उपन्यासों में पराधीनता के कई स्तरों को रेखांकित किया गया है। सभी समस्याओं के मध्य आर्थिक असमानता और पराधीनता की समस्या को उन्होंने प्रारम्भ में भी बार-बार उठाया है। इसे केन्द्रीय समस्या मानते हैं। भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालते हुए प्रेमचंद ने निष्कर्ष निकाला है कि स्त्री चिरकाल से पुरुष समाज द्वारा शोषित एवं आश्रिता है। उसे

अधीनस्थ बनाकर रखने के लिए बुद्धिजीवी पुरुष समाज ने अनेक कुप्रथाओं का सृजन किया है। आर्थिक रूप से शोषित होने के कारण ही उसका सामाजिक शोषण भी दहेज, विवाह, विधवा, वेश्या, पर्दा प्रथा आदि के माध्यम से किया जा रहा है। शोषण को कायम रखने के लिये नैतिक मूल्यों का निर्माण सुविधानुसार करके धार्मिक रूप से भी स्त्री को पंगु बना दिया गया है। अतः पुरुष समाज ने आर्थिक सामाजिक और धार्मिक स्तरों पर स्त्री का पूरे मनोयोग से शोषण किया है। प्रेमचंद ने रचनात्मक साहित्य और वैचारिक साहित्य दोनों स्तरों पर इस शोषण का पर्दाफाश कर मुक्ति का मार्ग दिखाया है। उनके साहित्य में नारी पराधीनता के कई रूप हैं। नारी का एक ऐसा वर्ग है जो चुपचाप पुरुष के शोषण को इसलिए सहती हैं क्योंकि वह धार्मिक रूढ़िवादिता की शिकार है और नरक में जाने की अपेक्षा घर में प्रताड़ित रहना बेहतर समझती है। एक दूसरा वर्ग है जो रूढ़िवादिता पर तर्क-वितर्क कर शोषण का विरोध करती है। तीसरा वर्ग है जो विरोध ही नहीं, संघर्ष को उद्यत हो जाती है और आर्थिक समानता की मांग कर शोषण का प्रतिकार करती है। ये तीनों वर्ग प्रेमचंद साहित्य में प्रारम्भ से अंत तक विद्यमान हैं। प्रेमचंद ने दूसरे और तीसरे वर्ग का चित्रण उत्तरोत्तर अधिक और विकसित रूप में किया है; जिससे उनका वैचारिक आग्रह प्रकट होता है। वह जागृत नारी को हर क्षेत्र में देखना चाहते हैं।

नारी जागृति का एक रूप धनिया जैसी गरीब नारी का है जो समाज की रूढ़ि मान्यताओं को भी नहीं तोड़ पातीं और शोषण का विरोध भी करती है। दूसरा रूप मालती जैसी सुसंस्कृत नारी का है जो पश्चिमी शिक्षाप्राप्त है और भारतीय परम्परा को नया आयाम देती हुई भारतीय संस्कृति और समाज के परिपेक्ष्य में ही पश्चिमी सभ्यता संस्कृति का ग्रहण करती है। तीसरा रूप झुनिया और सिलिया जैसी नीची जाति की नारियों का है जो समानता व सम्मान की माँग करती हैं। चौथा रूप मीनाक्षी जैसी अमीर और सोना जैसी गरीब नारियों का है जो सामाजिक धार्मिक शोषण को एक झटके के साथ तोड़ती हैं और पुरुष से अलग स्वतंत्र जीवन की कल्पना साकार करती हैं। वे पति के शोषण का विरोध तलाक, न्यायशीलता और दृढ़ता से कर नयी जागृति का संकेत देती है। किन्तु इन सारे रूपों में आर्थिक शोषण का विरोध प्रमुख रूप से स्पष्ट है।

पहले हम नारियों के सामाजिक शोषण पर विचार करेंगे। सबसे बड़ा

शोषण पत्नी रूप में किया जाता है क्योंकि पुरुष की अपेक्षा पत्नी को सामाजिक अधिकार कम दिए गए हैं। वह पति की मुखापेक्षी होती है। माँ-बाप की इच्छा से जिसके गले मढ़ दी जाए, जीवनपर्यन्त निर्वाह करें। उसका शोषण विधवा के रूप में, वेश्या रूप में तथा पर्दा प्रथा के रूप में किया जाता है।

पत्नी रूप में और नारी के रूप में ही सर्वाधिक शोषण हुआ है। देवस्थान रहस्य में कुंवारी लड़कियों को भ्रष्ट करने वाले सामाजिक घटकों का चित्रण किया गया है। बालिका के ही शब्दों में-''मैं, जो अभी पन्द्रहवें साल में हूँ। मगर तुम लोगों की बेवफाइयां खूब देख चुकी। मेरी एक मुंह बोली बहन की एक ताल्लुकेदार से सांठ-गांठ हो गयी, पहले तो दो तीन बार पेट गिराया गया। आखिरकार बाबू ने उसे निकाल दिया।''[57]'' यही नहीं; पारिवारिक शोषण को उजागर करती हुई स्त्री कहती है-''मोहे आछत सौतिन घर डारयो....सास ननद मोहे बरही मारे.......।''[58]'' रूठी रानी में प्रेमचंद की टिप्पणी है-''हमारे यहाँ बेटी बिन सींगों की गाय है। मां बाप उसके रखवाले हैं।''[59]'' वरदान में एक प्रेयसी माधवी प्रेम का तप करती हुई योगिनी हो जाती है और एक पिता अपनी पुत्री की इच्छा विरूद्ध शादी कर देता है। ''मुंशी जी के अगणित बांधव इसी भारत वर्ष में भी विद्यमान हैं जो अपनी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुएं में धकेल दिया करते हैं।''[60]'' अनमेल विवाह की शिकार सेवासदन की सुमन ही नहीं वेश्या भोली भी होती है। ''यह सब उसी जिहालत का नतीजा है। मेरे माँ-बाप ने मुझे भी एक बूढ़े के गले बांध दिया था।''[61]'' प्रेमाश्रम में रियासत के प्रतिनिधि दीन नारियों के साथ और भी पााशविक अत्याचार करने लगे थे। पति के शोषण की बात श्रद्धा भी करती है-''मुन्नी के जन्म के बाद इस पापी ज्ञानशंकर ने मुझे न जाने क्या खिला कर मेरी कोख हर ली।''[62]'' रंगभूमि की बिलासी और जमुनी पति शोषण की शिकार हैं। प्रतिज्ञा की सुमित्रा कहती है- मेरा विवाह तो महल से हुआ है। कायाकल्प की रोहिणी पति राजा विशाल सिंह के शोषण से कुढ़ कर आत्महत्या कर लेती है। राजा बहु विवाह के शिकार हुए थे। रोहिणी के शब्दों में ''स्त्री कभी पुरुषों का खिलौना है कभी पांव की जूती। हम स्त्रियों को ईश्वर ने इसीलिए बनाया है। विरोध करना तो जीवन का सर्वनाश करना है। अगर सीता भी अपनी आँखों से यह सब देखती जो मैं 16 वर्षों से देख रही हूँ तो सीता न रहती। सीता के लिए राम जैसा पुरुष चाहिए।''[63]'' पुरुष आनन्द के लिए ही बहुत से विवाह

करता है। फलस्वरूप गुण आयु और स्वभावगत अनमेल विवाह होते हैं। निर्मला में निर्मला का अनमेल विवाह है। प्रेमचंद ने शोषण की बड़ी मनोवैज्ञानिक तस्वीर उतारी है। तोताराम के शब्दो में- "आनंद की इच्छा से ही तो हम विवाह करते हैं। मेरे पिता ने पचपनवें वर्ष में विवाह किया था। जवानी ढल जाने पर जवान औरत से विवाह कर के कुछ बेहयाई जरूर करनी पड़ती है।" निर्मला अपने पातिव्रत की कसम खाती है-"अगर पति की जगह कोई देवता भी होता तो भी मैं इससे ज्यादा और कुछ न कर सकती। जो बात उनके और मेरे काबू के बाहर है उसके लिए मैं क्या कर सकती हूँ और वह क्या कर सकते हैं। न वह जवान हो सकते हैं और न मैं बुढिया हो सकती हूँ।"[64] यही अनमेल भाव गबन की रतन और वकील साहब में है। वकीलसाहब को रतन से पति का सा प्रेम नहीं, पिता का सा स्नेह था, उनके पास उसे प्रसन्न रखने के लिए धन के सिवा और चीज क्या थी।"[65] कर्मभूमि में मुन्नी के साथ सामाजिक अत्याचार होता है, नैना के साथ पारिवारिक अत्याचार और सकीना के साथ गरीबी का लाभ उठाने के लिए अमीर द्वारा प्रेम का जाल फैलाया जाता है। गोदान की झुनिया और सिलिया के साथ भी यही शोषण होता है। कहानी 'घासवाली' में नीच जाति की रूपमती युवती के शोषण की बात उठायी गयी है। "नीची जातों में रूप माधुर्य का इसके सिवा और काम ही क्या है कि वह ऊँची जाति वालों का खिलौना बने।"[66] कहानी 'उद्धार' में दहेज प्रथा को ही अनमेल विवाह का कारण कहा गया है। कहानी "नैराश्य" में तथा "एक आंच की कसर" में दहेज की बात प्रमुख है। "नैराश्य" का पति तो पत्नी से इसलिए नाराज रहता है क्योंकि उसको लड़कियाँ ही पैदा होती हैं। वैचारिक साहित्य में यही विचार प्रेमचंद व्यक्त करते हैं "हम इतने गिर गये हैं कि अपनी बहनों और बेटियों को बेचने में भी नहीं संकोच करते। घर वालों का दुर्व्यवहार बहुधा स्त्रियों के पतन का कारण हुआ करता है।"[67] "परख" उपन्यास की समीक्षा में भी प्रेमचंद ने विवाह को समझौता माना है। "मगर वह विवाह प्रथा हमारी समझ में नहीं आयी। विवाह वासना की चीज न हो, संतान पैदा करने की चीज न हो पर संगति की चीज तो है ही, ऐसी गाड़ी तो है ही जिसके दो पहिए होते हैं।"[68] इसी तरह एक पुस्तक "कनौजिया समाज में भयानक अत्याचार" की समीक्षा में स्त्री शोषण को रेखांकित किया। "समाज में लड़कियों की कैसी दुर्दशा होती है, विधवाओं का कितना अपमान किया जाता है और स्वार्थी ससुर कैसी लीलाएं रचते हैं। इस जाति के युवकों का कर्तव्य

है कि इस पुस्तक का प्रचार अधिक से अधिक करें।"[69]" तात्पर्य यह कि प्रेमचंद ने नारी शोषण की तस्वीर न केवल रचनात्मक साहित्य में ही खींची है बल्कि विचारात्मक साहित्य से उसकी पुष्टि भी की है। उन्होंने सामाजिक, पारिवारिक सभी प्रकार के शोषण का विरोध किया है और नारी पात्रों को संघर्षरत दिखाया है। एक बात अवश्य है कि प्रेमचंद का एक नारी वर्ग पूरे काल तक अन्तर्विरोध पालन करता हुआ शोषण सहता है, वहीं साथ-साथ दूसरा भी वर्ग है जो न केवल विरोध करता है बल्कि संघर्ष के लिए तत्पर होता है। ये वर्ग आरम्भ से अंत तक के साहित्य में साथ-साथ उभरे हैं। यह अवश्य है कि उत्तरोत्तर पहले वर्ग का अभाव और दूसरे वर्ग का विकास होता गया है।

कहानी "शिकार" (1910) में नौकरानी मुनिया विरोध के स्वरों में कहती है "बैठाकर कोई क्या खिलाएगा सरकार। मर्द बाहर काम करता है तो हम भी घर में काम करते हैं। बाहर के काम से तो रात को छुट्टी मिल जाती है। घर के काम से तो रात को भी छुट्टी नहीं मिलती।"[70]" "कुसुम" कहानी (1932) की नारी कहती है-"स्त्रियों को धर्म और त्याग का पाठ पढ़ाकर हमने उसके आत्मसम्मान और विश्वास दोनों का अंत कर दिया है अगर पुरुष स्त्री का मोहताज नहीं तो स्त्री पुरुष की मोहताज क्यों।"[71]" "जीवन का शाप" (1935) की नारी चुनौती भरा समाधान देती है-"ऐयाश मर्द की स्त्री अगर ऐयाश न हो तो यह उसकी कायरता है, लतखोरपन है।"[72]" यह कहकर निश्चय ही प्रेमचंद नारियों को स्वच्छंदता की अनुमति देते हैं। यह उनकी प्रगतिशीलता है। एक टिप्पणी-"एक दुखी बाप" में उन्होंने विश्वास व्यक्त करते हुए सलाह दी है-"लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाय और उन्हें संसार में अपना रास्ता आप बनाने के लिए छोड़ दिया जाय उसी तरह जैसे हम अपने लड़कों को छोड़ देते हैं। जैसे युवकों के विषय में हम उनके पथभ्रष्ट हो जाने की परवाह नहीं करते उसी प्रकार हमें लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिए। जब यदि वह गृहिणी जीवन व्यतीत करना चाहेगी तो अपना विवाह कर लेगी। अन्यथा अविवाहित रहेंगी। हमें कोई अधिकार नहीं है कि लड़कियों की इच्छा के विरुद्ध केवल रूढ़ियों के गुलाम बनकर केवल इस भय से कि खानदान की नाक न कट जाय, लड़कियों को किसी न किसी के गले मढ़ दें।"[73]" तमाम उपन्यासों, कहानियों में नारियाँ स्वयं अपनी रक्षा करती दिखायी गयी हैं। "प्रतिज्ञा" में सुमित्रा कहती है-"जब ऐसी स्त्रियाँ मिलकर रहेंगी तो उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। हर एक स्त्री अपने पास एक तेज छुरा

रखे। अगर कोई पुरुष उनको छेड़े तो जान पर खेल जाय, छुरी भोंक दें। दस-बीस घटनाएं हो जायेंगी तो मर्दों की नानी मर जायेगी। हमीं ने मर्दों की खुशामद करके उनको सर पर चढ़ा रखा है।"[74] प्रेमाश्रम की श्रद्धा भी यही विचार व्यक्त करती है-"जलाना आग का गुण है पर हरी लकड़ी को भी किसी ने जलते देखा है।"[75] "कायाकल्प" की कुंवारी अहिल्या तो बलात्कार के लिए उद्यत ख्वाजा के लड़के की हत्या कर देती है। "कर्मभूमि" की मुन्नी भी ऐसा ही करती है, गोदान की झुनिया भी।

देखा जाये तो नारी-मुक्ति के लिए उद्यत प्रेमचंद नारी के कई टाईप प्रस्तुत करते हैं, जैसे एक ही परिस्थिति में सुमन वेश्या बनती है, उसी परिस्थिति में निर्मला घुट-घुट कर मर्यादा पालन करते हुए मर जाती है। गोविन्दी विरोध और समझौता करती है किन्तु मीनाक्षी तलाक दे देती है। इंदु पति का विरोध कर महल छोड़ देती है। सुभागी अत्याचारी पति को छोड़ सूरदास का शरण लेती है। "कायाकल्प" में विशाल सिंह की तीनों पत्नियाँ अलग-अलग निर्णय लेती हैं- रोहिणी "दुत्कार सह कर जीने से मर जाना अच्छा" समझती है और मनोरमा चतुराई से विरोध करती है।

प्रेमचंद की नारियां समानता का दावा करती हैं। "निर्मला" की कल्याणी पति से कहती है-"घर में जितना तुम्हारा अधिकार है, उतना ही मेरा भी। इससे जौ भर भी कम नहीं।"[76] "गबन" की कुंजड़िन पति पर भी शासन करती है। "कर्मभूमि" की सुखदा और मुन्नी भी यही दावा करती हैं। "गोदान" की धनिया होरी से कम अधिकार नहीं रखती। मिस मालती तो पुरुष के अधिकारों को चुनौती देती हैं। कहानी "नरक का मार्ग" में पत्नी वृद्ध-विवाह का विरोध करती है। "नैराश्य लीला" की कैलासी का तर्क अकाट्य सिद्ध होता है-"पुरुष भी स्त्रियों के लिए कोई व्रत रखते हैं? मेरे लिए आत्मा की रक्षा के सिवा कोई धर्म नहीं।"[77] "दो कब्रें" की नायिका का निर्णय भी यही है-"मैं अपनी आत्मा को इतना स्वाधीन समझती हूँ जितना कोई मर्द।"[78] "शांति" (1918) में प्रेमचंद पुरुष के मुख से नारी समानता की बात कहलाते हैं-"स्त्रियां केवल बच्चे पालने, भोजन बनाने, पति की सेवा करने और एकादशी व्रत रखने के लिए नहीं हैं, उनके जीवन का लक्ष्य बहुत ऊँचा है। वे मनुष्यों के समस्त सामाजिक और मानसिक विषयों में समान रूप से भाग लेने की अधिकारिणी हैं।"[79] यही बात प्रेमचंद वैचारिक स्तर पर स्वीकारते हैं, "कुमारी शिक्षा का आदर्श" नामक टिप्पणी में लिखते हैं-"पुरुषों ने महिलाओं को इतना सताया

है कि अब वे माताएं और गृहिणी न बनकर अपनी आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने पर तुली हुई हैं। अगर पुरुष अपने बच्चे का पालना या भोजन पकाना नहीं जानते तो स्त्री क्यों सीखे।"[80]" एक अन्य टिप्पणी-''नारी जाति के अधिकार'' में उन्होंने समानता की बात उठायी है। ''उन्हें हर विषय में पुरुष के समान अधिकार होना चाहिए 1. विवाह का नियम स्त्री पुरुष दोनों के लिए लागू होगा। कोई पुरुष पत्नी के जीवन काल में दूसरा विवाह न कर सके। 2. पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो। 3. पिता की सम्पत्ति पर पुत्रों और पुत्रियों का समान अधिकार हो। 4. तलाक का कानून पुरुष स्त्री दोनों के लिए समान हो। 5. तलाक के समय स्त्री पुरुष की आधी सम्पत्ति पाये।"[81]"

तलाक का समर्थन गोदान में किया गया है। मीनाक्षी कुकर्मी पति को तलाक देकर चली आती है। प्रश्न उठता है कि क्या प्रेमचंद तलाक आवश्यक मानते हैं? क्योंकि मीनाक्षी तलाक देती है लेकिन गोविन्दी तलाक की स्थिति टालती है। ''मिस पद्मा'' कहानी में भी तलाक की स्थिति आती है किन्तु कई कहानियों में स्थिति को समझौता मानते हुए प्रेमचंद प्रेम विवाह और अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति देते हैं। स्वेच्छा से विवाह होने पर यह स्थिति नहीं आती। 26 सितम्बर 1934 को इन्द्रनाथ को लिखे गये पत्र में प्रेमचंद अन्तर्विरोध की स्थिति प्रकट करते हैं-''सर्वहारा वर्ग में तलाक एक आम चीज है। अपने अच्छे अच्छे रूप में विवाह एक प्रकार का समझौता और समर्पण है। मैं यह मानने [इ]कार करता हूँ कि केवल पुरुष ही दोषी है। यह ठीक है कि ऐसे भी केस हैं जहाँ तलाक अनिवार्य हो जाता है लेकिन मेल न बैठना मेरी समझ में नकचढ़ेपन के सिवा कुछ नहीं है। तलाक जिसमें बेचारी पत्नी के लिए कोई व्यवस्था नहीं है यह मांग केवल रुग्ण व्यक्तिवाद की ओर से आ सकती है। समता पर आधारित समाज में इसके लिए कोई जगह नहीं है।"[82]"

स्पष्ट है कि भरसक तलाक की स्थिति प्रेमचंद अन्यायपूर्ण मानते हैं क्योंकि इससे स्त्री का शोषण होता है किन्तु स्त्री द्वारा तलाक देने की वैधता पर वह आश्वस्त भी हैं।

प्रेमचंद नारी का सामाजिक ही नहीं; राजनीतिक जागरण भी स्वीकार करते हैं। वरदान की माँ राष्ट्र सेवक पुत्र का वरदान देवी से मांगती है। ''प्रेमा'' [क]ी विलासी, ''रंगभूमि'' की जमुनी, इंदु, जान्हवी, सोफिया, ''कायाकल्प'' की [म]नोरमा, ''गबन'' की जालपा और कुंजड़िन, आदि राजनीति में भाग लेती हैं।

कर्मभूमि की सभी नारियां वीरांगना, देशप्रेमिका, शोषण विरोधिनी और आंदोलन की नेत्री बनने वाली साहसी महिलाएं हैं। सभी त्याग और जाति प्रेम में भेदभाव भूलकर एक दूसरे का सहयोग करती हैं। वे उच्चवर्गीय भी हैं, मध्यवर्गीय और निम्न वर्गीय भी। गरीब वृद्धा पठानिन, गरीब युवती सकीना, विलासिन युवती सुखदा, धनाढ्य वृद्धा रेणुका, गरीब विधवा चमारिन वृद्धा सलोनी, विद्रोहिणी क्षत्राणी मुन्नी, युवती नैना आदि सभी स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेती हैं। कहानियों में भी वह आंदोलन तथा पिकेटिंग आदि में सक्रिय भाग लेती हैं। जेल, पत्नी से पति, शराब की दुकान, जुलूस, मैकू, सुहाग की साड़ी, समरयात्रा, वेश्या, कुसुम, तावान, धिक्कार, आखिरी तोहफा, आहुति, होली का उपहार आदि कहानियाँ; गबन, कर्मभूमि और गोदान के बीच की कहानियाँ हैं। संग्राम नाटक की सलोनी "कर्मभूमि" की सलोनी का प्रतिरूप है। गाँधी के प्रभामण्डल की कहानियां राजनीतिक जागरण की कहानियाँ हैं। प्रेमचंद ने पुरुषों के समकक्ष ही नहीं उनसे आगे निकलने वाली स्त्रियों का सृजन किया है। इसके लिए सामाजिक रूढ़ियों को भी एक झटके से तोड़ दिया है। पर्दा प्रथा को अभिशाप मानने वाले प्रेमचंद ने इस प्रथा का विरोध किया है। रचनात्मक साहित्य में इसके प्रभूत उदाहरण हैं। वैचारिक साहित्य में भी उसकी पुष्टि की गयी है। "पर्दा थोड़े दिनों का मेहमान है" में उन्होंने लिखा है- "पिछड़े हुए उत्तर भारत में भी पर्दा प्रथा उठती जाती है। कांग्रेस ने माताओं और बहनों को कर्मक्षेत्र में ला खड़ा किया है। जुलूसों में वे बोलती हैं। पिकेटिंग का सारा भार उनके ऊपर है। हजारों बहने जेल गयी हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय में युवक और युवतियाँ साथ-साथ पढ़ते हैं।"[83] स्पष्ट है कि राजनीतिक कहानियों में, कांग्रेस के प्रयास से रूढ़िभंजन और जागृति से मुक्ति की आवाज प्रेमचंद बुलन्द करते हैं। पर्दा प्रथा की निःसारता पर टिप्पणी करते हुए लेख "प्रकृति का ताण्डव" में उन्होंने लिखा-"पर्दे को बिलकुल तोड़ दिया जाय। अगर पर्दे वाली स्त्रियां भयभीत हो लज्जावश घरों में न छटपटा कर, दौड़ती हुई खाली जगहों तक आ जातीं तो बहुत सम्भव है भूकम्प में इतनी जानें न जातीं।"[84]

नारी जागरण के फलस्वरूप "कायाकल्प" में अनेक संस्थाएं खुल गयी हैं जैसे कुमारी सभा, बालिका विद्यालय, महिला क्लब आदि। वैचारिक साहित्य में भी कई संस्थाओं का प्रेमचंद उल्लेख करते हैं। सम्मेलन में संतान निग्रह, महिला विद्यालयों में सतसई, प्रयाग में महिला व्यायाम मंदिर आदि

टिप्पणियाँ इसकी प्रमाण हैं। पत्रों में वह कई बार शिवरानी देवी द्वारा आंदोलन में भाग लेने की बात लिखते हैं। एक लेख "बेगम आलम की ओजस्विनी अपील" में टिप्पणी करते हैं-"बेगम साहिबा की अपील हमें स्वर्गीया अम्मा की याद दिलाती है जो उन्होंने अपने पुत्रों के विषय में कहे थे। बेगम साहिबा ने कहा है मेरे पति का अपमानित होकर जीवित रहने के बदले उनका इज्जत के साथ मर जाना मैं ज्यादा पसंद करती हूँ।"[85] रंगभूमि की रानी जाह्नवी भी पुत्र विनय के लिए ऐसे ही उद्गार व्यक्त करती हैं-"अब केवल दो इच्छाएं हैं-ईश्वर से यह कि तुम जैसी संतान सातवें बैरी को भी न दे और तुमसे यह कि अपने जीवन की क्रूर लीला को समाप्त कर दो।"[86]

प्रेमचंद देश के अंदर की घटनाओं पर बराबर ध्यान रखते थे। तभी उनको वैचारिक और रचनात्मक साहित्य में उतारते हैं। शिवरानी देवी व नेहरू की मां के साथ अन्याय, बेगम आलम की अपील को वैचारिक धरातल पर प्रस्तुत कर उपन्यास कहानियों में प्रतिरूप नारी चरित्रों का गठन करते हैं। "कर्मभूमि" और अनेक कहानियों की आंदोलनरत नारियों में इन्हीं को उतारा गया है। मूलवस्तु को अन्तर्वस्तु के रूप में विकसित करने की यह प्रेमचंदीय शैली है जहाँ विचार और रचना में अंतर नहीं दिखता। रचना के चरित्र जीवन से ग्रहण किये जाते हैं; इसे प्रेमचंद स्वीकार करते हैं। कभी किसी घटना से या किसी स्वप्न से।"[87]

समाज में विधवा का सर्वाधिक शोषण होता है। प्रेमचंद ने इस पर विस्तृत रूप से विचार किया है। समाज की रूढ़ मान्यताएं विधवा को नाटकीय स्थिति में जीने को मजबूर करती हैं। उसे आधार की जरूरत होती है पर शोषक समाज के आघात से आधार हमेशा खंडित हो जाते हैं। वह त्यागमय जीवन भी नहीं बिता पाती क्योंकि समाज की मनोवृत्ति दूषित है। विधवा पर दोषारोपण करना कितना आसान है। मानो कुवासना ही वैधव्य की स्वाभाविक वृत्ति है।"[88] इसी से त्रस्त होकर वह कुलटा बनने पर मजबूर होती है। प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं- "विधवा को कुलटा बनते कितनी देर लगती है।" "प्रेमाश्रम" की गायत्री को पातिव्रत बचाने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता है। कहानी "बेटों वाली विधवा" जवान बेटों-बहुओं से त्रस्त रहती है। "बूढ़ी काकी" की कुण्ठा बेजोड़ है।"उद्धार" कहानी में प्रेमचंद वैधव्य को दुःसह और हृदय विदारक यातना का नाम देते हैं। "मृतक भोज" की विधवा समाज के ठेकेदारों द्वारा सर्वस्व बेचने को बाध्य की जाती है। "गबन" की रत्ना भी स्वजनों से

छली जाती है। "गोदान" की झुनिया पर भी सभी रसिक दृष्टि डालते हैं। विधवा समस्या का समाधान या तो पातिव्रत का पालन है या पुनर्विवाह। आरम्भ में प्रेमचंद पातिव्रत और संयम का सिद्धान्त उपयोगी मानते हैं; यद्यपि न्यायोचित नहीं मानते। इसीलिए "प्रतिज्ञा" में विधवा विवाह को विरोधी मानते हैं किन्तु "प्रतिज्ञा" के पूर्व रूप "प्रेमा" उपन्यास में विधवा विवाह सम्पन्न कराते हैं और स्वयं भी विधवा विवाह करते हैं। लेकिन यह बाल विधवा विवाह है। स्पष्ट है कि प्रेमचंद बाल विधवा विवाह के समर्थक हैं न कि प्रौढ़ विधवा विवाह के। डॉ0 रघुवीर सिंह को लिखे पत्र में उन्होंने स्वीकार भी किया है-"प्रतिज्ञा और 'प्रेमा' मेरी ही लिखी हुई हैं। 'प्रेमा' मैंने 1905 में लिखी थी। उसमें एक विधवा का विवाह कराया गया है। मैंने विधवा का विवाह करा के हिन्दू नारी को आदर्श से गिरा दिया था। उस वक्त जवानी की उम्र थी और सुधार की प्रवृत्ति जोरों पर थीं। उस रूप में मैं पुस्तक को नहीं देखना चाहता था। इसलिए कथा में उलटफेर कर के इसे लिख डाला।"[89]

विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि 1929 ई0 तक के साहित्य में प्रेमचंद किसी प्रौढ़ विधवा का विवाह सम्पन्न नहीं कराते और भारतीय संस्कृति के तहत संयमशील जीवन को महत्व देते हैं। हालांकि आर्य समाज से प्रभावित हो बाल विधवा विवाह का समर्थन करते हैं। पातिव्रत और संयमपूर्ण जीवन की कल्पना प्रेमचंद के 1930 तक के साहित्य में अधिक की गयी है। "कायाकल्प" की रानी देवप्रिया का कई जन्मों में पुरुषों से असफल विवाह इसी के अन्तर्गत आता है जिसका लक्ष्य विलासिता त्याग कर संयमशील होना ही है-"यह लीला उसी दिन समाप्त होगी जब प्रेम में वासना न होगी।"[90] "त्यागी का प्रेम" नामक कहानी (1921) में प्रेम संबंध होने पर भी आनंदी विधवा से विवाह नहीं कर पाते। "नैराश्य लीला" (1923) में बाल विधवा संयासिनी होने को उद्यत रहती है जिसे भागवत की शिक्षा दी गयी थी किंतु अध्यापिका बनाकर प्रेमचंद बाल विधवा की समस्या को धर्म शिक्षा के माध्यम से संयमशील जीवन में बदलने की नयी युक्ति प्रस्तुत करते हैं। "धिक्कार" (1925) की विधवा इसलिए आत्महत्या करती है क्योंकि पुनर्विवाह के बाद पति को प्रताड़ित हो पलायन करना पड़ता है। सामाजिक शोषण सुधार मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। "आधार" (1926) की विधवा पाँच साल के देवर के साथ इसलिए विवाह करती है क्योंकि जीने के लिए आधार की जरूरत होती है, प्रेमचंद एक समाधान यह भी प्रस्तुत करते हैं-"जिस हृदय में सेवा का स्रोत

बह रहा है उसमें वासनाओं के लिए कहाँ स्थान? वासना का वार निर्मम, आशाहीन, आधारहीन प्राणियों पर ही होता है।"[91]"

किंतु 1929 के बाद के साहित्य में प्रेमचंद का आग्रह विधवा विवाह के प्रति बढ़ता गया है। "कर्मभूमि" की विधवा मुन्नी अन्तर्जातीय विवाह करती है। "गोदान" की झुनिया और नोहरी क्रमशः गोबर और भोला से पुनर्विवाह करती है। प्रेमचंद का विश्वास दृढ़ हो गया था कि किसी कमजोर आधार पर स्त्री संयम और पातिव्रत सेवा द्वारा त्यागपूर्ण जीवन नहीं बिता सकती। 1929 की कहानी "अलग्योझा" में केदार अपनी भाभी मुनिया से शादी कर लेता है; वह भी माता की अनुमति से। "स्वामिनी" (1931) में प्रेमचंद ने पूर्व मान्यताओं के प्रति अविश्वास जाहिर कर मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत किया है। विधवा प्यारी के पास गार्हस्थिक आधार था। जिसके सहारे काफी समय तक संयम से रहकर भी नौकर जोखू के प्रेमपाश में बँध जाती है। "ज्योति" (1933) की विधवा बूटी पुत्रों को किसी लड़की से प्यार करते देख कुण्ठाग्रस्त हो जाती है। "बालक" (1933) काफी सशक्त और प्रगतिशील कहानी है। गंगू ब्राह्मण ऐसी विधवा से विवाह करता है जो तीन पतियों के यहां से भगायी गयी होती है और वह उसका अवैध पुत्र भी अपना लेता है। वह तर्क देता है-"यह मेरा बच्चा है, मैंने एक बोया हुआ खेत लिया तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था?"[92]" यदि इसे समस्या का समाधान मानें तो अनुचित नहीं होगा। समय-समय पर कई समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। यद्यपि मोटे तौर पर उसके दो ही वर्ग बनेंगे-एक संयमशील जीवन का और दूसरा पुनर्विवाह का। इसे प्रेमचंद का अन्तर्विरोध भी कहा जा सकता है किन्तु इतना स्पष्ट है कि प्रेमचंद विधवा विवाह द्वारा नारी को लांछन और शोषण से बचा कर सुखमय जीवन जीने का मार्ग निर्धारित करते हैं। यही बात वह वैचारिक धरातल पर भी करते हैं, "मि0 हर विलास शारदा का नया 'कानून' नामक टिप्पणी में।" "[93]" इसलिए प्रेमचंद न केवल रचनात्मक साहित्य में बल्कि वैचारिक धरातल पर विधवा विवाह की तथा आर्थिक अधिकारों की मांग करते हैं और शारदा बिल का स्वागत करते हैं। "अकबर महान" की जीवनी में लिखा-"अगर कोई विधवा पुनर्विवाह करना चाहे तो उसे रोकना अपराध होगा।"[94]" स्वामी विवेकानन्द और डॉ0 सर रामकृष्ण भण्डारकर की जीवनी में भी विधवा विवाह का समर्थन किया है। आर्थिक शोषण को ही विधवा की दुर्दशा का कारण मानते हुए "विधवाओं के गुजारे का बिल" नामक

टिप्पणी में स्पष्ट करते हैं-"पति की छोड़ी हुई सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता, वह स्वामिनी से लौंडी हो जाती है। कितने ही घर से निकल जाती हैं, पतिता हो जाती है।"[95] इस तरह विधवा विवाह और विधवा के आर्थिक अधिकारों की माँग कर प्रेमचंद स्त्री मुक्ति का सहज मार्ग निर्देशित करते हैं।

विधवा के समान वेश्या के सामाजिक शोषण पर "सेवासदन" में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। प्रेमचंद समस्या के विविध पहलुओं पर जाते हैं और हल भी प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचंद अनमेल विवाह को एक कारण स्वीकार करते हैं।[96] भोली भी अनमेल विवाह का शिकार हुई है जैसे सुमन। उसका पति गजाधर भी इसे स्वीकार कर अपने को दोषी मानता है-"इसका कारण मेरा अन्याय था। वह सर्वगुण सम्पन्न थीं।"[97] वैचारिक साहित्य में भी प्रेमचंद ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि पारिवारिक परिस्थितियाँ ही स्त्री शोषण और वेश्यावृत्ति की जिम्मेदार हैं-"अक्सर तो औरतों का सर्वनाश करने वाले उनके घर के ही प्राणी होते हैं।"[98] वह पारिवारिक अत्याचार के अतिरिक्त सामाजिक शोषण को भी वेश्यावृत्ति का कारण सिद्ध करते हैं। सुमन को दालमण्डी तक पहुँचाने में समाज के कई सम्भ्रांत लोगों की भूमिका थी। वकील पद्म सिंह इसे स्वीकार करते हैं-"यह हमारी ही कुवासनाएं, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएं हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया है। यह दालमण्डी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब है। हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् रूप है।"[99] कुंवर अनिरूद्ध सिंह भी समाज को दोष देते हैं-"हमारे शिक्षित भाइयों की बदौलत दालमण्डी आबाद है। जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर-सम्मान के पात्र हैं वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो।"[100] यहाँ प्रेमचंद वनिताश्रम का निर्माण कर हल प्रस्तुत करने का भ्रम उत्पन्न करते हैं किन्तु वास्तविक हल गजाधर, विट्ठलदास, चिम्मनलाल, पद्मसिंह और अनिरूद्ध सिंह प्रस्तुत करते हैं और सामाजिक शोषण की निरन्तरता का संकेत देते हैं। अतः सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप शोषण विहीन समाज का निर्माण ही वेश्यावृत्ति समस्या का समाधान है। प्रेमचंद आर्य समाज से प्रभावित थे किन्तु वनिताश्रम बनने के बावजूद वेश्यापुत्रियों के विवाह को लेकर शंका करना ही वास्तव में वनिताश्रम की अवैज्ञानिकता और व्यर्थता का संकेत है। सुमन भी शंका जाहिर करती है-"इनका विवाह होना ही टेढ़ी खीर

है, हमारा कर्तव्य है कि इन कन्याओं को चतुर गृहिणी बनने के योग्य बना दें, समाज इनका उचित आदर करेगा या नहीं मैं नहीं कह सकती।"[101]" सेवासदन में वकील पद्म सिंह वेश्या प्रस्ताव में तीन चीजें स्वीकार करते हैं-"वेश्याओं को बस्ती से दूर रखना, शहर आने से रोकना, और वेश्याकृत्य पर भारी टैक्स। "गबन" में भी वेश्यानृत्य का विरोध किया गया है। "वेश्या" कहानी में वेश्या कहती है-"कोई स्त्री स्वेच्छा से रूप का व्यवसाय नहीं करती। पैसे के लिए अपनी लज्जा को उघाड़ना, तुम्हारी समझ में कुछ ऐसी बात है जो वेश्या शौक से करती है।" "दो कब्रें", "आगा-पीछा" कहानियों में वेश्यापुत्री विवाह की असफलता चित्रित है। "ऐक्ट्रेस" कहानी में वेश्या के पुनर्विवाह पर आपत्ति उठायी गयी है। इसी भांति "गबन" में भी वेश्या जोहरा त्याग और संयमशील जीवन बिताती हैं यद्यपि दालमण्डी में रहकर भी सुमन अंत तक पातिव्रत और संयम का पालन करती है। प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि संयम पूर्ण जीवन वेश्या समस्या को आसान करता है क्योंकि व्यवसाय न करके वे वेश्याजीवन से छुटकारा पा जाती हैं। वैचारिक साहित्य में भी यह समाधान प्रेमचंद प्रस्तुत करते हैं। दिसम्बर 1932 को "चांद नव वर्षांक" की समीक्षा करते हुए लिखा-"मगर समाज में वेश्याओं को सम्मान तो तभी मिल सकता है जब उनके चरित्र में संयम आ जाय यदि फिर वे गायकी और नृत्य को पेशा बनाकर भी गृहिणी बन कर रहें, एकाचारिणी बन कर रहें, तो कोई वजह नहीं कि आज भी उनका अनादर हो।"[103]"

संयम पूर्ण जीवन बिताने की सलाह देते हुए प्रेमचंद जहाँ सामाजिक परिवर्तन की बात करते हैं वहाँ स्पष्ट हो जाता है कि वह आर्थिक स्वावलम्बन चाहते हैं। सेवासदन में बिट्ठल दास का आग्रह है-"स्त्रियों को अगर ईश्वर सुन्दरता दें तो धन से वंचित न रखें। धनहीन सुंदर चतुर स्त्री पर दुर्व्यसन का मंत्र शीघ्र ही चल जाता है।"[104]" एक टिप्पणी में प्रेमचंद स्वीकार भी करते हैं-"वेश्यावृत्ति का मूल कारण आर्थिक संकट है जो बाद में मानसिक दुर्बलता का रूप धारण कर लेता है।"[105]"

स्पष्ट है कि प्रेमचंद वेश्या समस्या का कारण आर्थिक शोषण ही मानते हैं और उसके समाधान के लिए आर्थिक समानता व संयम को आवश्यक मानते हैं; न कि वनिताश्रम। सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप ही आर्थिक समानता सम्भव है। एक लेख "रूस का नैतिक उत्थान" में लिखते हैं-"रूस नैतिक दृष्टि से अन्य सभी जातियों से आगे निकल गया है। क्योंकि वहाँ वेश्याएं

बाजारों में अपने शिकार की तलाश में चक्कर नहीं लगातीं जैसे योरोप और अमेरिका के प्रायः सभी देशों में होता है। जब किसी के पास इतना धन ही न रहे कि वह उसको विलासिता में उड़ा सके तो वेश्यावृत्ति अपने आप ही लुप्त हो जाएगी।"[106]"

प्रेमचंद नारी जागृति के लिए शिक्षा पर बल देते हैं और उपन्यास कहानियों में स्त्री शिक्षा के कई मानक निर्धारित करते हैं। वरदान में विदुषी विरजन शिक्षा प्राप्त कर सामाजिक शोषण का विरोध करती है। प्रताप को लिखे गये अपने पत्रों में वह गांव तथा गांव के शोषकों व रूढ़ि मान्यताओं का उल्लेख करती है। "सेवासदन" की शांता शिक्षिता युवती है जो प्रेम विवाह कर जीवन सुखी बनाती है। "रंगभूमि" की सोफिया, इंदु, जाह्नवी शिक्षा प्राप्त कर ही शोषण का विरोध करती हैं और नारी जागृति में योग देती हैं। "कायाकल्प" की मनोरमा चक्रधर से शिक्षा ग्रहण कर शोषक विशाल सिंह से विवाह कर सामाजिक शोषण को मिटाने की नीति प्रदर्शित करती है। "कर्मभूमि" की सुखदा और रेणुका, शिक्षा के द्वारा राजनैतिक स्तर पर नारी जागृति में योग देती हैं। "गोदान" की गोविन्दी, मिस मालती और मीनाक्षी भी शिक्षा प्राप्त कर न केवल शोषण का विरोध करती हैं बल्कि नारी मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं। कहानियों में भी स्त्रियाँ शिक्षा के माध्यम से जागृत हो शोषण का विरोध करती हैं और आर्थिक स्वावलम्बन के लिए संघर्ष कर नारी मुक्ति का आदर्श प्रस्तुत करती हैं। यद्यपि अनपढ़ नारियाँ भी मेहनत-मजदूरी से आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त कर पुरुष वर्ग के शोषण और अहंकार को चुनौती देती हैं और सिद्ध करती हैं कि पुरुष के बिना भी वह अर्थार्जन कर सुखमय जीवन बिता सकती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षा द्वारा नारियाँ अपना अधिकार कर्तव्य समझ कर तद्‌वत आचरण करती हैं किन्तु यदि उचित निर्देशन व साहचर्य मिले तो अनपढ़ नारियाँ भी गर्व पूर्वक जीवनयापन कर सकती हैं।

वैसे वैचारिक स्तर पर भी प्रेमचंद स्त्री शिक्षा की महत्ता स्वीकार करते हैं, एक टिप्पणी "महिलाओं की शिक्षा पर पं0 जवाहरलाल नेहरू" में उन्होंने लिखा-"आपका ख्याल है कि महिलाओं को केवल वैवाहिक जीवन के लिए क्यों तैयार किया जाय। उन्हें जब तक आर्थिक स्वतंत्रता न प्राप्त होगी पति-पत्नी में साम्यवाद उत्पन्न नहीं होगा।"[107]" इसी आर्थिक स्वाधीनता की बात एक अन्य टिप्पणी "कुमारी शिक्षा का आदर्श" में भी उठाते हैं-"शिक्षा विभाग के अध्यक्ष मि0 मेकेंजी ने विचार व्यक्त किया है कि पुरुषों ने महिलाओं

को इतना सताया है कि अब वे माताएं और गृहिणी न बन कर अपनी आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने पर तुली हुई हैं।"[108] किन्तु वह "आधुनिक शिक्षा" में लिखते हैं-"जिन पुस्तकों में श्रृंगार का नग्न और निर्लज्ज रूप दिखाया गया हो उन्हें लड़कियों से ही क्यों, लड़कों से भी उठा देना चाहिए। लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाय।" अच्छी शिक्षा से उनका तात्पर्य भारतीय संस्कृति के अनुरूप शिक्षा से है क्योंकि वह पश्चिमी शिक्षा के विरोधी हैं। "शांति" (1918 ई0) कहानी का पति कहता है-"मैंने अपने को उस इन्द्रजाल से निकालने का निर्णय कर लिया है जहाँ धन का नाम मान है, इन्द्रिय लिप्सा का सभ्यता और भ्रष्टता का विचार स्वातंत्र्य।"[110] इसी तरह "स्मृति का पुजारी" (1931) के अनुसार जिस सभ्यता का स्प्रिट स्वार्थ हो, वह सभ्यता नहीं है संसार के लिए अभिशाप है और समाज के लिए विपत्ति।"[111] 'उन्माद' में अंग्रेजी सभ्यता की खिल्ली उड़ायी गयी है" अंग्रेज स्त्री अपनी रूचि के सिवा और किसी की पाबन्द नहीं।"[112] इसी तरह 'मिस पद्मा' में लिखा-"स्वेच्छाचारिता के कारण ही वैचारिक जीवन का अंत हो जाता है।" इन सब नारियों का समाधान प्रेमचंद ने "गोदान" की मिस मालती के चरित्र द्वारा दिया है। प्रगतिशील नारी होते हुए भी वह वीमेन्स लीग की संचालिका है जिसके लिए प्रेमचंद "मालती बाहर से तितली है और भीतर से मधुमक्खी" वाक्य प्रयुक्त करते हैं। प्रगतिशीलता के कारण ही वह पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर चलती है, रूप का जादू चलाकर रईसों, पूंजीपतियों से आर्थिक सहानुभूति भी प्राप्त करती है किन्तु दूसरी ओर अपना पारिवारिक कर्तव्य निभाती है और सामाजिक डाक्टर होने के नाते शोषण करने के बजाय गांवों में गरीबों की मुफ्त चिकित्सा सेवा, शिशु रक्षा और सेवा सहयोग प्रदान करती है। वह पश्चिमी नारियों की भांति श्रृंगार प्रेमी भी नहीं है। स्वयं न तो फिजूलखर्ची करती है न मि0 मेहता को ऐसा करने देती है। वैवाहिक जीवन की अपेक्षा मित्र बनकर रहना सर्वोत्तम समझती है। मिस मालती प्रगतिशील आदर्श भारतीय नारी है जो नारी जागृति को नया आयाम प्रदान करती है, एक ओर जायज भारतीय सभ्यता ग्रहण करती है, नाजायज का बहिष्कार करती है तो दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता की प्रगतिशील अच्छाइयाँ ग्रहण कर आदर्श और प्रगतिशील भारतीय नारी का नया रूप निर्मित करती है। यह प्रेमचंद की नारी विषयक विचारधारा की संवाहिका मानी जानी चाहिए। प्रेमचंद नारियों को गृहस्थी के लिए भी तैयार करना चाहते हैं पर स्वावलम्बिनी नारी बना कर। तितली बनाना उनको अच्छा नहीं लगता

इसीलिए एक टिप्पणी-"प्रयाग महिला विद्यापीठ की साहित्यिक प्रगति" में संतोष व्यक्त करते हैं-"यहां की विदुषियां तितलियां बन कर नहीं, गृहदेवियां बनकर निकलती हैं।"[113] नारी के विषय में उनका आदर्श भारतीय संस्कृति के अनुरूप था एक पत्र में लिखा-"स्त्री का मेरा आदर्श त्याग है, सेवा है, पवित्रता है सब कुछ एक में मिला हुआ।" मिस मालती में ये सारे आदर्श मिलते हैं। वह प्रेमचंद का आदर्श है।

अतः प्रेमचंद स्त्री मुक्ति के लिए सामाजिक परिवर्तन के आकांक्षी हैं जहाँ पहले तो सुधार अन्यथा संघर्ष द्वारा आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। पं० नेहरू के साथ वह रूस के नैतिक उत्थान के प्रति आग्रही हैं जिसके मूल में स्त्री स्वतंत्रता है। अतः वह समाज में स्त्री की पूर्ण मुक्ति की कल्पना करते हैं।

सुधारवाद

आरम्भ से ही प्रेमचंद भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं के प्रति आस्थावान थे। मध्यवित्त वर्गीय परिवार के सदस्य होने के कारण उनमें उसके संस्कार भी समाहित थे। जब प्रेमचंद ने लिखना शुरू किया तब भारतीय समाज के सुधार के लिए अनेक प्रयत्न किए जा रहे थे। आर्य समाज, ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसायटी आदि शक्तिशाली एवं जनसमर्थित संस्थाएं कार्यरत थीं। प्रेमचंद युगीन प्रभाव और पारिवारिक संस्कारवश न केवल आर्य समाज मंदिर जाते थे बल्कि उसके विधिवत सदस्य भी थे। निश्चय ही उनकी रचनाएं सुधारवादी प्रभावों से अछूती नहीं रह सकती थीं क्योंकि सुधार समय की माँग थे। देश में सुधारवादी संस्थाएं कार्यरत थीं और अनेक नयी संस्थाएं बनती जा रही थीं। आर्य समाज के प्रयास से देश के कोने-कोने में अनाथालय और विधवाश्रमों की बाढ़ आ रही थी। पूना में शारदा सदन और अनाथ बालिकाश्रम खुल चुका था। गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत सेवक समाज और हृदय नाथ कुंजरू ने सेवासदन का गठन किया था। इन आश्रमों के माध्यम से समाज में विधवा-विवाह का समर्थन क्रियान्वयन, बाल विवाह का विरोध, दहेज की भर्त्सना, पर्दा प्रथा का विरोध और नारी जागृति का कार्य, स्त्री शिक्षा का समर्थन और बालिका विद्यालयों की स्थापना, छुआ-छूत और मद्यसेवन का विरोध, धार्मिक आडम्बरों के पर्दाफाश संबंधी रचनात्मक कार्य आदि सम्पन्न हो रहे थे। शोषित जनता इन सुधारों से संतुष्ट लग रही थी। अनेक साहित्यकार सुधारवादी साहित्य सृजन करने में तत्पर

थे। निश्चय ही प्रेमचंद पर अपने समाज तथा पूर्व और समकालीन साहित्यकारो के विचारों का भरपूर असर पड़ा। पूर्व अध्याय में सिद्ध किया गया है कि प्रेमचंद का प्रारम्भिक रचनात्मक लेखन सुधारवादी आग्रह से युक्त है। विकास काल के लेखन में सुधारवाद कहीं अधिक, कहीं कम किंतु आद्योपान्त विद्यमान हैं।

प्रेमचंद ने आर्य समाज की सामाजिक भूमिका को स्वीकार करते हुए उसके सुधारों की व्यापक चर्चा की है। आर्य समाज के अन्तर्गत आर्य भाषा सम्मेलन के वार्षिकोत्सव पर लाहौर में दिए गए भाषण से इसकी पुष्टि होती है। वह कहते हैं-"मैं तो आर्य समाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतनी तहजीवी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। उसके तहजीवी कारनामें ज्यादा रौशन हैं, हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्य समाज ने कदम उठाया। लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति भेदभाव और खान-पान के छूत-छात और चौके चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। अन्धविश्वास और धर्म के नाम पर किए जाने वाले हजारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल को जितना आर्य समाज ने उठाया, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो।"[114]

ध्यातव्य है कि प्रेमचंद ने प्रारम्भिक लेखन में उपरोक्त समस्याएं उठा कर उनका सुधारात्मक हल प्रस्तुत किया है। आर्य समाज के साथ ही रामकृष्ण मिशन के प्रभावों से भी प्रेमचंद अछूते नहीं रह सके क्योंकि सुधारवादी संस्था होने के नाते उसमें आर्य समाज से कतिपय भिन्न और प्रगतिशील विचार समाहित थे। इस संबंध में वह स्वामी विवेकानन्द की विस्तृत जीवनी लिखकर उनकी महत्ता स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं-"स्वामी जी सामाजिक सुधारों के पक्के समर्थक थे पर उसकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय समाज सुधार के जो यत्न किये जाते थे वह प्रायः उच्च और शिक्षित वर्ग से ही संबंध रखते थे। परदे की रस्म, विधवा विवाह, जाति बन्धन यही इस समय की सबसे बड़ी सामाजिक आवश्यकताएं हैं जिनमें सुधार होना अत्यावश्यक है। स्वामी जी का आदर्श बहुत ऊँचा था अर्थात निम्न श्रेणी वालों को ऊँचा उठाना, उन्हें शिक्षा देना और अपना भाई बनाना। स्वामी जी ने सुधारक के लिए तीन शर्तें रखी हैं-पहली यह कि देश और जाति का प्रेम

उसका प्रेम बन गया हो। हृदय उदार हो और देशवासियों की भलाई की सच्ची इच्छा उसमें बसती हो। दूसरी यह कि प्रस्तावों पर दृढ़ विश्वास। तीसरी स्थिर चित्त और दृढ़ निश्चय।"[115]

प्रेमचंद साहित्य में ऐसे सुधारकों का अभाव देखते हैं जो निःस्वार्थ भाव से जनसेवा करने में दृढ़ प्रतीत होते हैं ऐसा दिखाकर वह तथाकथित सुधारकों के खोखलेपन की कलई खोलते हैं। वरदान का प्रताप चंद, सेवासदन का विट्ठल और सदन, कायाकल्प का चक्रधर, कर्मभूमि का अमरकान्त इसके उदाहरण हैं। उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद के उपन्यासों में निम्न श्रेणी वालों को ऊँचा उठाने की पेशकश ही ज्यादा की गई है। स्त्री मुक्ति की व्यग्र भावना उनके साहित्य में सर्वत्र विद्यमान है। विधवा विवाह और जाति बन्धन तथा पर्दाप्रथा की समस्याएं मूलरूप से उठायी गयी हैं।

इसी तरह प्रेमचंद थियोसोफिकल सोसायटी के प्रभावों को भी स्वीकार करते हैं। थियोसोफिसिस्टों से उनका संबंध 1916 ई0 में गोरखपुर में रहते हुए हो गया था। प्रेमचंद फिराक गोरखपुरी और उनके बड़े भाई गनपत सहाय जैसे सोफिसिस्टों से घनिष्ठ संबंध रखते थे तथा उनसे थियोसोफिकल की पुस्तकें मांगकर पढ़ते थे। अक्टूबर 1934 ई0 में धर्मज्योति नामक पुस्तक की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा-"थियोसोफी या ब्रह्मविद्या उन आन्दोलनों में से एक है जिन्होंने शास्त्र और विज्ञान की सहायता से हिन्दू धर्म और अन्य धर्मों के गुप्त रहस्यों को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। थियोसोफी सभी धर्मों और सम्प्रदायों का समान रूप से आदर करती है और उनकी खूबियों पर प्रकाश डालती है। हिन्दुओं में अपने धर्म और उसके सिद्धान्तों से जो अविश्वास आ गया था उसको थियोसोफी ने बहुत कुछ मिटा दिया है लेकिन उसके साथ ही बुद्धि को गौण और विश्वास को मुख्य स्थान देकर उसने उस अन्धश्रद्धा को भी जगा दिया है और उन संस्कारों को भी जीवित कर दिया है जिसके कारण हिन्दू धर्म निर्बल हो गया। मसलन वह वर्णाश्रम का समर्थन करता है, परलोक के विषय में कितनी ही ऐसी बातें करता है जिनका कोई प्रमाण नहीं।"[116]

सेवासदन के प्रो0 रमेशदत्त थियोसोफिस्ट हैं। वह सनातनपंथियों से कहते हैं-"थियोसोफिसिस्ट होना कोई गाली नहीं है। यह हमारे ही समाज का उद्योग है कि आज जर्मनी, अमेरिका, रूस में राम, कृष्ण के भक्त और गीता उपनिषद् के प्रेमी हैं।"[117] रंगभूमि की सोफिया जैसा कि नाम से ही ध्वनित

है, थियोसोफिसिस्ट है। कायाकल्प की देवप्रिया पर और प्रेमाश्रम के राय कमलानन्द पर भी इसकी स्पष्ट छाया है। प्रेमचंद सुधारवादी आग्रह के तहत ही कांग्रेस की योजना स्वीकार करते हैं-"आर्य समाज का कार्य खासकर शिक्षा से सम्बन्ध रखता है। उसके अनाथालय और विद्याश्रम हैं और शफाखाने भी। लेकिन किसानों में शिक्षा का प्रचार, सहयोग, पंचायत, तंदुरूस्ती और सफाई गो पालन आदि सैकड़ों काम ऐसे हैं जिनसे राष्ट्र का बहुत कुछ उपकार हो सकता है।"[118] एक अन्य लेख "अछूतपन मिटता जा रहा है" में वह अस्पृश्यता निवारण के कांग्रेस के कार्यक्रम की प्रशंसा करते हैं-"कांग्रेस में अछूत भी हैं, सछूत भी, इसाई भी हैं, मुसलमान भी हैं और सिख भी हैं।"[119] साम्प्रदायिकता के साथ ही स्त्री स्वातंत्र्य का भार भी वह कांग्रेस के सिर लदा देखते हैं-"पर्दा प्रथा उठती जाती है। कांग्रेस ने माताओं और बहनों को राष्ट्र के कर्मक्षेत्र में ला खड़ा किया है।"[120] अतः गांधी जी में तथा कांग्रेस में अपने पूर्व स्वीकृत आर्य समाज के सुधारवादी कार्य की परिणति देखकर ही प्रेमचंद कांग्रेस संस्था और गांधी जी के प्रति आकर्षित होते हैं। गोखले से उनका सैद्धान्तिक परिचय इसी भावभूमि पर होता है। हृदय परिवर्तन और समझौतावाद गोखले और गांधी जी के प्रभाव से प्राप्त हुआ क्योंकि दोनों आदर्शवादी थे। प्रेमचंद भी स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को दूर कर उसे सुधारा जा सकता है। इसी तरह मनुष्य से समाज का सुधार भी संभव होता है। एक लेख "जीवन में साहित्य का स्थान" में लिखते हैं-"मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए।"[121] लेकिन वह कोरे आदर्शवाद के स्थान पर आदर्शोन्मुख यथार्थ की वकालत करते हैं। तात्पर्य यह कि प्रेमचंद सुधारवाद का समर्थन कोरे आदर्शवाद के माध्यम से नहीं, आदर्श और यथार्थ दोनों के माध्यम से करते हैं और यह सुधारवादी आग्रह गांधी और कांग्रेस से नहीं बल्कि उसके पूर्व ही आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न हो जाता है।

अब हम उपन्यास कहानियों में तथा वैचारिक लेखन में सुधारवादी तत्वों को रेखांकित करेंगे।

सेवासदन वेश्या समस्या का सुधारवादी हल प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। यद्यपि इसके सम्पूर्ण फलक में "नारी की सामाजिक शोषण से मुक्ति" की आकांक्षा विद्यमान है; ध्यान आकर्षित करता है। प्रेमचंद वेश्या निवारण का समाधान आर्य समाज द्वारा निर्देषित आश्रम निर्माण द्वारा करते हैं। यह समाधान युगीन मांग के तहत प्रस्तुत करते हैं किन्तु ध्यान से देखें तो इससे असहमति भी जाहिर करते हैं। यद्यपि सुमन शहर की दालमण्डी से निकालकर अलईपुर में बसा दी जाती है फिर भी अस्पृश्य और अनादृत ही समझी जाती है, यही नहीं; अलईपुर में वेश्याएं संयमपूर्ण जीवन नहीं बिता सकती क्योंकि वहाँ भी सामन्तों, वेश्याओं की घुसपैठ है। प्रेमचंद एक ओर समस्या का आदर्शवादी समाधान करते हैं और दूसरी ओर समाधान पर ही दूसरी यथार्थ समस्या पैदाकर समाधान की कमजोरी स्वीकार करते हैं। क्योंकि समूची सामाजिक भावना को पवित्र किए बिना समाधान हवाई हो जाता है। वह धर्म को धूर्तों का अड्डा स्वीकार करते हैं; जहाँ भोली बाई का मुजरा होता है और महन्त वेश्या व सामन्त से धन्य होते हैं। पारिवारिक परिवेश भी दूषित होने के कारण सुमन को बचपन से ऐसी महिलाओं का सान्निध्य प्राप्त होता है जो पति को इन्द्रिय भोग का साधन मात्र समझती हैं। पति की मानसिकता भी शंकालु होने के कारण सुमन पति गजाधर से उपेक्षित होती है। पद्मसिंह शर्मा जैसे सामाजिक कार्यकर्ता भी अपना व समाज का अन्याय स्वीकार करते हैं-"यह हमारी ही कुवासनाएं, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएं हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण कर लिया है।"[122]" सामन्त कुंवर अनिरूद्ध सिंह भी स्वीकार करते हैं-"हमारे शिक्षित भाईयों की बदौलत दालमण्डी आबाद है। जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वतखोर कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर सम्मान के पात्र हों वहां दालमण्डी क्यों न आबाद हो।"[123]" ये सारे पात्र जो वेश्यावृत्ति के हेतु हैं, स्वीकार करते हैं कि इसका समाधान सुधार से नहीं, सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने से होगा।

सदनवादी तरीका इसीलिए प्रेमचंद को निष्कलंक नहीं लगता क्योंकि "सार्वजनिक संस्थाएं भी प्रगतिशील व्यक्तियों की मोहताज होती है।"[124]" प्रेमचंद स्पष्ट संकेत देते हैं कि बिना सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा बदले हुए सुधार असम्भव है। यही प्रेमचंद की सोच का केन्द्रीय बिन्दु है जो सेवासदन से गोदान तक फैलाव पाता है। लेकिन "सेवासदन" में ढांचे को बदलने का आग्रह सुधारवादी आग्रह के समक्ष दबा-दबा सा है। कदाचित इसीलिए

उपन्यास के पात्र अन्ततः हृदय परिवर्तन करने को बाध्य होते हैं। सुधारवादी आग्रह के तहत प्रेमचंद तमाम पात्रों की मनोवैज्ञानिकता को विखण्डित कर देते हैं। गजानन्द जैसे सिद्ध महात्मा भी; जो वेश्या नृत्य के समय सांसारिक नृत्यशाला का यथार्थ दर्शन कराते हैं, जिसमें जमींदारों द्वारा शोषित किसानों का नर्तन, भूख से विकल अनाथ बालकों का नृत्य आदि शामिल है, अंततः हृदय परिवर्तन कर गृहस्थ बनने का संकल्प लेते हैं। यह सुधारवादी आग्रह के समक्ष मनोवैज्ञानिक यथार्थ की क्रूरतम हत्या है तथा लेखक पर पड़े आर्य समाजी प्रभावों का दबाव भी और संभवतः यही युगीन सत्य भी था।

प्रेमचंद आश्रमवादी हल से ही सशंकित नहीं हैं, समाज सुधारकों पर भी शंकालु है। डॉ0 श्यामा चरण के स्वर में ही सशंकित विट्ठदास की खिल्ली उड़ाते हैं। संकीर्ण सुधारवादियों के कार्य की निन्दा इसी तरह विवेकानन्द ने किया था, यह बात प्रेमचंद भूलते नहीं। वह ''सेवासदन'' में वेश्याओं का निकाह कराके, उनकी पुत्रियों के लिए अनाथालय का निर्माण कराके तथा हृदय परिवर्तन द्वारा शहर में वेश्याओं के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके समाधान की ओर बढ़ते हैं, किन्तु तुरन्त ही सुमन के मन में ''वेश्या पुत्रियों के विवाह की शंका'', उठाकर ऐसे आश्रमवादी सुधारवाद से असहमति भी जाहिर करते हैं-''उद्योग यह होना चाहिए कि उन कुप्रथाओं का सुधार किया जाय जिनके कारण ऐसी समस्याएं उत्पन्न होती हैं।"[125]" कुप्रथाओं का कारण अनमेल विवाह है। सुमन और भोली बाई दोनों अनमेल विवाह का शिकार होती हैं। सुमन का पति स्वभाव से अनमेल है और भोली का बूढ़ा पति अवस्था से अनमेल है। अनमेल विवाह की कुप्रथा मजबूरी से उत्पन्न हुई है जिसके मूल में दहेज नामक बड़ी कुप्रथा है। दहेज के अभाव में ही सुमन का विवाह गजाधर से होता है। अतः प्रेमचंद सारी कुप्रथाओं को क्रमशः समेटते हुए कुप्रथाओं का कारण आर्थिक असमानता को घोषित करते हैं। विट्ठलदास के शब्दों में-''स्त्रियों को अगर ईश्वर सुन्दरता दे तो धन से वंचित न रखे। धनहीन सुंदर चतुर स्त्री पर दुर्व्यसन का मंत्र शीघ्र ही चल जाता है।"[126]" एक लेख में भी प्रेमचंद लिखते हैं-''वेश्यावृत्ति का मूल कारण आर्थिक संकट है जो बाद में मानसिक दुर्बलता का रूप धारण कर लेता है। जब किसी के पास इतना धन नहीं कि वह उसे विलासिता में उड़ा सके तो वेश्यावृत्ति अपने आप ही लुप्त हो जाएगी।"[127]" यहाँ वैयक्तिक पूंजी का विरोध और साम्यवाद का स्वीकार है।

अनमेल विवाह रोकने का एक सुधारवादी हल प्रेमचंद और भी प्रस्तुत करते हैं, वह है शान्ता और सदन का प्रेम विवाह। यह विवाह आर्य समाज के प्रभाव से है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुणकर्म, स्वभाव की समानता के आधार पर विवाह करने का तर्क दिया है और सदन गुण-कर्म और स्वभाव में समान शान्ता को अपनाकर आर्य समाज के सुधार से अनुप्राणित होता है।

आर्य समाज ह्वदय की पवित्रता पर बल देता है, वेश्या के उद्धार के लिए संयम और पवित्रता आवश्यक गुण मानता है। सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार-"शूद्र के पात्र तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपातकाल के बिना न खावें तथा जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे तो बराबर सब आर्यों के साथ खाने में कुछ भी हानि नहीं।"[128] वेश्यालय में खान-पान में शुद्धाशुद्ध का विचार न होने के कारण ही प्रेमचंद ने सुमन को पवित्र बनाये रखा-"सुमन अपने हाथ से ही भोजन बनाती थी। पतित होकर भी खान पान में विचार करती थी।"[129]

विट्ठलदास की तरह सदन भी सुधारवादी युवक नेता है किन्तु वर्गीय स्वार्थवश शोषण चक्र से अलग नहीं होना चाहता। एक ओर प्रेम विवाह कर दहेज उन्मूलन का आदर्श प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर स्वार्थ पर वाह्य हस्तक्षेप होते देख बौखला उठता है-"मालूम हुआ कि कुंवर अनिरूद्ध सिंह के कृषि सहायक सभा का उद्देश्य होगा किसानों को जमींदारों के अत्याचारों से बचाना। सदन के मन में अभी कृषकों के प्रति जो सहानुभूति उत्पन्न हुई थी वह मन्द पड़ गयी। वह जमींदार था और कृषकों पर दया करना चाहता था पर उसे मंजूर न था कि कोई उसे दबाये और किसानों को भड़का कर जमींदारों के विरुद्ध खड़ा कर दें।"[130] सदन अन्य सुधारवादी नेताओं की तरह दोहरे व्यक्तित्व का नेता है-अमरकांत, चक्रधर और प्रेमशंकर की तरह। सदन के चरित्र का यह अन्तर्विरोध है जहाँ आदर्श पर यथार्थ भारी पड़ने लगता है।

प्रेमचंद म्युनिसिपैलिटी का चित्रण करते हैं जिसमें साम्प्रदायिक सद्भावनाएँ बनाये रखने के लिए हिन्दू-मुसलमान सदस्यों का औसत दस और आठ रखते हैं। यद्यपि सदस्यों को सामन्त, व्यापारी, धनाधीश ही रखकर यथार्थ चित्र उपस्थित करते हैं किन्तु शोषक सदस्यों का अंत में ह्वदय परिवर्तन कर सुधार कर देते हैं। इसी तरह जमींदार सदन, पद्मसिंह और अनिरूद्ध सिंह का ह्वदय परिवर्तन होता है, वे जनसेवा का व्रत लेते हैं। राजकर्मचारियों तथा पुलिस का

सुधार भी इसी आस्था के तहत होता है। धार्मिक रूढ़िवादिता और धर्माचार्यों के माध्यम से सामाजिक अनाचार का चित्र प्रस्तुत कर धार्मिक रूढ़ियों के परिष्कार का संकेत देते हैं। जैसा "देवस्थान रहस्य" और वरदान में भी प्रस्तुत करते हैं। सभी सत्-असत् पात्रों का अंत में हृदय परिवर्तन कर आश्रम निर्माण करने के पीछे प्रेमचंद की सुधारवादी आस्था दृष्टिगत होती है।

इस काल की कहानियाँ भी ऐतिहासिक मर्यादा प्रेम का राग अलापने वाली, हृदय परिवर्तन की आदर्शवादी सुधारवादी कहानियाँ हैं। "जुगनू की चमक" में शरणागत रक्षा केन्द्रीय बिन्दु है। "धोखा" में पतिव्रता राजकुमारी का चित्रण है। "दो भाई" में पारिवारिक विघटन का चित्र है साथ ही दहेज और कर्ज की समस्या उठायी गयी है। "पंच परमेश्वर" परस्पर सौहार्द, सत्य न्याय और कर्तव्य की ओर लौटाने की कहानी है। "सज्जनता का दण्ड" में रिश्वत की समस्या है। 'सेवासदन' के दरोगा कृष्णचन्द्र की तरह, इंजीनियर सरदार शिवसिंह भी ईमानदार बने रहते हैं। प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-"रिश्वत लोक और परलोक दोनों का ही सर्वनाश कर देती है।"[131] "घमण्ड का पुतला" के जमींदार सज्जन सिंह आदर्श के प्रतीक हैं।

1917 ई0 की कहानियाँ भी आदर्शवादी सुधारवादी हैं। "उपदेश" के जमींदार गरीबों की पक्षधरता करते हैं और उपदेशी नेता की कलई भी खोलते हैं। इसमें "सोशल रिफार्म लीग" के खोखलेपन का चित्रण है। 'ज्वालामुखी' पश्चिमी शिक्षा का विरोध है और धार्मिक नेता की कुवासनाओं की भर्त्सना गयी है। "महातीर्थ", "मर्यादा की वेदी", "ईश्वरीय न्याय" और "दुर्गा का मन्दिर" में भी सुधारवादी आग्रह है।

इसी समय बच्चों के लिए भी प्रेमचंद आदर्शवादी सुधारवादी कहानियाँ लिख रहे थे। 16 दिसम्बर 1915 ई0 के पत्र में निगम को लिखा-"बच्चों के लिए काबिल लिट्रेचर होना जरूरी है। पहले मैं एक किताब लिखता हूँ जिसमें अखलाकी, तारीखी, जुगराफी कहानियाँ होंगी।"[132] सांस्कृतिक लेखों में भी सुधारवादी आग्रह झलकता है। लेख "हिन्दू सभ्यता और लोकहित" तथा "महाभारत और रामायण", में क्रमशः पश्चिमी सभ्यता का विरोध और संस्कृत साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के गुणों पर प्रकाश डाला है। इन लेखों से वह जनमानस का हृदय परिवर्तन करना चाहते हैं।

"प्रेमाश्रम" का तेवर यथार्थवादी है किन्तु अंत गांधीवादी समझौते के सिद्धान्त पर होता है क्योंकि सभी शोषकों और अधर्मियों का हृदय परिवर्तन

हो जाता है। जमींदार मायाशंकर वर्गीय स्वार्थ का त्याग कर गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का अनुयायी हो जाता है। समाजवादी प्रभाशंकर भी जमीदारी प्रथा के शोषण का विरोध करता है पर जमींदार की निन्दा नहीं करता। ध्यातव्य है कि गांधी भी जमींदारों के हृदय परिवर्तन की बात करते हैं; न कि उनके अधिकार हनन की। सुधारवादी हल प्रस्तुत कर प्रेमचंद जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से कतरा जाते हैं। इसीलिए प्रेमशंकर का निर्माण कर क्रांति की संभावना पर लगाम लगा देते हैं। यह गांधी जी के सुधारवाद का सुनियोजित तरीका है।

अन्य अनेक सुधारवादी कार्य सम्पादित होते हैं। विदेश यात्रा पर प्रायश्चित करने का विरोध दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द और गांधी जी करते हैं। प्रेमशंकर भी प्रायश्चित की खिल्ली उड़ाता है और प्रायश्चित करवाने पर उद्यत अपने परिवार के सदस्यों का अंत में हृदय परिवर्तन कर देता है। इसी तरह मद्यसेवन और जाति-पाँति का विरोध भी करता है। प्रायश्चित के लिए वह कहता है-"क्या तुम्हें विश्वास है कि कई नदियों के नहाने से, कई लकड़ियों के जलाने से, घृणित वस्तुओं के खाने से, ब्राह्मणों को खाना-खिलाने से मेरी अपवित्रता नष्ट हो जायेगी, खेद है।"[133] एक लेख में प्रेमचंद ऐसे प्रायश्चित को अन्धविश्वास का नाम देते हैं। "विदेश यात्रा और प्रायश्चित" नामक लेख में लिखते हैं-"एक जमाना था कि भारत के भिक्षुओं ने विदेश यात्रा करके अपने देश और धर्म का गौरव बढ़ाया था। फिर पाखण्ड का यह चक्र चला कि विदेश जाना पाप हो गया। उसके प्रायश्चित स्वरूप गोबर खाते हैं, सिर मुड़ाते हैं और भोज देते हैं। इसी पाखण्ड ने और पाखंडियों ने भारत को चौपट किया।" मद्य सेवन का विरोध अनेक कहानियों में तथा उपन्यासों में प्रकट किया है। "देवस्थान रहस्य" में शराब भांग की मण्डली का चित्रण है तथा सेवासदन, रंगभूमि कर्मभूमि, कायाकल्प में इसकी बुराइयों पर प्रकाश डाला गया है। महापुरुषों की जीवनियों में भी इसकी चर्चा है "रणजीत सिंह" की जीवनी में लिखा-"महाराज तो गजब के पीने वाले थे। इस कारण वे लकवे के शिकार हुए।"[134] इसी तरह "अकबर महान" की जीवनी में लिखा-"अकबर ने शराब-ताड़ी आदि पर कर लगाया।"

दरोगा दयाशंकर को उपदेश द्वारा सुधारा जाता है-"तुम्हें वचन देना पड़ेगा कि अब किसी गरीब को न सतायेंगे, बेगार न लेंगे।"[135] डॉ० प्रियनाथ भी शोषण का अंत सहज ही कर देते हैं। प्रेमाश्रम में तंत्र-मंत्र की साथकता

तथा ईश्वरवाद का नारा बुलन्द किया गया है और साथ ही अपरिपक्व तंत्र-मंत्र प्रयोग द्वारा क्षति की सम्भावना व्यक्त की गयी है। राय कमलनान्द का सफल प्रयोग प्रदर्शन थियोसोफिकल प्रभाव है। शिक्षा का उद्देश्य आदर्श स्थापन है। ज्ञानशंकर की अनैतिकता का कारण पश्चिमी शिक्षा, धर्म विहीन शिक्षा को माना गया है। अतः कमलानंद के शब्दों में-"विद्या का उद्देश्य यह होना चाहिये कि मनुष्य में धैर्य और संतोष का विकास हो, ममत्व का दमन हो, हृदय उदार हो।"[136] आर्य समाज की शिक्षा पद्धति का प्रेमचंद स्वागत करते हैं। अपने भाषण में उन्होंने कहा-"अगर विद्या हमें आदर्श के लिए सीना खोलकर खड़ा होना न सिखाए तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी है।"[137]

प्रेमाश्रम में गायत्री के माध्यम से विधवा समस्या भी उठायी गयी है। विधवा भी सम्पन्न और बुद्धिमती हो किन्तु पुरूष का सान्निध्य प्राप्त कर उन्मुक्त आचरण करने पर वह शोषण का शिकार हो जाती है। अतः उसे सीमा में रखना चाहिए। ज्ञानशंकर और ईजाद हुसेन के माध्यम से धार्मिक पाखण्ड का चित्रण किया गया है और अंत में उसका परिष्कार भी।

उपन्यास के अंत में प्रेमाश्रम का निर्माण करते हैं जिससे हृदय परिवर्तन किए हुए लोग तथा नैतिक आचरण करने वाले लोग राज्यसभा के सदस्य मनोनीत होते हैं। यह आश्रम गांधी के आदर्श आश्रम का प्रतिरूप हैं। माया शंकर इसका नेतृत्व करता है और प्रेमशंकर जिस सहकारी खेती का क्रियान्वयन करता है वह सुधारवादी आग्रह अधिक लगता है; समाजवादी सहकारिता नहीं, लेकिन यही क्या कम है कि प्रेमचंद तत्कालीन भारतीय समाज और सामंती औपनिवेशिक शोषण का ईमानदारी पूर्वक खाका खींचते हैं और बीच-बीच में वैचारिक आग्रह भी प्रस्तुत करते हैं। सामंतों के विरुद्ध संघर्ष का सूत्रपात इसका उदाहरण है।

इस काल की ज्यादातर कहानियों में भी सुधारवादी रूप पाया जाता है। 1918 की कहानी "वासना की कड़ियाँ", विजय तथा शांति में क्रमशः वासना का दुखद अन्त और सुधार, भारतीय संस्कृति के समक्ष पाश्चात्य संस्कृति की निन्दा और नारी स्वाधीनता की बात उठायी गयी है। 1919 की कहानी 'विमाता', 'बैंक का दीवाला', 'दफ्तरी', 'इज्जत का खून' और 'अनिष्ट शंका' में भी यही बात है। "बैंक का दीवाला" के कुंवर साहब सुख-ऐश्वर्य का त्याग कर जन शोषण का अंत करते है। "इज्जत का खून" में जाति-मर्यादा की रक्षा और विवाह के आदर्श का चित्रण है। "दफ्तरी" में पुनर्विवाह की

दुर्बलताओं पर प्रकाश डाला गया है। "अनिष्ट शंका" में ज्योतिष शास्त्र की मिथ्यावादिता पर चोट की गयी है।

"रंगभूमि" गांधीवादी सिद्धान्तों को वहन करने वाली आदर्शवादी रचना हैं। सूरदास गांधी का प्रतिरूप लगता है जिसके माध्यम से प्रेमचंद तमाम आदर्शों की स्थापना करते हैं। वह गांधी जी की तरह ही औद्योगीकरण का ही विरोध नहीं करता बल्कि उसके प्रभाव से अनैतिकता वृद्धि की आशंका भी करता है। वह भारतीय संस्कृति-सभ्यता पर औद्योगीकरण के फलस्वरूप विकसित होती पाश्चात्य सभ्यता के कुप्रभावों का विरोध करता है। धर्म पर अधर्म के आक्रमण की निंदा करता है। गांधी की तरह वह भी कहता है-"साहब किरस्तान हैं, धरमशाले में तम्बाकू का गोदाम बनाएंगे। मंदिर में उनके मजदूर सोयेगें। कुएं में उनके मजदूरों का अड्डा होगा। बहू बेटियाँ पानी भरने न जा सकेंगी, ताड़ी शराब का भी तो परचार बढ़ जाएगा। कसबियां भी तो आकर बस जाएंगी। परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे। कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी की लालच में दौड़ेंगे। बुरी-बुरी आदत आचरन अपने गांव में फैलायेंगे। दिहातों की लड़कियाँ मजूरी पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है।"[138] कारखाने के मजदूरों द्वारा गांवों में अधर्म पूर्ण आचरण करने से सूरदास चिन्तित है। वह सुधार के लिए मि० जानसेवक से कहता है-"आप पुतलीघर के मजदूरों के लिए घर क्यों नहीं बनवा देते। हमारे मुहल्ले में किसी ने औरतों को नहीं छेड़ा था, न कभी इतनी चोरियां हुई थीं, न इतने धड़ल्ले से जुआ हुआ, न शराबियों का इतना हल्ला रहा।"[139] अपने एक लेख में प्रेमचंद ऐसी आशंका जाहिर करते हैं-"शिल्प और उद्योग यहाँ सदैव कृषि के नीचे ही रहेगा। अतएव हम अपने यहाँ बड़े-बड़े कारखाने कायम नहीं कर सकते। क्योंकि इससे मजूर लोग शहर में बसने लगते हैं और नाना प्रकार की आदतों में पड़कर अपनी शरीर और आत्मा दोनों का ही सर्वनाश करते हैं। मादक वस्तुओं का त्याग करना स्वराज्य प्राप्ति का साधन है। यह अधर्म का धन है।"[140] तात्पर्य यह कि इस विरोध के माध्यम से प्रेमचंद मद्य निषेध चाहते हैं। अनेक पात्र भैरों, जगधर आदि ताड़ी-शराब पी कर अनैतिक कार्य करते हैं। यहाँ तक कि मिठुआ जैसे किशोरों का समाज भी शराब-ताड़ी पीकर मुहल्ले में ही अनैतिक कार्य करता है। लेकिन औद्योगिक पूँजीवाद तथा उसके कुपरिणामों के प्रति चिंतित होते हुए वह मानते हैं कि इससे बचा नहीं जा सकता।

प्रेमचंद अस्पृश्यता निवारण की पहल भी करते दिखायी देते हैं। पाण्डेपुर में मंदिर में जुटने वाली संगत में सूरदास चमार भी महन्त दयागिरि के समान आदर पाता है और सभी जातियों के लोग बैठकर भजन गाते हैं। इसमें भैरव व जगधर पासी है, सूरदास चमार, बजरंगी अहीर, नायकराम पण्डा तथा दयागिरि ब्राह्मण। इस संगत में हिन्दू जाति के संगठन का भी संकेत करते हुए प्रेमचंद इसी माध्यम से सुधार चाहते हैं। साम्प्रदायिक एकता की बात प्रभु सेवक के माध्यम से उठायी गयी है-"हमारा उद्धार देशवासियों से भ्रातृत्व रखने में हैं। आखिर हम भी तो इसी जननी की सन्तान है।"[141]

इसी तरह सेवा समिति का गठन करके सुधार कार्य सम्पन्न कराये गये है। कुंवर भरत सिंह, जाह्नवी, प्रभुसेवक, विनय, इन्द्रदत्त और इंदु आदि इस समिति में क्रियात्मक सहयोग देकर दुर्भिक्ष आदि के समय जन सेवा करते हैं। एक टिप्पणी "सेवा समिति का सराहनीय कार्य" में प्रेमचंद लिखते हैं-"विगत चन्द्र ग्रहण के अवसर पर यात्रियों की सेवा यश के अनुकूल है।"[142]

जनसंख्या वृद्धि को रोकने की बात भी प्रेमचंद करते हैं-"हमारे देश में जनसंख्या जरूरत से ज्यादा हो गयी है। हमारी जननी संतान वृद्धि के भार को अब नहीं सह सकती। भोजन का अभाव ही हमारे नैतिक और आर्थिक पतन का मुख्य कारण है।"[143] विचारात्मक लेखन में प्रेमचंद संतान वृद्धि का बार-बार विरोध करते हैं। मित्र जैनेन्द्र को एक पत्र में लिखा-"मैं तो पुराने ख्याल का आदमी हूँ। दो पुत्रों तक तो बधाई दूँगा। इसके बाद जरा सोचूँगा।"[144] "सन्तान निग्रह और प्राकृतिक नियम" में वह दो उपाय बताते हैं-"सन्तान निग्रह आवश्यक वस्तु है अगर ब्रह्मचर्य द्वारा हो सके तो सबसे उत्तम लेकिन वह न हो सके तो हम कृत्रिम साधन को भी बुरा नहीं समझते।"[145]

तंत्रवाद पर विश्वास प्रेमचंद थियोसोफिकल सोसायटी के प्रभाव स्वरूप ही व्यक्त करते हैं जैसा कि प्रेमाश्रम में है। "रंगभूमि" में भी विनय द्वारा जड़ी-बूटियों से तांत्रिक उपाय कर सोफिया का प्रेम विवाह यद्यपि सम्पन्न नहीं कराते लेकिन सारी सामाजिक परिस्थितियाँ अनुकूल बनाकर एवं पारिवारिक सहमति दिलाकर प्रेमचंद अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन करने लगते हैं। वृद्ध विवाह और बहु विवाह की निरर्थकता का सजीव चित्रण किया गया है। ताहिर के पिता इसके शिकार हुए थे। अतः ताहिर को उसका कुफल मिलता है। स्पष्ट संकेत है कि बहु विवाह और वृद्ध विवाह पारिवारिक सुख शांति में

बाधक हैं। इस कुप्रथा का सुधार अपेक्षित है। यद्यपि उपन्यास का अंत गांधीवादी अनास्था के ऊहापोह की स्थिति में होता है किन्तु आदर्श का आग्रह उन्हें सुधारवाद से जोड़े रखता है। सूरदास मर कर सबका हृदय परिवर्तन करा देता है। सभी परस्पर सौहार्द और एकता के सूत्र में बंधने तथा आपसी वैमनस्य समाप्त करने की ओर उन्मुख होते हैं। लोग अनेक अनैतिक कार्यों से विमुख होते दिखाई देते हैं।

इस काल की कहानियाँ ज्यादातर आदर्शवादी-सुधारवादी हैं। 1921 ई0 की कहानी "प्रारब्ध" में भाग्यवाद और संयोग का चित्रण है। "त्यागी का प्रेम" जाति बन्धन, विधवा जीवन तथा प्रेम विवाह की समस्याओं से लैस है। 1922 की कहानियों में 'प्रतिशोध' प्रेम विवाह की सम्भावना, पुलिस व्यवस्था के सुधार और अस्मत बचाने को तत्पर नारी के साहस की कहानी है। "दु:साहस" में मद्य निषेध और स्वदेशी आंदोलन का चित्रण है "पूर्व संस्कार" में ज्योतिष तथा भाग्य पर विश्वास व्यक्त किया गया है। 'दुराशा' पर्दा प्रथा पर व्यंग्य और सुधार की कहानी है। इसके अतिरिक्त 'विध्वंस', 'मूठ', 'स्वत्वरक्षा', 'अधिकार चिन्ता', 'आदर्श विरोध' और 'चकमा' में एक साथ कई कुप्रथाओं के सुधार को रेखांकित किया गया है। 1923 की कहानियों में सत्याग्रह में कांग्रेसी नेता पर व्यंग्य और नैतिक सुधार का आग्रह है। इसमें पुलिस प्रशासन तथा मोटेराम शास्त्री जैसे धार्मिक नेताओं के सुधार का संकेत भी है। 1924 की कहानियाँ भी सुधारवादी आग्रह लिये हुये हैं। "उद्धार" में अनमेल विवाह की समस्या और समाधान है। "नैराश्यलीला" में विधवा समस्या का समाधान समाज सेवा के माध्यम से प्रस्तुत है। "कौशल" में आभूषण प्रियता से उत्पन्न कठिनाइयों का चित्रण है। "परीक्षा" में स्त्री पतन पर व्यंग्यात्मक चोट है। "मुक्तिधन" साम्प्रदायिक समस्या को रेखांकित करती है। "क्षमा" में शरणागत रक्षा, मुक्तिमार्ग में शोषक का हृदय परिवर्तन, नवी का नीति निर्वाह में न्यायशीलता तथा सैलानी बन्दर में स्वामिभक्ति और लालच-परित्याग की अनुगूँज है।

इसी समय "कर्बला" नाटक भी लिखा गया जिसमें साम्प्रदायिक सद्‌भाव को लक्ष्य बनाया गया है। इसके पश्चात "कायाकल्प" का लेखन भी इसी उद्देश्य से प्रेमचंद ने किया। "कायाकल्प" में प्रेमचंद कई सुधारों की ओर बढ़ते दिखायी देते हैं। "कायाकल्प" मनुष्य की वाहय और आन्तरिक रूपान्तरण की गाथा है। सत्य, न्याय, प्रेम, त्याग और सेवा, भारतीय संस्कृति

के गुण हैं, जिसका प्रेमचंद सदैव राग अलापते हैं। 'देवप्रिया' के माध्यम से उसी संस्कृति की पहचान कराते हैं। जब प्रेम में वासना का आवरण पड़ जाता है तो मोक्ष में बाधक होता है। 'देवप्रिया' के माध्यम से उसी वासना के त्याग द्वारा प्रेम प्राप्ति का आदर्श सन्निहित है। वासना ही 'देवप्रिया' को विषकन्या बना देती है। मरणासन्न शंखधर कहता है-"प्रिये फिर मिलेंगे। यह लीला उस दिन समाप्त होगी जब प्रेम में वासना न होगी।"[146] अहिल्या के कष्ट निवारण के लिए वागीश्वरी भी यही सुझाव देती है-"जब तक राज्य और धन का मोह न छोड़ दोगी, उस त्यागी पुरुष के दर्शन न होंगे।"[147] प्रेमचंद दोनों नारियों का हृदय परिवर्तन कराते हैं। दोनों वासना और विलास त्याग कर सुखमय जीवन व्यतीत करने लगती हैं। यह सुधारवाद गांधी जी के आध्यात्मिक दर्शन से मेल खाता है।

दूसरी प्रमुख समस्या प्रेमचंद साम्प्रदायिकता की उठाते हैं। चक्रधर गोवध से उत्पन्न साम्प्रदायिक दंगों और वैमनस्य का विरोध करता है। जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों की सुख-शांति भंग होती है और गो-रक्षा के लिए दोनों एक दूसरे का वध करते हैं। यद्यपि इस वैमनस्य का कारण ख्वाजा महमूद और यशोदा नंदन जैसे नेता साम्प्रदायिक नेताओं की स्वार्थपरता को मानते हैं "हमारी मरजी के खिलाफ कोई दैवी ताकत हमें लड़ाती रहती है।" एक लेख में वे लिखते हैं-"धार्मिक आवेशों को भड़काने का इल्जाम सबसे अधिक कौंसिल की मांग करने वालों की गर्दनों पर है चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। अगर यही रफ्तार है तो स्वराज्य मिल चुका।"[148] महापुरुषों की जीवनियों में भी यही सद्भाव सन्निहित है। यह सुधारवादी तरीका है। अकबर महान की जीवनी में उन्होंने अकबर को असाम्प्रदायिक बताया। मानसिंह की जीवनी में उन्हें दो परस्पर विरोधी गुटों को संगठित करने वाला राजा कहा। जहाँ मो० बहीउद्दीन सलीम और बद्रुद्दीन तैयब जी के साम्प्रदायिक सद्भाव की प्रशंसा किया, वहीं सर सैयद अहमद की निंदा भी की-"सर सैयद ने उस समय उदारता से काम लिया होता तो हिन्दुस्तान की हालत कुछ और होती।"[149] वह हिन्दुओं की निन्दा भी करते हैं और सुधार का मार्ग बताते हैं। एक पत्र में निगम को लिखा-"हिन्दू-मुस्लिम फिसादात का सिलसिला जारी है। हिन्दू सभा दिल्ली में भी शायद समझौता न होने दे।"[150] उपन्यास के अन्त में प्रेमचंद पंचायत की स्थापना कर सुधारवादी समाधान देते हैं।

1925 की कहानियाँ "मंदिर और मस्जिद" और "हिंसा परमो धर्मः" में साम्प्रदायिकता की खिल्ली उड़ाते हुए दोनों के नेताओं को दोषी ठहराया है और इसका समाधान भी प्रस्तुत किया है-"वह मुबारक दिन कब होगा जब हमारी पाठशाला से इतिहास उठा दिया जाएगा।"[151] प्रेमचंद विद्यालय में ऐसे इतिहास का बहिष्कार करने की सलाह देते हैं जिसमें हिन्दू-मुसलमान के पारस्परिक वैमनस्य की गाथा है।

प्रेमचंद तीसरा सुधारवादी हल प्रेम और विवाह के संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। "कायाकल्प" में दीवान हरिसेवक और नौकरानी लौंगी का प्रेम आदर्श है। बदनाम करने के बाद हरिसेवक उसको दुत्कार कर बेसहारा नहीं छोड़ते बल्कि जीवन निर्वाह के लिए अपनी सम्पत्ति लिख देते हैं। "गोदान" में मातादीन और सिलिया का प्रेम यही समाधान पाता है। ध्यातव्य है कि समाज ऐसे समान गुण-कर्म-स्वभाव वाले प्रेम विवाह की अनुमति देता है। दूसरा सफल प्रेम मनोरमा और चक्रधर का है। प्रेमी के सामाजिक कार्यों में मनोरमा धन का सहयोग देने के लिए राजा विशाल सिंह से विवाह कर लेती है। यद्यपि राजा के मरणोपरान्त वह चक्रधर के विवाह अनुरोध को नकार कर वासना विहीन प्रेम की सार्थकता भी सिद्ध करती है। "कर्मभूमि" में अमरकांत और मुन्नी का प्रेम भी ऐसा ही है। कहानियों में 'सती', 'कामनातरू', 'बहिष्कार', 'लैला', 'प्रेमसूत्र' 1925 में लिखित इसी भाव भूमि वाली कहानियाँ हैं। बहुविवाह प्रथा का विरोध करते हुए समाधान प्रस्तुत किया गया है। राजा विशाल सिंह से मनोरमा कहती है-"आप को बहुत से विवाह करने का दण्ड मिल रहा है।" निर्मला में तोताराम भी इसके कुपरिणामों की ओर इंगित करते हैं-"मुहल्ले में सैकड़ों लोगों ने दूसरी, तीसरी, चौथी यहाँ तक कि सातवीं शादी की हैं मेरे पिता जी ने पचपनवें वर्ष में विवाह किया था।" "गोदान" के झिंगुरी सिंह बुढ़ापे में दो जवान पत्नियों से साथ कलहमय पारिवारिक जीवन बिताते हैं। "रंगभूमि" में ताहिर अली का परिवार भी विमाताओं के कारण अशांतिमय रहता है। कहानी "बहिष्कार" और "अग्नि समाधि" में इसका कुपरिणाम चित्रित है। कुपरिणाम दिखाकर प्रेमचंद सुधार की ओर प्रेरित करते हैं।

प्रेमचंद चक्रधर जैसे गांधी मार्का नेता के सुधार का संकेत भी करते हैं। समाजवाद की बात करने वाला चक्रधर राजा विशाल सिंह का दामाद बन कर क्रूर सामन्तों सा आचरण करने लगता है। प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि धन-वैभव

सद्बुद्धि वाले मनुष्यों का कायाकल्प कर देता है। इसका सुधार भी हृदय परिवर्तन द्वारा धन वैभव से तिलांजलि दिला कर किया जाता है।

इसके अतिरिक्त रिश्वत का विरोध, पुलिस की भर्त्सना, प्लेग के समय सेवा समिति के कार्य तथा देशप्रेम के लिए तत्पर जनता के मनोभावों को प्रेमचंद विषय वस्तु बनाते हैं और रिश्वती कर्मचारियों तथा पुलिस के लोगों का सुधार करते हैं।

'निर्मला' यथार्थवादी रचना है। अनमेल विवाह और दहेज से उत्पन्न त्रासदी को अंत में सुधारवाद से जोड़ा गया है। प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि दहेज के अभाव में लोग कुँवारी कन्या को किसी धनवान बूढ़े के गले मढ़ देते हैं। लेकिन स्त्री को समवयस्क गरीब पति की अपेक्षा अनमेल धनवान पति सुख नहीं दे सकता और स्त्री का जीवन नारकीय हो जाता है क्योंकि टट्टू और अरबी घोड़े को एक में नहीं जोता जा सकता। अथवा निर्मला की मानसिकता और छटपटाहट जिसमें पति तोताराम पिता समान दिखायी देता है, और भी, निर्मला पर लांक्षन लगाता है। ये सारी स्थितियां धन को नगण्य कर देती है क्योंकि स्त्री का समवयस्क पति ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है। निर्मला इसका समाधान देती हुई कहती हैं-''बच्ची को आपकी गोद में छोड़ जाती हूँ अगर जीती जागती रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा। चाहे कुँवारी रखियेगा चाहे विष देकर मार डालिएगा पर किसी कुपात्र के गले न मढ़ियेगा।''[152]

दहेज का दूसरा सुधारवादी समाधान डॉ0 सिन्हा प्रस्तुत करते हैं जो पहले दहेज के अभाव में निर्मला से शादी नहीं करते; अन्ततः प्रायश्चित करते हैं और अपने छोटे भाई भुवन की शादी निर्मला की छोटी बहन कृष्णा से कर देते हैं। 1925 ई0 की कहानी ''नरक का मार्ग'' में भी नायिका कहती है-''मैं फिर कहती हूँ अपनी बालिकाओं के लिए मत देखो धन, मत देखो कुलीनता, केवल वर देखो अगर उसके लिए जोड़ का वर नहीं पा सकते, लड़की को कुँवारी रख छोड़ो, जहर देकर मार डालो, गला घोट डालो पर किसी खूसट बूढ़े से मत ब्याहो। स्त्री सब कुछ सह सकती है, दारूण से दारूण दुःख, बड़े से बड़ा संकट, अगर नहीं सह सकती तो अपने यौवन काल की उमंगों का कुचला जाना।''[153]

'प्रतिज्ञा' में प्रेमचंद निर्मला से भिन्न वनिताश्रम की स्थापना करते हैं। सुधारवादी आर्य समाजी नेता अमृतराय विधुर होने के कारण विधवा से विवाह

करने की प्रतिज्ञा करता है। प्रेमचंद का मत है कि विधुर को विधवा के साथ ही विवाह करना चाहिए। आर्यसमाज भी यही तर्क प्रस्तुत करता है। ध्यातव्य है कि 'प्रेमा' में प्रेमचंद विधवा विवाह कर नारी को आदर्श से गिराने की बात स्वीकार करते हैं जो बाद में 'प्रतिज्ञा' में यह कलुष धो देते हैं और विधवा को वनिताभवन में पहुंचा कर सेवा, त्याग संयम के द्वारा जीवन बिताने का हल प्रस्तुत करते हैं। लेकिन दूसरी ओर कई कहानियों में विधवा विवाह की अनुमति भी देते है। इस प्रसंग को नारी मुक्ति के अध्याय में स्पष्ट किया गया है। यह प्रेमचंद का अन्तर्विरोध भी है और निरन्तर विकसित वैज्ञानिक एवं अनुभवस्नात विचारधारा का परिणाम भी, लेकिन यह सुधारवादी आग्रह ''गोदान'' तक मिलता है- गोबर और झुनिया तथा भोला व नोहरी तथा मीनाक्षी व सोना के प्रसंगों में; लेकिन बदले हुए परिवेश में। ध्यातव्य है कि सुधारवाद युगीन मांग और सच्चाई थी, और कोई सामाजिक रचनाकार इसकी अनदेखी नहीं कर सकता था लेकिन प्रेमचंद उस पर प्रश्न चिह्न अवश्य लगाते हैं।

निर्मला तथा प्रतिज्ञा में अनेक सुधारवादी समाधानों की ओर प्रेमचंद संकेत करते हैं जैसे अछूतोद्धार, विवाहादि के अवसर पर सादगी का आग्रह, कुल मर्यादा के पालन पर जोर, पर्दा प्रथा का बहिष्कार, बाल विवाह विरोध आदि। बाल विवाह को अभिशाप और विधवा जीवन का एक कारण मानते हुए प्रेमचंद इस कुप्रथा के सुधार हेतु हल प्रस्तुत करते हैं। ''प्रतिज्ञा'' में बाल विधवा पूर्णा की करूण कथा है। कमला प्रसाद भी बाल विवाह से खिन्न हैं। ''वरदान'' में विरजन भी बाल विधवा है और सामाजिक यंत्रणाएं झेलती है। ''गोदान'' की झुनिया बाल विधवा होकर युवावस्था में लांछित होती है। कहानी ''नैराश्य लीला'' में बाल विधवा संन्यासिनी बनने को उद्यत होती है। ''वेश्या'' कहानी में एक बाल विधवा सामाजिक उत्पीड़न वश वेश्या बन जाती है। आर्य समाज से प्रभावित प्रेमचंद बाल विवाह की निंदा करते हैं।

''गबन'' में आभूषण प्रियता का मजाक उड़ाया गया है और उससे उत्पन्न परिस्थितियों की ओर ध्यानाकर्षित किया गया है। प्रारम्भिक उपन्यासों ''देवस्थान रहस्य'' और ''वरदान'' में इस पर विचार किया जा चुका है। ''सेवासदन'' के बाद की रचनाओं में यह समस्या बुराई के रूप में उभारी गयी है। ''प्रेमाश्रम'' में आभूषण प्रेम के कारण ही विधवा गायत्री विलासिनी होकर लांछित होते-होते बच जाती है। ''रंगभूमि'' में प्रेमचंद वाह्य श्रृंगार का विरोध करते हैं-''विचारोत्कर्ष का ही सौन्दर्य वास्तविक श्रृंगार है। वस्त्राभूषणों से तो

उसकी वास्तविक शोभा ही नष्ट हो जाती है। वह कृत्रिम और वासनामय हो जाता है।"[154]" इसी तरह "कायाकल्प" में लिखते हैं-"अलंकार भावों के अभाव का आवरण है। सुन्दरता को अलंकारों की जरूरत नहीं। कोमलता अलंकारों का भार नहीं सह सकती।"[155]" गबन की ट्रेजडी ही आभूषण प्रेम से पैदा होती है। जागेश्वरी आभूषण को विपत्ति में काम आने का साधन मानती है, श्रृंगार का साधन नहीं। जालपा आभूषण बेचकर विपत्ति में पति की सहायता करती है। अंततः प्रेमचंद इसका समाधान देते हैं। जालपा और रतन आभूषण त्याग कर विलासी जीवन को तिलांजलि दे देती हैं। रमेश बाबू कहते हैं-"जिस देश में लोग जितने मूर्ख होंगे वहाँ जेवरों का प्रचार भी उतना ही होगा। इस प्रथा से हमारा सर्वनाश होता जा रहा है। इसके कारण हमारा कितना आत्मिक, नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा है।"[156]" प्रेमचंद हृदय परिवर्तन द्वारा उसका हल देते हैं। कहानी 'चमत्कार' (1932) में चम्पा कहती है-"निर्वाह होता जाय यही बहुत है, गहनों की साध नहीं है।"[157]" 'स्वामिनी' (1931) में गरीब जोखू कहता है-"ऐसी मेहरिया लेकर क्या करूंगा जो गहनों को लेकर मेरी जान खाती रहेगी।"[158]" 'आभूषण' (1923) में प्रेमचंद स्वीकार करते हैं-"श्रृंगार सोयी हुई काम वासना को जगाने का घोर नाद, उद्दीपन का मंत्र है।" आगे कहते हैं-"शारीरिक शोभा के लिए हम मन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशांत और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं। यह चमक-दमक कितनी ईर्ष्या, कितने द्वेष, कितनी प्रतिस्पर्द्धा, कितनी दुश्चिन्ता और कितनी दुराशा का कारण है। इन्हें भूषण नहीं दूषण कहना चाहिए।"[159]" "संग्राम" नाटक में भी आभूषण से विपत्ति का चित्रण है-"आज भगवान ने बचा लिया। नहीं तो गहने भी जाते और जान की भी कुशल न थी।"[160]" प्रेमचंद के विचारात्मक लेखन में इस पर विचार लगभग नहीं मिलते किन्तु रचनात्मक लेखन में व्यक्त स्वतंत्र विचार ही इस कमी को पूरा कर देते हैं। इस कुप्रथा के सुधार के लिए प्रेमचंद आभूषणों की उपेक्षा करने का सुझाव देते हैं। उनके अनुपलब्ध उपन्यास "किशना" में इसी समस्या को उठाया गया है।

"गबन" का अंत सभी पात्रों के हृदय परिवर्तन से होता है। "गबन" में आभूषण और मध्यवर्गीय प्रदर्शन प्रियता के प्रति घृणा पैदा कर प्रेमचंद हृदय परिवर्तन कराते हैं और सभी पात्र एक ही स्थान-प्रयाग में जाकर खेती करते हुए रहने लगते हैं। इस तरह से सुखमय जीवन व्यतीत करने का संकेत किसी स्वनिर्मित आश्रम जैसा ही लगता है क्योंकि रतन विधवा होकर वेवशी में मर

जाती है और वेश्या जोहरा गंगा में डूब जाती है। इन दोनों को रास्ते से हटाकर प्रेमचंद रमानाथ का जीवन पथ निष्कंटक बना देते हैं क्योंकि दोनों हृदय से रमा को प्यार करती हैं और इस आदर्श आश्रम घर में विधवा और वेश्या नहीं रह सकती हैं क्योंकि उनके लिए प्रेमचंद पहले ही, वनिताश्रम और सेवासदन निर्मित कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त वृद्ध विवाह व अनमेल विवाह को रतन के माध्यम से व्याख्यायित कर सुधारात्मक हल देते हैं। विधवा के लिए पति की जायदाद पर अधिकार संबंधी प्रश्न प्रेमचंद रतन के ही माध्यम से उठाते हैं। ऐसा ही प्रश्न विचारात्मक लेखन में कई बार उठाते हुये विधवा की पूर्ण आर्थिक समानता की मांग करते हैं। (नारी मुक्ति अध्याय में वर्णित)

"कर्मभूमि" में प्रमुख रूप से अछूतोद्धार, शिक्षा और म्युनिसिपैलिटी के सुधार की समस्या उठायी गयी है। अमरकांत सुधारवादी नेता है जो अछूतोद्धार के लिए हरिजन बस्ती में जा कर रहता है। प्रेमचंद मंदिर प्रवेश को ही अछूतों की प्रमुख समस्या नहीं मानते; जैसा गांधी जी मानते थे। बल्कि उनकी बुराइयों को दूर करने की समस्या को प्रधान मानते हैं। अशिक्षा, मुर्दा मांस भक्षण, शराब सेवन और अपवित्रता का सुधार चाहते हैं। अमरकांत हरिजन बस्ती में रहकर अनेक बच्चों को पढ़ाता है और अच्छी आदतें सिखाता है। चमारों को मुर्दा मांस खाने से रोकने में अन्ततः हृदय परिवर्तन कराकर सफल होता है। शराब के प्रति चमारों के मन में घृणा पैदा करता है। दूसरी ओर सुखदा, आत्मानंद और शांति कुमार मंदिर प्रवेश कराने में सफल होते हैं। लेकिन प्रेमचंद मंदिर प्रवेश का यह जबरन तरीका गलत मानते हैं। वह चाहते हैं कि लोगों के मन में अछूतों के प्रति आत्मीयता बढ़े। क्योंकि वह देखते हैं कि मंदिर प्रवेश के बाद भी सवर्ण मंदिर में अछूतों से बच कर, देह चुराकर और मुंह बिचका कर निकलते हैं। सुखदा की तरह प्रेमचंद सुधार कराना चाहते हैं। सुखदा अछूतों को आत्मीयता प्रदान करती है कदाचित इसीलिए मंदिर खुलने के बाद सबसे पहले अछूत मंदिर की ओर नहीं दौड़ते बल्कि पहले सुखदा के पैरों पर गिरते हैं फिर मंदिर में भगवान के दर्शन करते हैं। उन्हें मंदिर की उतनी जरूरत नहीं जितनी सवर्णों से आत्मीयता पाने की है। इसे प्रेमचंद महसूस करते हैं और इसीलिए अछूतों की शिक्षा द्वारा गलत आदतें छुड़ा कर सवर्णों के नजदीक लाने का सुधारात्मक तरीका निकालते हैं क्योंकि अछूतों की गंदी आदतों से ही सवर्ण घृणा करते हैं लेकिन प्रेमचंद सवर्णों से अपील करते हुए लेख में लिखते हैं-"यह ठीक है कि हरिजनों में अभी भी बहुत

सी गंदी आदतें हैं-ये शराब पीते हैं, गंदा काम करते हैं और मुर्दा खाते हैं लेकिन ज्यों ही हिन्दू समाज उन्हें अपने अंदर स्थान देगा, ये सारी बुराइयाँ आप ही आप मिट जाएंगी।"[161] "कर्मभूमि" में सवर्ण अमरकांत हरिजनों के मध्य रहकर उनकी बुराइयाँ दूर कर उनका सुधार करता है। अछूतों के साथ सवर्ण की शादी का प्रस्ताव डॉ० अम्बेदकर ने रखा था, गांधी जी उससे असहमत थे। प्रेमचंद भी गांधी की तरह इसका विरोध करते हैं। वह लिखते हैं-"जब एक ही जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं में परस्पर शादी नहीं होती तो अछूतों के साथ ऐसा सम्बन्ध कैसे हो सकता है।"[162] ध्यातव्य है कि "कर्मभूमि" की मुन्नी और "गोदान" की सिलिया का सवर्ण से विवाह नहीं होता, यह अलग बात है कि प्रेम सम्बन्ध के कारण और शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेने के बाद कर्तव्य समझकर ब्राह्मण मातादीन सिलिया चमारिन को अपना लेता है और प्रेमवश ही क्षत्राणी मुन्नी भी चमार के साथ बैठ जाती है लेकिन प्रेमचंद इनका सामाजिक संस्कार के रूप में विवाह नहीं कराते। "कर्मभूमि" में म्युनिसिपैलिटी अछूतों के लिए भूमि प्रदान करती है। यद्यपि इसके लिए व्यापक आंदोलन होता है। प्रेमचंद म्युनिसिपैलिटी के इस कर्तव्य की प्रशंसा अपने लेखों में भी करते हैं। "कानपुर को बधाई" नामक टिप्पणी में लिखते हैं-"मकानों के लिए म्युनिसिपैलिटी ने डेढ़ लाख रुपये की व्यवस्था की है। हरिजनों के उद्धार का काम रूपये में पन्द्रह आना हमारी म्युनिसिपैलिटियों पर निर्भर है।"[163]

हरिजनों के लिए अलग छात्रावास बनाने की गांधी जी की योजना से प्रेमचंद असहमत हैं क्योंकि इससे अछूतपन अधिक बढ़ेगा। अस्पृश्यता सुधार के लिए प्रेमचंद सुझाव देते हैं-"विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिए। नौकरियां देने में उनके साथ थोड़ी रियायत करनी चाहिए। जमीन देकर, बेगार लेनी बंद करके आर्थिक सुधार किया जा सकता है।" इस तरह प्रेमचंद का सुधारवाद गांधी व आर्य समाज के सुधारवाद से भिन्न और प्रगतिशील है। ये विचार प्रारम्भिक लेखन में भी मौजूद हैं; जब गांधी का कहीं पता नहीं था।

"कर्मभूमि" का आरम्भ प्रेमचंद शिक्षा समस्या से करते हैं। वह शिक्षा की प्रचलित पश्चिमी प्रणाली से असहमत हैं और इसे विकास में बाधक मानते हैं। वह कहते हैं-"शिक्षालय क्या है जुर्मानालय हैं। यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है।"[165] डॉ० शांति कुमार इसे किराये की तालीम कहते हैं-"हमने तालीम को भी व्यापार बना लिया है। मैं चाहता हूँ ऊँचा से ऊँचा तालीम सबके

लिए मुआफिज हो ताकि गरीब से गरीब आदमी भी ऊँची से ऊँची लियाकत हासिल कर सके और ऊँचा से ऊँचा ओहदा पा सकें।"[168]

प्रेमचंद शिक्षा और डिग्री को स्वार्थ से परे देखना चाहते हैं इसलिए शिक्षा का उद्देश्य सेवा, नम्रता और जीवन की सादगी को मानते हैं। वह ऐसे शिक्षकों का विरोध करते हैं जो पश्चिमी सभ्यता ग्रस्त होते हैं, ऐयाश, स्वार्थी और बहुखर्ची होते हैं क्योंकि उनका कुप्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता है। वह लिखते हैं-"वह जो अनगिनत लेक्चरर और प्रोफेसर हैं। क्या सब के सब सादी जिन्दगी के नमूने हैं? यह तो लिविंग का स्टैण्डर्ड ऊँचा कर रहे हैं तो फिर लड़के भी क्यों न ऊँचा करें।"[167] प्रेमचंद शिक्षकों से सादगी की अपेक्षा करते हैं तभी आदर्श शिक्षा प्रदान की जा सकेगी तथा सरकार से निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की अपील करते हैं, तभी शिक्षा प्रणाली में सुधार हो सकेगा और समाज-देश का विकास भी। विचारात्मक लेखन में अनेक स्थलों पर शिक्षा संबंधी उनके विचार बिखरे हैं। "गुरूकुल काँगड़ी में तीन दिन" नामक संस्मरण में वह प्रचीन शिक्षा प्रणाली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं-"बच्चों को स्वाधीन बनाओ तथा "मानसिक पराधीनता" व "नवीन व प्राचीन" नामक टिप्पणियों में खुलकर पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली तथा अंग्रेजी तथा अंग्रेजी शिक्षा परिवेश और अंग्रेजपरस्तों की निन्दा करते हैं। अन्य लेखों-टिप्पणियों-'एक उचित परामर्श', 'शिक्षा का नया आदर्श', 'फेल होने वाले लड़के', 'गोरखपुर में शिक्षा सम्मेलन' तथा 'जागृति' आदि में पश्चिमी शिक्षा का मजाक उड़ाया गया है और प्राचीन शिक्षा प्रणाली का स्मरण किया है। लिखा है-"क्या वे दिन फिर कभी आयेंगे जब हमारी पुरानी संस्कृति का अभ्युदय होगा।"[168] वह शिक्षा को स्वास्थ्य से भी जोड़कर देखना चाहते हैं-कई टिप्पणियों 'स्कूलों में स्वास्थ्य परीक्षा', 'स्वास्थ्य ओर शिक्षा', 'प्रयाग में महिला व्यायाम मंदिर' आदि में इस पर जोर देते हैं। फिल्म को शिक्षालयों के लिए अभिशाप मानते हुए कई लेखों में इसकी भर्त्सना किया है। वह वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सुधार के लिए तमाम समाधान प्रस्तुत करते हैं-शिक्षकों की सादगी, पश्चिमी करण तथा अंग्रेजी का विरोध और स्वास्थ्य शिक्षा आदि। कर्मभूमि में डॉ0 शांति कुमार आर्य समाज तथा गांधी की तरह "सेवाश्रम" निर्मित करते हैं। उसके माध्यम से प्रेमचंद रचनात्मक स्तर पर शिक्षा का सुधारवादी आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

स्पष्ट है कि प्रेमचंद आरम्भ से 'कर्मभूमि तक अनेक कुप्रथाओं और समस्याओं के सुधार के लिए तत्पर दिखायी देते हैं। जिस पर कहीं सुधारवादी

सी गंदी आदतें हैं-ये शराब पीते हैं, गंदा काम करते हैं और मुर्दा खाते हैं लेकिन ज्यों ही हिन्दू समाज उन्हें अपने अंदर स्थान देगा, ये सारी बुराइयाँ आप ही आप मिट जाएंगी।"[161] "कर्मभूमि" में सवर्ण अमरकांत हरिजनों के मध्य रहकर उनकी बुराइयाँ दूर कर उनका सुधार करता है। अछूतों के साथ सवर्ण की शादी का प्रस्ताव डॉ0 अम्बेदकर ने रखा था, गांधी जी उससे असहमत थे। प्रेमचंद भी गांधी की तरह इसका विरोध करते हैं। वह लिखते हैं-"जब एक ही जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं में परस्पर शादी नहीं होती तो अछूतों के साथ ऐसा सम्बन्ध कैसे हो सकता है।"[162] ध्यातव्य है कि "कर्मभूमि" की मुन्नी और "गोदान" की सिलिया का सवर्ण से विवाह नहीं होता, यह अलग बात है कि प्रेम सम्बन्ध के कारण और शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेने के बाद कर्तव्य समझकर ब्राह्मण मातादीन सिलिया चमारिन को अपना लेता है और प्रेमवश ही क्षत्राणी मुन्नी भी चमार के साथ बैठ जाती है लेकिन प्रेमचंद इनका सामाजिक संस्कार के रूप में विवाह नहीं कराते। "कर्मभूमि" में म्युनिसिपैलिटी अछूतों के लिए भूमि प्रदान करती है। यद्यपि इसके लिए व्यापक आंदोलन होता है। प्रेमचंद म्युनिसिपैलिटी के इस कर्तव्य की प्रशंसा अपने लेखों में भी करते हैं। "कानपुर को बधाई" नामक टिप्पणी में लिखते हैं-"मकानों के लिए म्युनिसिपैलिटी ने डेढ़ लाख रुपये की व्यवस्था की है। हरिजनों के उद्धार का काम रूपये में पन्द्रह आना हमारी म्युनिसिपैलिटियों पर निर्भर है।"[163]

हरिजनों के लिए अलग छात्रावास बनाने की गांधी जी की योजना से प्रेमचंद असहमत हैं क्योंकि इससे अछूतपन अधिक बढ़ेगा। अस्पृश्यता सुधार के लिए प्रेमचंद सुझाव देते हैं-"विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिए। नौकरियां देने में उनके साथ थोड़ी रियायत करनी चाहिए। जमीन देकर, बेगार लेनी बंद करके आर्थिक सुधार किया जा सकता है।" इस तरह प्रेमचंद का सुधारवाद गांधी व आर्य समाज के सुधारवाद से भिन्न और प्रगतिशील है। ये विचार प्रारम्भिक लेखन में भी मौजूद हैं; जब गांधी का कहीं पता नहीं था।

"कर्मभूमि" का आरम्भ प्रेमचंद शिक्षा समस्या से करते हैं। वह शिक्षा की प्रचलित पश्चिमी प्रणाली से असहमत हैं और इसे विकास में बाधक मानते हैं। वह कहते हैं-"शिक्षालय क्या है जुर्मानालय हैं। यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है।"[165] डॉ0 शांति कुमार इसे किराये की तालीम कहते हैं-"हमने तालीम को भी व्यापार बना लिया है। मैं चाहता हूँ ऊँचा से ऊँचा तालीम सबके

लिए मुआफिज हो ताकि गरीब से गरीब आदमी भी ऊँची से ऊँची लियाकत हासिल कर सके और ऊँचा से ऊँचा ओहदा पा सकें।"[166]"

प्रेमचंद शिक्षा और डिग्री को स्वार्थ से परे देखना चाहते हैं इसलिए शिक्षा का उद्देश्य सेवा, नम्रता और जीवन की सादगी को मानते हैं। वह ऐसे शिक्षकों का विरोध करते हैं जो पश्चिमी सभ्यता ग्रस्त होते हैं, ऐयाश, स्वार्थी और बहुखर्ची होते हैं क्योंकि उनका कुप्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता है। वह लिखते हैं-"वह जो अनगिनत लेक्चरर और प्रोफेसर हैं। क्या सब के सब सादी जिन्दगी के नमूने हैं? यह तो लिविंग का स्टैण्डर्ड ऊँचा कर रहे हैं तो फिर लड़के भी क्यों न ऊँचा करें।"[167]" प्रेमचंद शिक्षकों से सादगी की अपेक्षा करते हैं तभी आदर्श शिक्षा प्रदान की जा सकेगी तथा सरकार से निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की अपील करते हैं, तभी शिक्षा प्रणाली में सुधार हो सकेगा और समाज-देश का विकास भी। विचारात्मक लेखन में अनेक स्थलों पर शिक्षा संबंधी उनके विचार बिखरे हैं। "गुरूकुल काँगड़ी में तीन दिन" नामक संस्मरण में वह प्रचीन शिक्षा प्रणाली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं-"बच्चों को स्वाधीन बनाओ तथा "मानसिक पराधीनता" व "नवीन व प्राचीन" नामक टिप्पणियों में खुलकर पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली तथा अंग्रेजी तथा अंग्रेजी शिक्षा परिवेश और अंग्रेजपरस्तों की निन्दा करते हैं। अन्य लेखों-टिप्पणियों-'एक उचित परामर्श', 'शिक्षा का नया आदर्श', 'फेल होने वाले लड़के', 'गोरखपुर में शिक्षा सम्मेलन' तथा 'जागृति' आदि में पश्चिमी शिक्षा का मजाक उड़ाया गया है और प्राचीन शिक्षा प्रणाली का स्मरण किया है। लिखा है-"क्या वे दिन फिर कभी आयेंगे जब हमारी पुरानी संस्कृति का अभ्युदय होगा।"[168]" वह शिक्षा को स्वास्थ्य से भी जोड़कर देखना चाहते हैं-कई टिप्पणियों 'स्कूलों में स्वास्थ्य परीक्षा', 'स्वास्थ्य ओर शिक्षा', 'प्रयाग में महिला व्यायाम मंदिर' आदि में इस पर जोर देते हैं। फिल्म को शिक्षालयों के लिए अभिशाप मानते हुए कई लेखों में इसकी भर्त्सना किया है। वह वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सुधार के लिए तमाम समाधान प्रस्तुत करते हैं-शिक्षकों की सादगी, पश्चिमी करण तथा अंग्रेजी का विरोध और स्वास्थ्य शिक्षा आदि। कर्मभूमि में डॉ0 शांति कुमार आर्य समाज तथा गांधी की तरह "सेवाश्रम" निर्मित करते हैं। उसके माध्यम से प्रेमचंद रचनात्मक स्तर पर शिक्षा का सुधारवादी आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

स्पष्ट है कि प्रेमचंद आरम्भ से 'कर्मभूमि तक अनेक कुप्रथाओं और समस्याओं के सुधार के लिए तत्पर दिखायी देते हैं। जिस पर कहीं सुधारवादी

संस्थाओं का प्रभाव है, कहीं गांधी जी का किन्तु इसके पीछे मौलिक चिन्तन काम करता है जो जाहिर है कि कहीं आर्य समाज से प्रभावित जान पड़ता है, कहीं गांधी से प्रभावित किन्तु इसे एक संयोग ही मानना चाहिए, मात्र संयोग। वस्तुतः उनका चिन्तन मौलिक है।

वर्ग-संघर्ष एवं वर्ग बनाम जाति की स्थितियाँ

प्रेमचंद के उपन्यासों में वर्ग सहयोग तथा वर्ग संघर्ष दोनों की स्थितियां मिलती हैं। यह आश्चर्यजनक सत्य है कि प्रेमचंद अन्त तक दोनों के मध्य ऊहापोह की स्थिति में जीते रहे। यद्यपि अंतिम क्षणों में अन्तर्विरोधी मानसिकता के पटल से पर्दा उठ जाता है और वर्ग संघर्ष की वैज्ञानिकता को मान लेते हैं। उपन्यासों का क्रमशः कालगत सर्वेक्षण काफी रोचक दिखायी देता है।

सेवासदन में चेतू वर्ग विरोध की स्थिति उत्पन्न करता है। यद्यपि यह व्यक्तिगत विरोध है किन्तु यही ''प्रेमाश्रम'' के सामूहिक विरोध के रूप में और फिर संघर्ष की ओर उन्मुख होता हुआ प्रेमचंद की समझ का ऐतिहासिक विकास सिद्ध होता है। ''सेवासदन'' में प्रेमचंद वर्ग संघर्ष की बात लगभग नहीं सोचते और वर्ग सहयोग का मानदण्ड अधिक उपयोगी मानते हैं। म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन बलभद्र कहते हैं-''सामाजिक विप्लव पर मेरा विश्वास नहीं है। रोग का निवारण मौत से नहीं दवा से होता है।''[169]'' अपने एक लेख में भी प्रेमचंद स्वीकार करते हैं-''हमारा विश्वास संघर्ष में नहीं सहयोग में है।''[170]'' लेकिन चेतु का विरोध स्वाभाविक है। प्रेमचंद इसे स्वीकार करते हैं। एक टिप्पणी में लिखते हुए निश्चयात्मक आग्रह का संकेत करते हैं-''जनता के विरुद्ध जब शासन व्यवस्था चाहती है, चाहे वह बादशाह ही हो या शाही या प्रजाशाही, उसके विरुद्ध आंदोलन होने लगता है।''[171]'' चेतू किसान वर्ग के रूप में ही विरोध नहीं करता है बल्कि एक साथ अछूत वर्ग के रूप में भी सामाजिक व्यवस्था का विरोध करता है। ''दूध का दाम'' कहानी में भी यह विरोध प्रकट हुआ है। प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि जहाँ शोषक वर्ग सदाशयता वश शोषितों पर दयालु होता है वहीं वर्गीय स्वार्थ पर चोट पड़ते देख सब भूल जाता है। कुंवर अनिरूद्ध सिंह जमींदार और म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हैं। वह शोषक होने के साथ उदार और सुधारक भी हैं किन्तु जब कृषि सहायक सभा खोलने की योजना बनाते हैं तो जमींदार सदन सिंह जो वस्तुतः सुधारक

और वर्ग विद्रोही है, तुरन्त कुंवर साहब का विरोध करने लगता है-"सदन के मन में अभी-अभी कृषकों के प्रति जो सहानुभूति प्रकट हुई थी वह मंद पड़ गयी। वह जमींदार था और कृषकों पर दया करना चाहता था पर उसे मंजूर न था कि कोई उसे दबाये और किसानों को भड़का कर जमींदारों के विरुद्ध खड़ा कर दे।"[172] यह एक ओर तो बड़े जमींदार वर्ग से छोटे जमींदार वर्ग का विरोध है और दूसरी ओर जमींदार वर्ग का अन्तर्विरोध भी है। जमींदार मदनसिंह औद्योगीकरण का विरोध करता है क्योंकि इससे वर्ग संघर्ष अवश्यंभावी है।

वर्ग और जाति की समस्या पर भी विचार करें तो एक बात स्पष्ट है कि जातियाँ वर्ग नहीं हैं और जाति बिरादरी की कुछ सीमाएं हैं जिनका उल्लंघन समाज में सह्य नहीं हैं, भले ही उच्च वर्ग, शोषक वर्ग अनैतिकता को प्रश्रय देता है किन्तु बिरादरी का बन्धन उस पर ढीला नहीं होता कदाचित इसीलिए नीच जाति के साथ लुके-छिपे रंगरेलियां करने वाला सामन्त ज्यों ही मर्यादा तोड़कर समाज के समक्ष प्रस्तुत होता है, धार्मिक व्यवस्था पर आधारित हिन्दू समाज उसका जातीय बहिष्कार कर देता है। वहाँ सामन्त का वर्गीय आतंक संगठित जाति बिरादरी को भयाक्रांत नहीं कर पाता। "सेवासदन" का सामन्त सदन इस सच्चाई को जानता है। "सदन ने देखा था कि उसके गाँव में एक ठाकुर ने बेड़िन बैठा ली थी तो सारे गांव ने उसके यहां आना जाना छोड़ दिया था।"[173] स्पष्ट है कि जातीय मर्यादा वर्गीय भय के समक्ष बलवान है। यही बात सुमन के वेश्यावृत्ति के संदर्भ में भी आड़े आती है। ब्राह्मण जाति की होने के कारण ही तमाम समाज सुधारक उसके उद्धार की ओर उन्मुख होते हैं; न कि वेश्या उद्धार हेतु। वह जानते हैं कि, सभी जातियों में वेश्यावृत्ति आम चीज है लेकिन ब्राह्मण स्त्री द्वारा वेश्यावृत्ति समाजिक अपमान की बात है, अर्थात् समाज में वर्णगत सजगता व पवित्रता की भावना विद्यमान है और शायद इसीलिए "सेवासदन" का सुधारवाद उच्च वर्ण के सुधार के अधिक निकट है; वेश्या वर्ग के सुधार के उतना निकट नहीं।

तात्पर्य यह कि "सेवासदन" में वर्ग विरोध भी है, वर्ग सहयोग भी और चेतू के प्रसंग को अधिक महत्व दें तो, उसका अंत वर्ग विरोध की सामयिकता का संकेत देता है। लेकिन इस काल में प्रेमचंद वर्ग संघर्ष की स्थितियों का साक्षात भी कर रहे थे। 1914 ई0 की कहानी "शिकारी राजकुमार' में एक योगी राजकुमार को प्रेरित करता है कि वह धनवान शोषक जमींदारों, डाकुओं

मंदिर के महन्तों और अन्यायी राज कर्मचारियों का शिकार करे। यह कहानी वर्ग संघर्ष की सम्भावना का आभास देती है। 1914 की एक अन्य कहानी "पछतावा" वर्ग विरोध और व्यक्तिगत वर्ग संघर्ष का खुलासा बयान करती है। किसान मलूका को जमींदार विशाल सिंह के चपरासी कादिर खां के हाथों पिटते देख किसान के जवान लड़कों ने जमींदार के यहां ही कादिर खां की जम कर पिटाई कर दी। हालांकि मलूका लड़कों को इस विरोध पर डांटता है लेकिन इससे क्या; 'गोदान' का होरी भी तो मरते दम तक धनिया और गोबर को वर्ग-विरोध के लिए रोकता है। इस कहानी में न केवल "प्रेमाश्रम" का संकेत है बल्कि "गोदान" का बीज भी है। मलूका होरी का प्रतिरूप है, वह जागृत किसान वर्ग की ऐतिहासिकता का प्रमाण है। जो लोग "प्रेमाश्रम" में रूसी समाजवादी वर्ग संघर्ष की छाप लगाकर प्रेमचंद को मार्क्सवादी सिद्ध करते हैं, वे शायद ध्यान नहीं देते कि इसके पहले भी प्रेमचंद वर्ग-संघर्ष की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करते हैं जब कि तब तक वह रूसी आंदोलन से अछूते रहते हैं। प्रेमचंद द्वारा वर्ग संघर्ष का आग्रह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की आशाओं का संकेत है जो गांधी जी के भारत आने के पहले गरम दल के नेतृत्व में प्रारम्भ होकर सफल हो रहा था। लगभग इसी समय लिखित अनेक जीवनियों के माध्यम से प्रेमचंद वर्ग विरोध और संघर्ष का आग्रह करते हैं। राणा प्रताप की जीवनी में मानो आह्वान करते हैं-"मेरी आत्मा को तब चैन होगा जब तुम लोग अपनी-अपनी तलवारें हाथ में लेकर कसम खाओ कि यह हमारा प्यारा देश तुर्कों के कब्जे में न जायेगा।"[174]

तात्पर्य यह कि एक ही समय में यानी "सेवासदन" के रचनाकाल में एक ओर प्रेमचंद वर्ग सहयोग का प्रचलित, जनसमर्थित और विभिन्न संस्थाओं द्वारा संचालित रास्ता बताते हुए युगीन यथार्थ का अंकन करते हैं, दूसरी ओर कमोवेश उभरते हुए जनाक्रोश, वर्ग-विरोध तथा वर्ग संघर्ष की संभावित एवं घटित स्थितियों का साग्रह संकेत करते हैं जो लेखक की ईमानदारी है। वस्तुतः आग्रह वर्ग-सहयोग की ओर है।

"प्रेमाश्रम" का दुखरन भगत झुकने के बजाय टूट जाना पसन्द करता है। वह गालियाँ देकर जमींदार का विरोध करता है, भगवान की शक्तिमत्ता पर शंका करता है लेकिन बेगार करने से इंकार कर देता है। एक वर्ग के रूप में वह विरोध की ऐतिहासिकता प्रकट करता है।

रूसी क्रांति की सफलता के पश्चात् भारतीय जनजीवन पर उसका प्रभाव पड़ा। बलराज और मनोहर जैसे किसानों में पहले से अधिक जागृति दिखायी देने लगती है। वे दुनिया को समझने का प्रयास करने लगे हैं। अपनी वर्गीय शक्ति का अभिमान जागने लगा है। बलराज चुनौती देता है-''तुम लोग तो ऐसी हंसी उड़ाते हो मानो काश्तकार कुछ होता ही नहीं। मेरे पास जो पत्र आता है उसमें लिखा है कि-''रूस देश में काश्तकारों का ही राज है। उसी के पास कोई और देश बलगारी हैं। वहां अभी हाल की बात है काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।''[175] यद्यपि भारत के किसान रूस जैसे क्रान्तिकारी नहीं हो सके थे किन्तु विरोध करने की प्रबल शक्ति उनमें आ गयी थी, वे संघर्ष के लिए भी उद्यत हो रहे थे। बलराज कहता है-''क्या जाने क्यों जंगी, जब से मैं दुनिया का कुछ हाल जानने लगा हूँ मुझसे अन्याय नहीं देखा जाता। जब किसी जबरे को किसी गरीब का गला दबाते देखता हूँ, तो बदन में आग सी लग जाती है। जानता हूँ कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता पर मन काबू से बाहर हो जाता है।''[176] प्रेमचंद ने भारतीय किसान की बदलती हुई मानसिकता का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। बलराज सब कुछ जानते हुए भी भयाक्रांत है और संघर्ष के लिए तैयार नहीं हो पाता। उसका पिता मनोहर व्यक्तिगत संघर्ष के लिए प्रस्तुत होता है। यह तत्कालीन भारतीय किसान का अन्तर्विरोध है। मनोहर में भावी परिणामों की अच्छी समझ है। वह आवेश में अंधा होकर परिणाम से बेखबर कारिन्दा गौस खां की हत्या नहीं करता, वह जानता है कि उसे कठोर मृत्युदण्ड मिलेगा और वह गौस खां की हत्या कर देता है। वर्ग संघर्ष की यह प्रारम्भिक स्थिति है जहां पहले व्यक्तिगत तौर पर संघर्ष किया जाता है। यद्यपि हत्या करने के पश्चात् वह आत्मसमर्पण कर दोष स्वीकार कर लेता है। इससे उसकी परिपक्व सूझ-बूझ का अंदाजा लगता है क्योंकि ऐसा करके वह अपने परिवार और गांव को भारी विपत्ति से उबार लेता है। अपने बेटे बलराज, को वर्ग संगठन और साहस की सीख देता है-''अपने मरजाद की रक्षा करना मर्दों का काम है। ऐसे अत्याचारों का हम और क्या जवाब दे सकते हैं। बेइज्जत होकर जीने से मर जाना अच्छा है। दिल को खूब संभालो, अपना काम करके सीधे यहां चले आना। थानेदार तुम्हें डरायेंगें लेकिन खबरदार डरना मत। बस गांव के लोगों से मेल रखोगे तो कोई तुम्हारा बाल भी बांका नहीं कर सकेगा।''[177] प्रेमचंद वर्ग संघर्ष के

में प्रेमचंद ने लिखा-"मैं अब करीब-करीब वोल्शेविस्ट वसूलों का कायल हो गया हूँ।"[181] इस काल की जीवनियों में गुप्त राजनीतिक हत्याओं का भी संकेत देते हैं। राणा जंग बहादुर की जीवनी में लिखा-"अक्सर उन्हें चाल-बाजियों साजिशों यहां तक कि गुप्त हत्याओं का सहारा लेना पड़ता था पर सम्भवत उस परिस्थिति में वही नीति उपयुक्त थी।"[182] मनोहर द्वारा गौस खां की गुप्त हत्या का प्रेमचंद ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, साथ ही आतंकवाद की सक्रियता और उपयोगिता का प्रश्न भी उठाते हैं।

"प्रेमाश्रम" में वर्ण और जाति की स्थितियों को भी देखा जा सकता है। प्रेमचंद विश्वास पूर्वक मानते हैं कि वर्ण वर्ग नहीं हैं और न तो जातियाँ वर्ग हैं, यहाँ सभी वर्ण और जाति के किसान एक ही वर्ग (सर्वहारा) में हैं, उनकी एक जैसी समस्याएं हैं, सभी समान शोषित हैं। जिस तरह शोषितों का एक वर्ग है उसी तरह शोषकों का भी एक वर्ग है जिसमें सभी जाति के सदस्य हैं। यानी शोषण करने के स्तर पर चाहे ज्ञानशंकर हो या गौस खां; सम्प्रदायगत (जातिगत) भेद भूलकर परस्पर विरोधी होते हुए भी एकजुट हैं।.....एक टिप्पणी में प्रेमचंद स्वीकारते हैं-"पूंजीपति क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, एक ही हैं, उनकी विचार शैली, स्वार्थ लिप्सा एक।"[183] "प्रेमाश्रम" में ही सभी जाति के किसान जाति-वर्ण गत भेदभाव भूलकर वर्गीय समस्याओं से ग्रस्त हो एक साथ विरोध और संघर्षरत दिखायी देते हैं-दुखरन चमार है, बलराज अहीर है, कादिर मुसलमान है किन्तु सभी एक साथ शोषक गौस खां का विरोध करते हैं। कादिर भी गौस खां को शत्रु मानता है; न कि मुसलमान होने के नाते सहानुभूति दिखाता है जैसे ज्ञानशंकर को हिन्दू किसान शत्रु मानते हैं। इसी तरह कादिर गौस खां का भी वैसे ही शोषण करता है जैसे हिन्दू किसानों का। एक टिप्पणी में प्रेमचंद लिखते हैं-"कर्ज की इल्लत में सभी गिरफ्तार हैं, दरिद्रता, बीमारी, अशिक्षा, बेकार, हिन्दू मुसलमान का विचार नहीं करता, आने वाला युग आर्थिक संग्राम का युग है।"[184] जाहिर है कि वर्ग-संघर्ष के लिए प्रेमचंद जाति-सम्प्रदाय को बाधक नहीं मानते।

'रंगभूमि' का वर्ग विरोध और संघर्ष "प्रेमाश्रम" से आगे बढ़ा है। यहाँ व्यक्तिगत विरोध भी है, सामूहिक भी; व्यक्तिगत वर्ग-संघर्ष है और सामूहिक वर्ग संघर्ष भी है। पूरे उपन्यास में गांधीवादी वर्ग सहयोग की छाया विद्यमान है। किन्तु बार-बार प्रेमचंद युगीन यथार्थ के समक्ष गांधीवादी समाधानों की पराजय दिखाते हैं, किसान मजदूरों का जमींदार के प्रति आक्रोश और विरोध

हवलदार ने बन्दूकें जमीन पर पटक दीं। सिपाहियों ने भी उसके साथ ही अपनी-अपनी बन्दूकें रख दीं।"[189]"

शस्त्रहीन जनता संघर्ष में सफलता नहीं प्राप्त कर पाती लेकिन सैनिकों का जनता के पक्ष में हथियार डाल देना भी वर्ग संघर्ष की प्रारम्भिक स्थिति है। दूसरी स्थिति वह है जब सशस्त्र सैनिक जनता से मिल कर क्रांतिकारी हो जाते हैं और शस्त्रबल से सरकारी प्रतिष्ठानों पर कब्जा कर लेते हैं, जैसा 1857 की क्रांति में हुआ था। यद्यपि उसके बाद रंगभूमि काल तक भारतीय जनान्दोलन के इतिहास में ऐसी घटना नहीं घटी पर यह प्रेमचंद की भविष्य दृष्टि है। बाद में गढ़वाली सैनिक ऐसा ही विरोध प्रकट करते हैं। शायद प्रेमचंद ऐसी क्रांति की सम्भावना भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में महसूस करते हैं। मिठुआ के माध्यम से प्रेमचंद वर्ग संघर्ष की सशस्त्र आवश्यकता का संकेत देते हैं। मिल मजदूर मिठुआ जो सम्भवतः रूसी क्रांति से प्रभावित जान पड़ता है, सूरदास जैसे वर्ग सहयोगी का और साम्राज्यवादी पूंजीवादी सत्ता का विरोध करता हुआ कहता है-"मुझे चौपट करके मरे जाते हो। उस पर कहते हो मेरा किरिया करम कर देना। मैं अपने मुआवजे का दावा जरूर करूँगा।" आगे कहता है-"यह सब पढ़े बैठा हूँ। लगा दूँगा आग। सारा गोदाम जल कर राख हो जाएगा। बमगोले बनाना जानता हूँ। एक गोला रख दूँगा तो पुतलीघर में आग लग जाएगी।"[190]" यह आतंकवादियों जैसी हरकत है या सशस्त्र क्रांति के लिए जमीन तैयार करते मजदूर वर्ग की बाल्यावस्था लेकिन यह युगीन यथार्थ है। आतंकवादी वीरपाल सिंह दरोगा की हत्या करता है, सरकारी खजानों को लूटता है। प्रेमचंद की सहानुभूति इस चरित्र के साथ है, वह अंत तक उपन्यास में रहता है, मरता नहीं। अपने एक लेख में आतंकवाद का समर्थन प्रेमचंद ने दबे शब्दों में किया है-"युवक बेकारी में क्यों न आतंकवादी बन जाय, विद्रोही बन जाय। सरकार उन्हें खुद विद्रोही बनने के अवसर दे रही है।"[191]" स्पष्ट है कि प्रेमचंद "रंगभूमि" में सशस्त्र क्रांति के बचपन का संकेत करते हैं। आतंकवादी वीरपाल सिंह, विद्रोही बजरंगी, मिठुआ और सिविल नाफरमानी करने वाले सैनिक तथा गोलियों की बाढ़ सीने में सोखने वाली शस्त्रहीन जनता इसकी प्रमाण है। जैसा लिखा जा चुका है प्रेमचंद पग-पग पर वर्ग सहयोग के गांधीवादी तरीके का आग्रह करते हैं, उत्तेजित भीड़ को बार-बार संघर्ष के लिए विनय का नेतृत्व देकर रोकते हैं, सूरदास व महेन्द्र सिंह के मध्य समझौते की पहल करते हैं। रानी इंदु के ट्रस्ट

का निर्माण, गांगुली को ट्रस्ट का प्रधान बनाने की योजना, दरोगा माहिर अली तथा सभी जमींदारों का हृदय परिवर्तन इसी आग्रह को व्यक्त करता है। किन्तु यह आग्रह युगीन राजनीतिक धारा का ही परिणाम है क्योंकि वर्ग सहयोग को अनदेखा करने पर प्रेमचंद आतंकवादी होने के दोषी बन जाते। "रंगभूमि" में वर्गसहयोग की असफलता, पूँजीपति जान सेवक की निरन्तर उन्नति को औद्योगिक प्रसार के माध्यम से दिखा कर प्रेमचंद वस्तुतः वर्ग संघर्ष की भावी सम्भावना का संकेत करते हैं।

"रंगभूमि" में भी वर्ग, जाति की सीमाओं को तोड़कर महत्तर हो उठा है। सभी जाति वाले किन्तु एक ही शोषित वर्ग के लोग हिन्दू-मुसलमान, छूत -अछूत सभी एक ही पंगत में बैठकर भोजन करते हैं। भैरों के ताड़ीखाने में ब्राह्मण भी अन्य जातियों के साथ बैठकर ताड़ी पीता है। सभी जाति वाले लोग मंदिर में साथ बैठ कर गाते हैं। औद्योगिक क्रांति के युग में यहां भी आर्थिक संग्राम का उल्लेख प्रेमचंद करते हैं। पेशे के आधार पर जाति पहचानना कठिन होता जा रहा है। चमड़े पर चमारों का व्यक्तिगत अधिकार था किन्तु अब जान सेवक चमड़े का कारखाना खोलते हैं। अतः जाति वर्ग में संक्रमण कर रही है, वर्ग-विरोध के मार्ग में भी साम्प्रदायिकता पर जाति बाधक नहीं है।

'कायाकल्प' में 'रंगभूमि' के वर्ग संघर्ष से थोड़ी परिष्कृत स्थिति देखने को मिलती है। बेकार मजदूर सरेआम काम करने से सामूहिक इंकार कर वर्ग विरोध प्रकट करते हैं। इसमें दृढ़ता और शक्ति दिखायी देती है। कहते हैं-"मार डालिये मुदा पेट बांध कर काम नहीं होता।" विभिन्न संगठनों ने उनकी पक्षधरता शुरू कर दी थी। इसीलिए वह चुपचाप मार खाने से भी इंकार करते हैं। बेगारों का चौधरी कहता है-"जब लात खाते थे तब खाते थे अब न खायेंगे सेवा सम्मती हमारी पीठ पर है।"[192] विरोध के बाद मजदूर एकजुट होकर संघर्ष में हिस्सा लेते है जो "रंगभूमि" से आगे की आंदोलन की बढ़ी हुई स्थिति है। मजदूर राजकर्मचारियों से सामूहिक मार पीट डटकर करते हैं, अपने नेता चक्रधर के घायल होते ही उनकी हिंसावृत्ति भड़क उठती है और संघर्ष छिड़ जाता है। प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-"पांच हजार आदमी बाड़े को चीर कर सशस्त्र सिपाहियों को चीरते बाहर निकल आये। और नरेशों के कैम्प तक पहुँचते-पहुँचते उनकी संख्या दूनी हो गयी। लोग सोचते थे कि मरते-मरते हममें से इतने आदमी कैम्प तक पहुँच जायेंगे कि नरेशों को कहीं भी भागने

की जगह नहीं मिलेगी। हम सारे प्रान्त को इन अत्याचारियों से मुक्त कर देंगे। ये सब अपनी प्रजा पर ऐसे ही अत्याचार करते होंगे।"[193]" लेकिन यहां भी संघर्ष की मूलभूत कमजोरियां जैसे शस्त्रहीनता और अदूरदर्शिता विद्यमान है जो संघर्ष को सफल नहीं होने देती। इतने बड़े-बड़े समूह का अचानक भड़क उठना भी अन्ततः विजय दिला देता और शस्त्रहीन उत्तेजित समूह भारी शहादत के बाद भी कामयाब हो जाता यदि चक्रधर पहुँचकर सारा खेल बिगाड़ न देता लेकिन चक्रधर जैसे सामन्ती नेता का दोगला व्यक्तित्व मजदूर अच्छी तरह समझ जाते हैं। संघर्षरत मजदूरों में संकल्प की जल्दबाजी उनकी हिंसावृत्ति पर अंकुश नहीं रख पाती किन्तु गांधीवादी चक्रधर उनका आक्रोश अहिंसात्मक आन्दोलन में बदल देता है। मजदूर इससे असंतुष्ट रह उलाहना देते हैं-"भैया तुम सान्त सान्त बका करते हो। सान्त रहने से तो और हमारी दुरगत होती है। हमें मारना सिखाओ तभी हमारा कल्याण कर सकोगे।"[194]" प्रेमचंद बराबर उस सच्चाई को दिखाते हैं कि वर्ग संघर्ष को वर्ग सहयोग की ओर मोड़ने वाला सामन्ती नेतृत्व हर जगह आड़े आता है परन्तु इस नेतृत्व से जनता का मोहभंग होना आरम्भ हो चुका है। तभी जेल के असंतुष्ट कैदी दरोगा के विरुद्ध संघर्षरत दिखायी देते हैं। सहसा धन्नासिंह ने कहा-"जब वह रोज गालियां देता है, हण्टर जमाता है तो ईश्वर कहां सोया रहता है जो इस समय जाग पड़ा..... फिर एक-एक सिपाही पर दस-दस कैदी टूट पड़े और दम के दम में उनकी बन्दूकें छीन ली।"[195]" निश्चय ही इसका परिणाम आशाजनक होता किन्तु चक्रधर का गांधीवादी नेतृत्व इसे असफल कर देता है। असफलता का यह चित्रण प्रेमचंद की ऐतिहासिक ईमानदारी है। संघर्ष को सहयोग के भंवर में डालकर लीपा पोती करने के बावजूद उभरा जनाक्रोश दिखाकर प्रेमचंद वर्ग सहयोग की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं और भावी वर्ग संघर्ष का संकेत करते हैं, सशक्त क्रांति को न चित्रित कर वह आतंकवादी कहलाने से बचते हैं। लेखों में प्रेमचंद सहयोग और संघर्ष दोनों का महत्त्व स्वीकार करते हैं-"जीवन के लिए संघर्ष का उतना ही महत्व है जितना सहयोग का, संघर्ष पशुता का लक्षण है, सहयोग मानवता का।"[196]" वह स्वीकार करते हैं कि संघर्ष तो पश्चिमी संस्कृति का मूलतत्व है और अहिंसा तथा सहयोग भारतीय संस्कृति का। एक लेख में वह लिखते भी हैं-"हमारी संस्कृति का मूलतत्त्व अहिंसा है। पश्चिम की संस्कृति का मूलतत्त्व संघर्ष है।"[197]" ध्यातव्य है कि प्रेमचंद गांधीवादी अहिंसा को भ्रांतिपूर्ण मानते हैं और

'प्रेमाश्रम' से ही रूसी क्रांति से प्रभावित किसानों का चित्रण करते दिखायी देते हैं। जाहिर है कि प्रेमचंद का झुकाव संघर्ष की ओर है किन्तु सहयोग की रचनात्मक परिणति रचनाकार की सामयिक यथार्थवादिता का आग्रह ही है, अर्थात् तत्कालीन गांधीवादी नेतृत्व की सच्चाई का चित्रण।

'निर्मला' में भी वर्ग विरोध का संकेत है। बाबू भालचन्द्र का नौकर बेगार का विरोध करता है-''सरकार ई तना की नौकरी हमारे कीन ना होई।''[198] यह संकेत परम्परा को खण्डित होने से बचाता है क्योंकि वर्गविरोध प्रत्येक उपन्यास में है। निर्मला भी मरते समय पुरूष वर्ग के शोषण का विरोध करती है।

'गबन' में देवीदीन खटिक स्वराजी नेताओं का पर्दाफाश करता है। वह पुलिस शोषण का विरोध करता है और रमानाथ से दृढ़ रहने का आग्रह करता है और सच कहने से नहीं डरता। उसके दो जवान लड़के आंदोलन में भाग लेकर मर चुके थे। रमा स्वीकार करता है-''बहुमत भविष्य में किसानों-मजदूरों का ही होगा।'' यहाँ मध्यवित्त वर्गीय अन्तर्विरोध का चित्रण है। रमानाथ पुलिस का विरोध नहीं करता बल्कि साजिश में सहयोग करता है जब कि पत्नी जालपा खुला विरोध करती है। यह एक ही वर्ग के स्वार्थ और कर्तव्य का अन्तर्विरोध है। पति सहयोग करता है स्वार्थ के लिए और पत्नी विरोध करती है कर्तव्य पर दृढ़ रहने के लिए। प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि शोषक शासक वर्ग के शिकंजे में फँसकर मध्यवर्गीय व्यक्ति वर्गसंघर्ष में बाधक है। बुद्धिजीवी होने के कारण वह शोषण की मजबूत गिरफ्त महसूस करता है अतः ऊबकर जलना नहीं चाहता बल्कि अपनी कुशल चुपचाप भोग विलास की ओर बढ़ते हुए उच्च वर्ग के समीपस्थ बने रहने में समझता है। जाति वर्ग की समस्या यहां भी यथावत है। हर जाति का महत्वाकांक्षी व्यक्ति स्वतंत्र पेशा अपनाकर शोषक वर्ग में शामिल होना चाहता है। गंगू ब्राह्मण सर्राफ की दुकान करता है। जाति शोषण में सहायक है। समाज में जाति का वर्णगत महत्व विद्यमान है तभी अपने को ब्राह्मण बता कर रमानाथ देवीदीन खटिक के यहां सम्मान प्राप्त करता है। देवीदीन की स्त्री भी विरादरी के खान पान के अंकुश की बात करती है। मानना होगा कि वर्गसंघर्ष की विश्वसनीयता ''गबन'' में भी है तभी रमा कहता है-''आगे चल कर किसानों मजदूरों का ही राज होगा।''[198]

''कर्मभूमि'' में वर्गविरोध तथा वर्गसंघर्ष का विस्तृत चित्रण है। गाँधी की प्रभावान्विति पूरे उपन्यास में है किन्तु वर्गसंघर्ष की परिपक्वता की भी पूरी

गारण्टी प्रेमचंद देते हैं। यहां किसान मजदूर दृढ़ और शक्तिशाली हो गये हैं जो गोलियों की परवाह नहीं करते। इसीलिए डॉ0 शांतिकुमार के अंग्रेजों की गोली से घायल होकर गिरते ही दूर से तमाशा देखने वाले मजदूर गोरों पर टूट पड़ते हैं इसके पहले कि वह तीसरी गोली चलाता उस पर डण्डों की वर्षा होने लगी और एक क्षण में वह आहत होकर गिर पड़ा।"200" यह वर्गसंघर्ष के लिए तैयार होते हुए भारतीय जन का यथार्थ चित्र है। मि0 गजनवी इंकलाब का पक्षधर है पर अफसर के नाते विरोध नहीं करता। लेकिन यह उसके अन्तर्मन का संघर्ष है और भारतीय जन की समूची मानसिकता को जाहिर करता है।"कर्मभूमि" की सभी नारियाँ विरोध करती हैं- पुरूष वर्ग के शोषण का तथा शोषकों का भी। सलोनी तो हाकिम सलीम के मुँह पर थूक देती है। पठानिन सामन्त पूंजीपति अमरकांत को चारित्रिक पतन पर ललकारती हुयी मुहल्ले के दलित गरीब किन्तु स्वाभिमानी युवकों द्वारा उसकी बोटी तक काटने की चुनौती देती है। सभी गरीब नारियाँ तथा पुरूष शोषण का व्यापक विरोध करते हैं और संघर्ष के लिए भी उद्यत हो जाते हैं। डॉ0 शांतिकुमार सामन्तों पूँजीपतियों के शोषण के विरुद्ध जनता को जागृत करते हुए उनका प्राप्य दिलाते हैं, जनता लगान बंदी के लिए आंदोलन करती है और हिंसात्मक नीति को चरितार्थ करना बेहतर मानती है किन्तु अमर उसकी सफलता से आशंकित हो आन्दोलन का रूख मोड़ देता है। यह बात सलोनी जैसी नीच अशिक्षित बुढ़िया भी समझती है।

म्युनिसिपैलिटी की जमीन के लिए जो संघर्ष होता है वह सुलझा हुआ और व्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ता है। स्पष्ट है कि जनता प्राप्य के प्रति कितनी आतुर है "उस जमीन पर दिन भर जनता की भीड़ लगी रहती है। कुछ लोग रात को वहाँ सोते हैं। एक दिन तो रातों रात वहां सैकड़ों झोपड़े खड़े हो गये। एक दिन म्युनिसिपैलिटी द्वारा जमा किया हुआ सारा समान रातों रात उड़ गया। ईंट बिखेर दी गयीं। चूना मिट्टी में मिला दिया गया। तब से वहां किसी को मजदूर ही नहीं मिलते।"201" वर्ग संघर्ष की यह उत्तरोत्तर बढ़ती स्थिति वर्ग सहयोग के रूप में समाप्त हो जाती है। किसी तरह मंदिर भी खुल जाता है, जमीन भी मिल जाती है, पर शोषण का रवैया नहीं बदलता। सेवाश्रम ट्रस्ट का निर्माण किया जाता है और लगानबन्दी के लिए सामन्तों की एक कमेटी भी सरकार बनाती है जो "कर्मभूमि काल" की सच्चाई भी है किन्तु प्रेमचंद जिस वर्ग विरोध और संघर्ष के माध्यम से जागृति और जनशक्ति का

'प्रेमाश्रम' से ही रूसी क्रांति से प्रभावित किसानों का चित्रण करते दिखायी देते हैं। जाहिर है कि प्रेमचंद का झुकाव संघर्ष की ओर है किन्तु सहयोग की रचनात्मक परिणति रचनाकार की सामयिक यथार्थवादिता का आग्रह ही है, अर्थात् तत्कालीन गांधीवादी नेतृत्व की सच्चाई का चित्रण।

'निर्मला' में भी वर्ग विरोध का संकेत है। बाबू भालचन्द्र का नौकर बेगार का विरोध करता है-''सरकार ई तना की नौकरी हमारे कीन ना होई।''[198] यह संकेत परम्परा को खण्डित होने से बचाता है क्योंकि वर्गविरोध प्रत्येक उपन्यास में है। निर्मला भी मरते समय पुरूष वर्ग के शोषण का विरोध करती है।

'गबन' में देवीदीन खटिक स्वराजी नेताओं का पर्दाफाश करता है। वह पुलिस शोषण का विरोध करता है और रमानाथ से दृढ़ रहने का आग्रह करता है और सच कहने से नहीं डरता। उसके दो जवान लड़के आंदोलन में भाग लेकर मर चुके थे। रमा स्वीकार करता है-''बहुमत भविष्य में किसानों-मजदूरों का ही होगा।'' यहाँ मध्यवित्त वर्गीय अन्तर्विरोध का चित्रण है। रमानाथ पुलिस का विरोध नहीं करता बल्कि साजिश में सहयोग करता है जब कि पत्नी जालपा खुला विरोध करती है। यह एक ही वर्ग के स्वार्थ और कर्तव्य का अन्तर्विरोध है। पति सहयोग करता है स्वार्थ के लिए और पत्नी विरोध करती है कर्तव्य पर दृढ़ रहने के लिए। प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि शोषक शासक वर्ग के शिकंजे में फँसकर मध्यवर्गीय व्यक्ति वर्गसंघर्ष में बाधक है। बुद्धिजीवी होने के कारण वह शोषण की मजबूत गिरफ्त महसूस करता है अतः ऊबकर जलना नहीं चाहता बल्कि अपनी कुशल चुपचाप भोग विलास की ओर बढ़ते हुए उच्च वर्ग के समीपस्थ बने रहने में समझता है। जाति वर्ग की समस्या यहां भी यथावत है। हर जाति का महत्वाकांक्षी व्यक्ति स्वतंत्र पेशा अपनाकर शोषक वर्ग में शामिल होना चाहता है। गंगू ब्राह्मण सर्राफ की दुकान करता है। जाति शोषण में सहायक है। समाज में जाति का वर्णगत महत्व विद्यमान है तभी अपने को ब्राह्मण बता कर रमानाथ देवीदीन खटिक के यहां सम्मान प्राप्त करता है। देवीदीन की स्त्री भी विरादरी के खान पान के अंकुश की बात करती है। मानना होगा कि वर्गसंघर्ष की विश्वसनीयता ''गबन'' में भी है तभी रमा कहता है-''आगे चल कर किसानों मजदूरों का ही राज होगा।''[198]

''कर्मभूमि'' में वर्गविरोध तथा वर्गसंघर्ष का विस्तृत चित्रण है। गाँधी की प्रभावान्विति पूरे उपन्यास में है किन्तु वर्गसंघर्ष की परिपक्वता की भी पूरी

गारण्टी प्रेमचंद देते हैं। यहां किसान मजदूर दृढ़ और शक्तिशाली हो गये हैं जो गोलियों की परवाह नहीं करते। इसीलिए डॉ0 शांतिकुमार के अंग्रेजों की गोली से घायल होकर गिरते ही दूर से तमाशा देखने वाले मजदूर गोरों पर टूट पड़ते हैं इसके पहले कि वह तीसरी गोली चलाता उस पर डण्डों की वर्षा होने लगी और एक क्षण में वह आहत होकर गिर पड़ा।"[200]" यह वर्गसंघर्ष के लिए तैयार होते हुए भारतीय जन का यथार्थ चित्र है। मि0 गजनवी इंकलाब का पक्षधर है पर अफसर के नाते विरोध नहीं करता। लेकिन यह उसके अन्तर्मन का संघर्ष है और भारतीय जन की समूची मानसिकता को जाहिर करता है।"कर्मभूमि" की सभी नारियाँ विरोध करती हैं- पुरूष वर्ग के शोषण का तथा शोषकों का भी। सलोनी तो हाकिम सलीम के मुँह पर थूक देती है। पठानिन सामन्त पूंजीपति अमरकांत को चारित्रिक पतन पर ललकारती हुयी मुहल्ले के दलित गरीब किन्तु स्वाभिमानी युवकों द्वारा उसकी बोटी तक काटने की चुनौती देती है। सभी गरीब नारियाँ तथा पुरूष शोषण का व्यापक विरोध करते हैं और संघर्ष के लिए भी उद्यत हो जाते हैं। डॉ0 शांतिकुमार सामन्तों पूँजीपतियों के शोषण के विरुद्ध जनता को जागृत करते हुए उनका प्राप्य दिलाते हैं, जनता लगान बंदी के लिए आंदोलन करती है और हिंसात्मक नीति को चरितार्थ करना बेहतर मानती है किन्तु अमर उसकी सफलता से आशंकित हो आन्दोलन का रूख मोड़ देता है। यह बात सलोनी जैसी नीच अशिक्षित बुढ़िया भी समझती है।

म्युनिसिपैलिटी की जमीन के लिए जो संघर्ष होता है वह सुलझा हुआ और व्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ता है। स्पष्ट है कि जनता प्राप्य के प्रति कितनी आतुर है "उस जमीन पर दिन भर जनता की भीड़ लगी रहती है। कुछ लोग रात को वहाँ सोते हैं। एक दिन तो रातों रात वहां सैकड़ों झोपड़े खड़े हो गये। एक दिन म्युनिसिपैलिटी द्वारा जमा किया हुआ सारा समान रातों रात उड़ गया। ईंट बिखेर दी गयीं। चूना मिट्टी में मिला दिया गया। तब से वहां किसी को मजदूर ही नहीं मिलते।"[201]" वर्ग संघर्ष की यह उत्तरोत्तर बढ़ती स्थिति वर्ग सहयोग के रूप में समाप्त हो जाती है। किसी तरह मंदिर भी खुल जाता है, जमीन भी मिल जाती है, पर शोषण का रवैया नहीं बदलता। सेवाश्रम ट्रस्ट का निर्माण किया जाता है और लगानबन्दी के लिए सामन्तों की एक कमेटी भी सरकार बनाती है जो "कर्मभूमि काल" की सच्चाई भी है किन्तु प्रेमचंद जिस वर्ग विरोध और संघर्ष के माध्यम से जागृति और जनशक्ति का

अनुमान करते हैं वह वर्ग सहयोग के आरोपित हल से महत्तर संकेत देता है। भविष्य में वर्ग संघर्ष की सफलता की उम्मीद 'कर्मभूमि' में अधिक गहरी है क्योंकि जागृति इस कदर हो गयी है कि बालकों के झुण्ड सिपाहियों के झुण्ड पर पत्थर मारते हैं, उन्हें घायल कर मार भगाते हैं। यह आतंकवाद की विश्वसनीयता का संकेत भी है। ''प्रेमाश्रम'', ''रंगभूमि'' और ''कायाकल्प'' की तरह कई कहानियों में यही स्वर विद्यमान है। 1932 की कहानी ''डामुल का क़ैदी'' में पुलिस वाले कैदियों पर बन्दूक नहीं चलाते, जनसमूह हिंसात्मक हो कर उन्हें मुक्त करा लेता है-''इनका गिरफ्तार होना था कि एक हज़ार आदमियों का दल रेला मारकर मिल से निकल आया और कैदियों की तरफ लपका। कांसटेबलों ने देखा बन्दूक चलाने पर भी जान न बचेगी तो मुल्जिमों को छोड़ दिया और भाग खड़े हुए।''[202] 'मोटर की छींटें', 'रियासत का दीवान', 'मुफ्त का यश', तथा 'धिक्कार' और तमाम देश प्रेम संबंधी कहानियों में वर्ग विरोध स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त 'दूध का दाम', 'मृतक भोज', 'इस्तीफा', 'शिकारी राजकुमार', 'बलिदान', 'बांका जमींदार', तांगे वाले की बड़' आदि में भी वर्ग विरोध कहीं सांकेतिक, कहीं क्रियात्मक रूप से व्यक्त हुआ है। 'जेल' कहानी में किसान आंदोलन होता है, जमींदार लगान वसूलने से इंकार कर देते हैं और उग्र किसान समूह पुलिस पर धावा बोलता है। ''संग्राम'' नाटक में किसान-जमींदार वर्ग संघर्ष की स्थिति ज्यादा स्पष्ट है।

दया नारायण निगम के पत्र में प्रेमचंद मन की बात लिखते हैं-''मैं तो उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोतहुन्नास की सियासी तालीम को अपना दस्तूर उल अमल बनाए।''[203] वर्ग सहयोग की हिमायत प्रेमचंद गांधी और कांग्रेस के सिद्धान्तों के प्रभाव से ही 'कर्मभूमि' तक ही करते हैं, उन्हें अंत तक समझौता से कोई आशा दिखती है। इसीलिए कांग्रेस और सोशलिज्म नामक लेख में स्पष्ट करते हैं-''कांग्रेस सम्पत्तिधारियों से ख्वामख्वाह झगड़ा करने की इच्छुक नहीं। उसका वहुत बड़ा बहुमत अभी महात्मा गांधी के साथ हृदय परिवर्तन का समर्थक है, रक्तमय क्रांति का नहीं। पं० जवाहर लाल सोशलिस्ट हैं जैसे प्रायः सभी कांग्रेस मैन हैं, व्यवहार से हों न हों पर विचार से हैं और सोशलिस्ट जायदाद वालों का दोस्त नहीं होता चाहे दुश्मन न हो।''[204] वह सत्याग्रह को युद्ध नहीं मानते, इसीलिए बार-बार सत्याग्रह की उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। एक जगह लिखते हैं-''सत्याग्रह युद्ध नहीं है जैसे अदालत की मुकदमेबाजी।''[205] स्पष्ट है कि जिस तरह मुकदमेबाजी

के बावजूद न्याय नहीं मिलता और समय खिंचता जाता है, परेशानियाँ बनी रहती हैं वैसे सत्याग्रह से न तो न्याय मिलता है न तो शोषण का अंत होता है। कदाचित 'गोदान' में आकर इसीलिए प्रेमचंद सत्याग्रह को तिलांजति दे देते हैं।

"कर्मभूमि" में भी जाति और वर्ग की स्थितियां स्पष्ट हैं। जातीय बंधन उच्च वर्ग के मनुष्य के लिए भी हैं; वे बिरादरी से ऊँचे नहीं हो पाते। समरकांत जैसे पूंजीपति का विरादरी विरोध करती है, जब उसका पुत्र अमरकांत सकीना से प्रेम करके शादी के लिए तत्पर होता है। जातिगत कठोरता वर्गीय महत्ता के समक्ष लाचार नहीं पड़ती। यह अवश्य है कि जाति-बिरादरी का यह दबाव कुछ पक्षपात पूर्ण अवश्य है क्योंकि समरकांत को बाद में पूर्ववत सामाजिक सम्मान प्राप्त हो जाता है जैसे "गोदान" के झिंगुरी सिंह, दातादीन और नोखेराम को; जबकि होरी जैसे गरीब से डाँड़ दिलवाया जाता है और प्रायश्चित करवाया जाता है। यह इसलिए होता है कि बिरादरी पर सम्पत्ति वालों का प्रभाव होता है। लेकिन थोड़ी सी शिथिलता के बावजूद बिरादरी की कठोरता और सिद्धान्त एक जैसे रहते हैं। गोदान में ब्राह्मण मातादीन द्वारा चमारिन बैठा लेने पर हिन्दू समाज बहिष्कार कर देता है, प्रायश्चित का दण्ड दिलवाया जाता है। केवल मामूली प्रायश्चित से ही सही पर दण्ड उसे अवश्य मिलता है लेकिन जनता उसे धार्मिक आग्रह वश सम्मान देती हुई भी कभी पवित्र समझ नहीं पाती-"यद्यपि ब्राह्मणों ने उसका ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लिया किन्तु जनता अब भी उसके हाथ का पानी नहीं पीती। मुर्हूत पूछती है, दान देती हैं पर उससे अपने बरतन नहीं छुलाती। वर्णगत उच्चता को समाज में महत्व दिया जाता है जिसका लाभ उठाकर ब्राह्मण जनता का धार्मिक और आर्थिक रूप में दोहरा शोषण करता है। होरी जैसा किसान इसीलिए धर्म भय से दातादीन का विरोध नहीं करता। किंतु पापी को कभी क्षमा नहीं करता।

प्रेमचंद जाति व्यवस्था के प्रति कुछ ध्वंसात्मक संकेत देते हैं। भविष्य में औद्योगीकरण के कारण जाति बन्धन ढीले हो जायेंगे, जातियाँ संक्रमण करने लगेंगी, पूंजीवादी समाज में पेशेवर जातियों के लिए खतरा पैदा हो गया है। आंदोलन से इसीलिए वह भयाक्रांत हैं कि उनका पेशा दूसरी जातियाँ न हड़प लें। बिरादरी का चौधरी डिटेक्टर होता है क्योंकि वह स्वयं पूंजीपति होता है। उनका वर्गीय स्वार्थ बिरादरी से कम, वर्ण से अधिक होता है। सुमेर चौधरी के विषय में प्रेमचंद लिखते हैं-"सुमेर की जूते की दुकान थी, तीन-चार

चमार नौकर थे। खुद जूते काट दिया करता था। मजूरी से पूंजीपति बन गया था। पास वालों और रईसों को सूद पर रूपये भी उधार दिया करता था।[206]" कर्मभूमि की पेशेवर जातियाँ सत्याग्रह करने से कतराती हैं क्योंकि उन्हें अपना पेशा छिन जाने का डर है। सुमेर चौधरी जैसे जातीय मुखिया एक ओर पूंजीपति वर्ग के साथ हैं तो दूसरी ओर लोगों को अनैतिक कार्य करने पर दण्ड देते हैं। लेकिन जहाँ जाति और वर्ग दोनों में से एक को चुनने की स्थिति आती है, जाति भूल कर वर्ग का साथ देते हैं इसीलिए शोषण करते समय वह जाति का ध्यान नहीं देते। उनके लिए सारे शोषित एक जैसे भोज्य हैं। वह आंदोलन हिंसात्मक नहीं होने देते। वे जाति वालों से मिल कर नेतृत्व सफल बनाने का भ्रम पाले रहकर अपने वर्गीय स्वार्थ की हिफाजत के लिए संघर्ष को सहयोग की ओर मोड़ देते हैं।

"कर्मभूमि" में सभी जातियों की शोषित जनता आंदोलन में भाग लेती है। सुखदा, सकीना, नोहरी और मुन्नी सभी जाति, धर्म भूल कर एक साथ उठती बैठती हैं। कहानियों में "मैकू", "दुस्साहस", "जेल", "समर यात्रा", "जुलूस" आदि में आंदोलनकारियों के मध्य जाति वर्ण की दीवार नहीं रहती लेकिन सामाजिक मान्यताएं इतनी शिथिल नहीं हैं। सामान्य सर्वण तो चमार को अछूत समझता है। विवाह के लिए भी जाति और वर्ण की कठोरता बनी है। "कायर" का ब्राह्मण युवक क्षत्राणी से शादी नहीं कर पाता, "सौभाग्य के कोड़े" में विवाह पश्चात् सामाजिक उत्पीड़न का वर्णन है। "त्यागी का प्रेम" में प्रेम होते हुए भी विवाह नहीं हो पाता। "रंगभूमि" में विनय और सोफिया, "कर्मभूमि" में अमर और सकीना में प्रेम पश्चात् भी सामाजिक जातिगत बन्धनों के कारण विवाह नहीं हो पाता लेकिन पश्चिमी प्रभाव के कारण बदलते भारतीय परिवेश में जाति बन्धन ढीला होता दिखता है। कहानी "सुभागी" में गुण के आधार पर अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न होता है। इसी तरह 'विश्वास' में भी अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति मिलती है। एक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं-"जाति के बंधन इस कल कारखानों के युग में बहुत दिन तक नहीं रह सकते। राष्ट्रीयता इन भावों को तोड़े डालती है।[207]" जाति बन्धन को वर्ग संघर्ष के मार्ग से हटाने का कार्य कांग्रेस के माध्यम से हुआ। इसे प्रेमचंद एक लेख में स्वीकार करते हैं-"कांग्रेस गरीबों की संस्था है। वर्ग जाति वर्ण आदि के भेदों को उसने बिल्कुल मिटा दिया है।[208]" जातियों के संक्रमण का संकेत

"गोदान" का गूदड़ चौधरी करता है-"लड़कों को पढ़ने शहर भेज देंगे। वहाँ जात बिरादरी कौन पूछता है; लिख दिया हम छत्तरी हैं।"

"सेवासदन" से चलकर विकसित होता हुआ वर्ग विरोध और वर्ग संघर्ष गोदान में ज्यादा साफ नजर आता है। बेगार कम मजदूरी पर काम करने से इंकार करते हैं। यह वर्ग विरोध मात्र है किन्तु खन्ना की गन्ना मिल में मजदूरों की योजनाबद्ध चतुरतापूर्ण हड़ताल वर्ग संघर्ष का एक विकसित रूप है। खन्ना यह देख कर चौंकते भी हैं कि मजदूर दंगा फसाद पर आमादा हैं। गोबर भी जमींदारों का विरोध करता है, उसकी माँ धनिया भी। मातादीन और चमारों के उत्तेजित दल का जो प्रसंग प्रेमचंद उठाते हैं उसमें वर्ग विरोध से अधिक वर्ग संघर्ष की स्थिति बनती है। खोजा जाय तो वर्ग संघर्ष के तमाम अवयव गन्ना मिल के मजदूर संघर्ष में ही मिल जायेंगे। मजदूरों को डर संघ के नेताओं से है। ये नेता मजदूरों के बीच के शोषित मजदूर नहीं है बल्कि मिर्जा खुर्शीद जैसे सामाजिक दलाल है जो कौंसिल के मेम्बर हैं, संघ के सभापति हैं और बिजली पत्र के सम्पादक ओंकारनाथ मजदूर संघ के मंत्री है। पूंजीपति वर्ग को अपना अस्तित्व स्वीकार कराने के लिए ही से नेता वर्ग संघर्ष चाहते हैं। पूंजीपति इन नेताओं को मुहमाँगा धन प्रदान कर संघर्ष में अंकुश लगाने की याचना करते हैं। इन नेताओं का काम आग लगा कर बगल हट जाना है। जब मिल में फौजदारी होती है, सम्पादक भाग खड़े होते हैं और बेचारे गोबर जैसे मजदूर लोग पिटते हैं। मिल मालिक खन्ना सोचते हैं-"मजदूरों का कोई कसूर नहीं। वे तो मूर्ख हैं। बछिया के ताऊ। शरारत तो ओंकरनाथ और मिर्जा खुर्शीद की है। यही लोग उन बेचारों को कठपुतली की तरह नचा रहे हैं। केवल थोड़े से पैसे और यश के लोभ में पड़ कर। खुर्शीद भी एक दिन लखपती थे। ओंकरनाथ का पत्र नहीं चलता तो बेचारे खन्ना क्या करें।"[209]" तात्पर्य यह कि नेतृत्व मजदूरों के हाथ नहीं है और संघर्ष की पहचान भी मजदूरों में नहीं है, उनमें केवल जागृति है, साहस है और संगठन; जिसका नेताओं ने स्वार्थ साधन के लिए इस्तेमाल किया है। हड़ताल की दांवपेंच में नेता और पूंजीपति माहिर हैं। मजदूर नेता इस घात में रहते हैं कि जब माल समाप्त हो तभी हड़ताल करें ताकि मालिक विवश होकर माँगें स्वीकार कर लें किन्तु मिल मालिक उनसे भी चालाक हैं क्योंकि समूचा शोषण तंत्र उनके साथ है। मिल के डायरेक्टर जानते थे कि हड़ताल से मिल को हानि कम लाभ अधिक होगा इसलिए हड़ताल का अवसर खोजते थे। एक

दिन मजदूरी कम करने की घोषणा कर हड़ताल की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, विवश होकर मजदूरों को हड़ताल करनी पड़ती है क्योंकि उस समय मिल के पास माल प्रचुर मात्रा में तैयार रहता है। ऐसे नाजुक समय में लम्बे समय तक बिना वेतन के मजदूर हड़ताल नहीं कर सकते। उनमें भुखमरी की स्थिति आनी स्वाभाविक है। मिल मालिक इसलिए झुकते नहीं क्योंकि कम से कम वेतन पर काम करने वाले बेरोजगारों की लम्बी कतार मिल के बाहर प्रतीक्षारत रहती है। ये नये बेरोजगार मजदूर पुराने मजदूरों से फौजदारी करके मिल में काम करने को व्यग्र दिखायी देते हैं। अंततः भुखमरी और तंगी के कारण तथा मिल मालिक के न झुकने के कारण पुराने मजदूर समझौता करते हैं। मिल मालिक इन पराजित पुराने मजदूरों को कम से कम मजदूरी पर रख देते है क्योंकि अनुभवी मजदूर अधिक मजदूरी पर भी अनुभव शून्य मजदूरों से ठोस कार्य करते हैं। इस तरह आंदोलन समझौता के रूप में समाप्त होता है। हां, नेताओं से मजदूरों का विश्वास भंग हो जाता है। यह उनके निरन्तर बढ़ते सूझ-बूझ का परिचायक है और भारत के तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का भी।

खन्ना की मिल में आग लगवा कर प्रेमचंद औद्योगीकरण का विरोध नहीं प्रकट करते, वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करते हैं। मजदूर समझौते पर बाध्य होते हैं। सारी मिल जला कर भी शोषक खन्ना का अंत नहीं होता बल्कि खन्ना दूसरी मिल खड़ी करते हैं। वर्ग संघर्ष की पराजय तथा समझौते की बाध्यता के माध्यम से प्रेमचंद पूंजीपति वर्ग की अजेयता ही प्रकट करते हैं और भारत में वर्ग संघर्ष की जमीन उपयुक्त नहीं पाते। वह ज़िस वर्ग संघर्ष की परिकल्पना करते थे उस अहिंसात्मक वर्ग संघर्ष की विकास यात्रा की अन्तेष्टि हो जाती है। यह निराशामय अंत वर्ग संघर्ष की नयी जमीन तैयार करने की प्रेरणा देता है जो "मंगलसूत्र" में प्रकट होता है। "गोदान" की मिल हड़ताल की गूँज प्रेमचंद की एक टिप्पणी "बम्बई में मजदूरों की हड़ताल" में सुनायी पड़ती है, वह लिखते हैं-"बम्बई के मजदूरों की हड़ताल अभी जारी है और उसका क्षेत्र दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। नागपुर और दिल्ली में कई मिलें बंद हो गयी हैं। मजदूरों पर कई बार लाठी चार्ज हो चुके हैं। गोलियां भी चली हैं। मजदूरों की मजदूरी घटायी जा रही है। अब तो उसे तब ही संतोष होगा कि मिल के प्रबन्धन में उसके प्रतिनिधि भी रहें।"[210] अपने एक पत्र में वह अपने प्रेस की मजदूर हड़ताल का वर्णन करते हुए सहानुभूति

दिखाते हैं। 1934 ई0 को इन्द्रनाथ मदान को लिखे गये पत्र में प्रेमचंद क्रांति पर शंका उठाते हैं-"मैं सामाजिक विकास पर विश्वास करता हूं। हमारा उद्देश्य जनमत को शिक्षित करना है। क्रांति ज्यादा समझदार उपायों की विफलता का नाम है। मेरा आदर्श समाज वह है जिसमें सब को समान अवसर मिले। विकास को छोड़कर और किस जरिये से हम इस मंजिल पर पहुंच सकते हैं। कोई समाज व्यवस्था नहीं पनप सकती जब तक कि हम व्यक्तिशः उन्नत न हों। कहना संदेहास्पद है कि क्रांति से हम कहाँ पहुँचेंगे। यह हो सकता है कि उसके जरिये हम और भी बुरे डिक्टेटरशिप पर पहुंचे। जिसमें रंचमात्र व्यक्ति स्वातंत्रय न हो। मैं रंग-ढंग सब बदल देना चाहता हूँ पर ध्वंस नहीं करना चाहता अगर मुझमें पूर्व ज्ञान की शक्ति होती और मैं समझता कि ध्वंस के जरिये हम स्वर्गलोक में पहुंच जायेंगे तो मैं ध्वंस करने में भी आगा-पीछा न करता।"[211]

स्पष्ट है, प्रेमचंद क्रांति के प्रति पूर्ण विश्वस्त नहीं हैं। वर्ग सहयोग पर भी इसी तरह पूर्ण विश्वस्त नहीं दिखते। लेकिन "मंगलसूत्र" में यह अन्तर्विरोध नहीं मिलता बल्कि यहां सशस्त्र क्रांति का उन्मुक्त समर्थन करते हैं-"दरिन्दों के बीच उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधने होंगे।"[212] अब तक का वर्ग संघर्ष प्रेमचंद शस्त्रहीन दिखाते हैं और मंगलसूत्र में उस कमी को पूर्ण करके मानों सशस्त्र क्रांति का विगुल फूँकते हैं। 1933 ई0 के एक लेख "अन्धा पूंजीवाद" में भी ऐसा ही विचार प्रकट करते हैं-"इस खूंखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।"[213]

उपन्यास में जहां प्रेमचंद आतंकवादी चरित्रों का गठन करते हैं, वहां भी वह सशस्त्र संघर्ष के विषय में थोड़ी देर सोचते अवश्य हैं। "कातिल" (1934 से पूर्व) कहानी में सुभाषचंद बोस की नीतियों का समर्थन करते हुए रूसी वर्ग संघर्ष का आह्वान करते हैं। 'कातिल' का युवक कहता है-"अगर आज हिन्दुस्तान के एक हजार अंग्रेज कत्ल कर दिए जायें तो आज हमें स्वराज्य मिल जाय। रूस इसी तरह आजाद हुआ, आयरलैण्ड भी इसी तरह आजाद हुआ। हिन्दुस्तान भी इसी तरह आजाद होगा और कोई तरीका नहीं। तुम जिस काम को पाप समझती हो, मैं उसे पुण्य समझता हूँ। कृष्ण भगवान ने गीता में साफ कहा है कि-"मारने वाला मैं हूँ जिलाने वाला मैं हूँ आदमी न किसी को मार सकता है न जिला सकता है। फिर कहाँ रहा तुम्हारा पाप।"[214] यह "गोदान" काल की कहानी है और इसी वर्ष एक लेख "सुदिन

अथवा कुदिन" में यही आग्रह प्रेमचंद व्यक्त करते हैं- "सभापति श्रीयुत सुभाषचंद बोस का भाषण कितना उग्र था। बोस बाबू ने गांधी जी के नेतृत्व को असामयिक बताया। 1931 की संधि को राष्ट्र की सबसे बड़ी भूल कहा। भाषण पर टीका करता हुआ फ्री प्रेस जनरल जो विचार प्रकट करता है उससे हम सहमत हैं। पत्र का कथन है कि-"देश के जिन नवयुवकों की ओर से मि0 बोस बोल रहे हैं वह ऐसे नेतृत्व से संतुष्ट नहीं रह सकता जो बार-बार समझौता करता चलेगा।"[215] एक अन्य टिप्पणी में युवकों की आतंकवादी प्रवृत्तियों की सामयिकता का उल्लेख प्रेमचंद करते हैं। जैसा पूर्व उल्लिखित है, प्रेमचंद अनेक जीवनियों, लेखों और उपन्यासों में प्रत्यक्ष परोक्ष आतंक का स्वागत करते लगते हैं। दूसरी ओर आतंकवाद, सशस्त्र क्रांति का विरोध भी करते हैं। माना जा सकता है कि इस विषय में प्रेमचंद की स्थिति सदैव असमंजस की रही है। इन्द्रनाथ मदान का पत्र व अन्धा पूंजीवाद नामक लेख, कातिल नामक कहानी तथा उपन्यास मंगलसूत्र के तेवर का पैनापन इसी असमंजस को प्रकट करते हैं। निश्चित रूप से उनकी मान्यता का यह अन्तर्विरोध गोदान तक विद्यमान है लेकिन "मंगलसूत्र" में दृष्टि साफ दिखायी देती है और वह सशस्त्र क्रांति का मुक्त आह्वान करते हैं। प्रेमचंद में वर्ग सहयोग की आस्था गांधीवादी प्रभाव और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में अनचाहे ही बार-बार सजीव हो उठती है किन्तु साथ ही वर्ग संघर्ष व हिंसात्मक क्रांति की ऐतिहासिकता को प्रेमचंद नकार नहीं सके हैं। "सोजेवतन" से "गोदान" तक यह आग्रह विद्यमान है और उत्तरोत्तर प्रबल होता गया है तथा "सेवासदन" का चेतू, "प्रेमाश्रम" के बलराज, मनोहर, दुखरन भगत, "रंगभूमि" के बजंरगी , मिठुवा, वीरपाल सिंह तथा सिविल नाफरमानी करने वाले सैनिक, 'कायाकल्प' के धन्नासिंह, अन्य कैदी तथा संघर्षरत जनसमूह, "कर्मभूमि" के सत्याग्रही, "गोदान" का मिल मजदूर संघर्ष, अनेक कहानियों का संघर्षमय चित्रण व लेखा जोखा प्रस्तुत करती अनेक टिप्पणियां सिद्ध करती हैं कि प्रेमचंद वर्ग संघर्ष के प्रति सचेत होकर भारतीय समाज में उसकी यथार्थ परक व्याख्या करते हैं। "मंगलसूत्र" व अन्धा पूंजीवाद दोनों में इसकी विधिवत घोषणा करते हैं। यही मूलतः प्रेमचंद की अनुभवी मानसिकता की परिपक्व उपज है। अतः उन्हें वर्ग संघर्ष की सम्भावना का आशामय चित्रण करने वाला ईमानदार कलाकार कहा जाना चाहिए।

भारतीय जन के बारे में दृष्टिकोण

(भारतीय किसान, मजदूर, सामन्त, जमींदार, धर्मों के ठेकेदार, महाजन, पूंजीपति, बैंकर, बुद्धिजीवी, मध्यवर्ग, अफसर शाही, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवादी सत्ता के सन्दर्भ में)

ब्रिटेन द्वारा भारत का शोषण साम्राज्यवादी नीति का परिणाम था। साम्राज्यवाद का अर्थ है साम्राज्य का विस्तार अर्थात् शक्तिशाली देश द्वारा कमजोर और अविकसित देश का औद्योगीकरण के पूँजीवादी माध्यम से धीरे-धीरे आर्थिक शोषण कर उस पर राजनैतिक अधिकार जमाना ताकि अविकसित देश उसके साम्राज्य का अभिन्न अंग बन जाय। अंग्रेजो ने भारत में औद्योगीकरण के माध्यम से जिस ब्रिटिश पूंजीवाद का विकास किया वह भारतीय सामन्तवादी व्यवस्था का ढांचा बदलने के बाद उत्पन्न हुआ था। बड़े-बड़े कल-कारखानों के द्वारा यहाँ के हस्तोद्योग नष्ट होते गये और भारत ब्रिटेन का माल खरीदने वाला उपनिवेश बन गया। प्रेमचंद ने अपने कई लेखों तथा टिप्पणियों में इस नीति का खुलासा किया है। साम्राज्यवादी देश उपनिवेश का शोषण करता है, पालन-पोषण नहीं। उसकी दृष्टि उपनिवेश की सम्पत्ति पर केन्द्रित रहती है। वह यहाँ के कच्चे माल के उत्पादन को प्रोत्साहन देता है, सस्ते दामों में खरीदता है और उससे निर्मित पक्के माल को भारी दाम में बेचता है। इस तरह उपनिवेश उसका माल खपाने वाला बाजार बन जाता है। यद्यपि मशीनों का बना माल उपनिवेश के हस्तोद्योग से निर्मित माल के लागत दाम से कम होता है और अच्छा होता है अतः जनता स्वदेशी माल की अपेक्षा कारखाने के सस्ते व अच्छे माल को ज्यादा खरीदती है। भारत के स्वदेशी आंदोलन में जनता स्वदेशी माल की अपेक्षा कारखाने के माल के प्रति अधिक आकर्षित दिखायी देती है। प्रेमचंद ने इस बात को समझा है-''अंग्रेजी शासन का उद्देश्य केवल एक है, और वह है भारत में अंग्रेजी व्यापार का प्रसार और शिक्षित अंग्रेज बेरोजगारों के लिए बड़ी-बड़ी जगहों का आयोजन।''[216] भारत ही नहीं विश्व की साम्राज्यवादी नीति की समझ प्रेमचंद में दिखलायी देती है। जापान की निन्दा करते हुए एक टिप्पणी में वह लिखते हैं-''जापान की साम्राज्य लिप्सा अब इतनी बढ़ गयी है कि थोड़े से उसका पेट भरने ही नहीं पाता। जापान चाहता है कि चीन के पूरे साम्राज्य पर अपना अधिकार जमा ले।''[217] प्रेमचंद ने स्वदेशी आंदोलन का विस्तृत चित्रण किया

है और उसके मार्ग में अनेक बाधाओं को समझा है। स्वराज्य आंदोलन को गतिशील और सफल बनाने के लिये सामन्ती पूंजीवादी नेतृत्व का हाथ होता है। इसमें उपनिवेशी जनता ही पीसी जाती है और सामन्ती पूंजीवादी वर्ग लाभ प्राप्त कर या तो साम्राज्यवादी औद्योगिक पूंजीवाद के बराबर आरूढ़ होता है और दोनों मिलकर शोषण करते हैं या क्रांतिकारी वर्ग संघर्ष की स्थिति में जनता के भारी बलिदानों के फलस्वरूप और स्वदेशी सामंती पूंजीवादी वर्ग के आंतरिक नेतृत्व के फलस्वरूप जो आजादी मिलती है वह पूंजीवाद की विजय होती है जो इतने अंतराल में औद्योगिक पूंजीवादी वर्ग बन जाता है। देश की सारी पूंजी इसी वर्ग के हाथों में केन्द्रित होती है। उपनिवेशी समाज में शोषण तंत्र भी पूंजीवाद के पास होता है। "रंगभूमि" में कुंवर भरत सिंह कहते हैं-"मैं अंग्रेजों की तरफ से निराश हो गया हूँ। रेल, तार, डाक, जहाज, ये सब विभूतियां अंग्रेजों के बगैर भी आ सकती थीं और अगर आयी भी हैं तो अधिकतर अंग्रेजों के लाभ के लिए।"[218] साम्राज्यवादी नीति की चर्चा एक लेख "जागृति" (1932) में प्रेमचंद कहते हैं-"व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद इस तरह एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं। व्यापारियों को अपने माल की खपत के लिए ऐसा बाजार चाहिए जहाँ उनका माल बेरोक-टोक बिक सके। इसलिए कुछ देशों को अपने अधीन रखना उनके लिए आवश्यक होता है। वर्तमान शासन व्यापारियों के ही हाथों में है।"[219] साम्राज्यवाद उपनिवेशी जनता का शोषण अप्रत्यक्ष रूप से करता है। जनता का सीधा सम्बन्ध जमींदार से होता है इसीलिए जन संघर्ष भी जमींदार के विरूद्ध चलता है। यद्यपि साम्राज्यवादी शासन जमींदार की हर सहायता अपने को बरक़रार रखने के लिए करता है क्योंकि आतंक और भय का कानून बनाकर ही जनता की जुझारू चेतना को कुंठित किया जाता है। "रंगभूमि" का मि० क्लार्क कहता है-"हमारा साम्राज्य तभी तक अजेय रह सकता है जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे। जब तक वह हमें अपना रक्षक, हित चिंतक और आश्रय समझती रहे। जिस दिन प्रजा की दृष्टि से हमारा विश्वास उठ जायेगा उसी दिन हमारे साम्राज्य का अंत हो जाएगा। जिस व्यक्ति से हमें क्षति की जरा भी शंका हो उसे हम कुचल डालना चाहते हैं।"[220] क्लार्क आगे अपनी नीति का सारांश बताता है-"अंग्रेजी राज्य भारत को अनन्तकाल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती हैं।"[221] साम्राज्यवाद इसी नीति के फलस्वरूप उपनिवेश की जनता का मन जीतने का प्रयास करता है। "प्रेमाश्रम"

के आरम्भ में होने वाला किसानों का वार्तालाप इसका प्रमाण है-"भाई हाकिम तो अंग्रेज, अगर यह न होते तो इस देश वाले हाकिम हम लोगों को पीसकर पी जाते। अंग्रेज मसक्कत करते हैं इसी से घी दूध उन्हें पच जाता है। रिश्वत का पैसा भारतीयों की देह फुला देता है।"[222] प्रेमाश्रम के राय कमलानंद भी साम्राज्यवादी सत्ता के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हैं-"अंग्रेज अगर दोनों हाथों से धन बटोरते हैं तो बटोरने दीजिए, वे इसी उद्देश्य से इस देश में आये हैं।"[223]

साम्राज्यवाद की दमनकारी नीति की प्रेमचंद कई लेखों में भर्त्सना करते हैं। "डंडा नीति" में पुलिस के अत्याचारों की व्यापक निंदा की है। भारत की भूमि पर किसान का अधिकार नहीं; सरकार का अधिकार होता था, सरकार निश्चित मालगुजारी पर जमींदार को भूमि दे देती थी, जमींदार किसान को अपनी मर्जी के अनुसार लगान बांध कर जमीन देता था। कुछ साल के बाद जमीन फिर से छीन लेता था या लगान न चुकाने पर कभी भी बेदखल कर सकता था। अंग्रेजों के पहले मुगल काल में शोषण का ढांचा सामंती था। जमींदार और जनता का सीधा संबंध सरकार से होता था। सरकार ही जनता को भूमि लगान पर देती थी, जमींदार केवल लगान वसूलने वाला राज्य का नौकर होता था, लगान की निश्चित राशि उपज के चौथाई भाग के रूप में उगाही जाती थी। सामन्त शासक प्रजा का हित साधन करता था क्योंकि उसका कष्ट उठाना और उपज करने में अक्षम स्थिति पैदा होना सरकारी कोष की कमी का आभास होता था। इसके अतिरिक्त वह अपनी कुछ मर्यादाओं का पालन भी करता था। "अकबर महान की जीवनी" में प्रजा की खुशहाली का वर्णन प्रेमचंद करते हैं।" उसने (अकबर ने) बड़ी ही दृढ़ता और बुद्धिमत्ता से एकबारगी उन सभी करों को उठा दिया जो राष्ट्र की उन्नति में बाधक थे या लोगों का दिल दुखाते थे। मालगुजारी के बन्दोबस्त के मुख्य सिद्धान्त यह हैं कि जोती-बोयी जाने वाली जमीन का रकबा निश्चित हो, लगान कुछ साल की औसत पैदावार के विचार से जमीन के उत्तम मध्यम होने का ध्यान रख कर ऐसी मध्यम दर से निश्चित की जाय कि किसान का अपनी जोत की जमीन के अतिरिक्त परती जमीन को लेने की भी प्रवृत्ति हो यह सिद्धान्ततः तो सरकार के लाभ की दृष्टि से आवश्यक है पर किसान का लाभ इसमें है कि जमीन पर उसको कब्जा करने का हक हासिल हो। जिसमें वह मन लगाकर उसको जोते-बोये। लगान की दर निश्चित हो जिससे अहलकारों को

उसे ज्यादा सताने का मौका न मिले और इतनी नरम हो कि हर साल उसे कुछ बचत होती रहे जिससे फसल मारे जाने पर आसानी से गुजारा कर सकें।"[224]

मुगल कालीन सामन्तवादी व्यवस्था पर साम्राज्यवाद का आक्रमण हुआ और व्यवस्था में भी भारी बदलाव आया। अंग्रेजी साम्राज्यवाद कायम हो जाने के बाद उन्हें साम्राज्यवादी नीतियों को भी लागू करना पड़ा। एक उपनिवेशी वर्ग की आवश्यकता हुई। यद्यपि सामंतवर्ग जनता का पुराना शोषक था इसलिए स्वत्व रक्षा के लिए उसने अंग्रेजों का साथ दिया। उसने जनता की हर हलचल के समय आगे आकर साम्राज्यवाद की तन-मन-धन से रक्षा की। अतः जमींदार वर्ग को हितैषी बना कर साम्राज्यवादी नीति सफलता की ओर बढ़ती गयी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने जमींदार वर्ग के अधिकारों में परिवर्तन किया ताकि शोषण का धन उन तक पहुंच भी जाय और बिचौलिया तथा माध्यम होने के नाते किसानों के आंदोलन का सामना भी जमींदारों को करना पड़े। "मंदिर और मस्जिद" कहानी के जमींदार अपनी जमींदारी का इतिहास बयान करते हैं "यह जागीर मेरे पुरखों को अंग्रेजों के यहां मजूरी में मिली था।[225]" "प्रेमाश्रम" के राय कमलानन्द भी यही हकीकत बताते हैं-"नवाबों के जमाने में किसी सूबेदार ने इस इलाके की आमदनी वसूल करने के लिए मेरे दादा को रखा था। मेरे पिता पर भी नवाबों की कृपा दृष्टि बनी रही इसके बाद अंग्रेजों का जमाना आया और यह अधिकार पिता जी के हाथों से निकल गया। लेकिन राजविद्रोह के समय पिता जी ने तन-मन से अंग्रेजों की सहायता की। शांति स्थापित होने पर हमें यही पुराना अधिकार फिर मिल गया। यही इस रियासत की हकीकत है। हम केवल लगान वसूलने के लिए रखे गये हैं। इसी दलाली के लिए हम एक दूसरे के खून से अपना हाथ रंगते हैं।"[226]

सामन्ती व्यवस्था में एक निश्चित रकम सरकार को देनी होती है चाहे किसी रूप में वसूल की जाय। जमीन पर अंग्रेजों का एक मात्र अधिकार होता था। जमींदार जमीन को किसानों को मालगुजारी और लगान पर दे देता था। किसी भी समय किसान को जमीन से बेदखल किया जा सकता था किंतु सरकार जब चाहे जमींदार से भी जमीन छीन सकती थी। इसलिए जमींदार सरकार के गुलाम होते थे। यद्यपि सरकार ने उन्हें किसानों को खेत से बेदखल करने का अधिकार दे दिया था इसलिए किसान पहली गुलामी जमींदार की करता था, दूसरी सरकार की। कुछ ऐसे भी किसान थे जिन्हें

सरकार से सीधे जमीनें दी गयी थीं किन्तु वे भी जमींदारों के मातहत ही थे। एक शिकायत पर बेदखली का परवाना आ जाता था। जमींदार निश्चित मालगुजारी वसूल कर सरकार को देने के लिए बाध्य था। अपने आमोद-प्रमोद के लिए भी धन की जरूरत थी इसलिए गैरकानूनी ढंग से किसानों से लगान लेता था और बेईमानी करता था। "प्रेमाश्रम" में ज्ञानशंकर ऐसा ही जमींदार है। "गोदान" के रायसाहब और उनके मातहत कारकुन किसानों के साथ बेईमानी करते हैं। पं० नोखेराम कारकून हैं, होरी और अन्य किसानों को लगान की रसीद नहीं देते, बाद में दुबारा लगान वसूल करते हैं, इसके अतिरिक्त बेगार, नजराना, शगुन तथा तिलक के अवसर पर मुफ्त की वस्तुओं की उगाही सख्ती से की जाती थी, यही शोषण का आधार था। "प्रेमाश्रम" के किसान बेगार का विरोध करते हैं और शगुन का चंदा देने से इंकार करते हैं। चेतू की मृत्यु भी इसी शोषण का परिणाम थी। किसानों का संघर्ष इसी बिन्दु से आरम्भ होता है। "प्रेमाश्रम" और "कायाकल्प" में इसका विस्तृत चित्रण है। जमींदारों को साम्राज्यवादी नीति के तहत ही अधिकार दिया गया था। इसलिये इस वर्ग के विरोध का मतलब साम्राज्यवाद का विरोध था। गाँधी-नेहरू आदि नेताओं की भांति प्रेमचंद भी चाहते थे कि जमींदार राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में जनता के साथ सहयोग देकर ही भविष्य में अपना अधिकार सुरक्षित रख सकेंगे अन्यथा जनता उनके वर्ग की समाप्ति कर देगी। इसीलिए अपनी टिप्पणियों में बार-बार प्रेमचंद जमींदारों से सहयोग की अपील करते हैं। "स्वराज्य से किसका अहित होगा" तथा "नयी परिस्थिति में जमींदारों का कर्तव्य" नामक टिप्पणियों में जमींदारों को सहानुभूति रखने की सलाह देते हैं-"जमींदारों का भविष्य अब अपने असामियों के सहयोग और सदिच्छा पर निर्भर है।"[227]

उपनिवेशवादी नीति का खुलासा करते हुए अन्य लेख "आगरा जमींदार सम्मेलन" में लिखते हैं-"दिल्लगी यह है कि आज भी जमींदार साहबान अपने को जमीन का मालिक मानते हैं। अंग्रेजी सरकार के पहले उनकी हैसियत दलालों की थी, जो बादशाह की ओर से लगान वसूलने के लिए रखे जाते थे और लगान अदा न कर सकने के कारण बाहर कर दिये जाते थे। अंग्रेजी राज्य में उनका मान बढ़ गया। सरकार को देश में एक ऐसे जत्थे की जरूरत थी जो प्रजा पर उसकी हुकूमत जमाने में सहायक हो। तब से यह लोग अपने

को जमीन का मालिक समझने लगे।"[228]" यही बात रचनात्मक लेखन में भी उठाते हैं।

प्रेमचंद महसूस करते है कि उपनिवेशी सत्ता में जमींदार जनता का शोषण करने को बाध्य हैं क्योंकि वे सामन्ती समाज से कई मायनों में भिन्न और परतंत्र हैं। सामन्ती-जमींदारी प्रतिष्ठा और मर्यादा की वस्तु थी। उस समाज में किसान से मित्रवत व्यवहार होता है, वह सुख-दुःख दोनो का साथी होता है। जमींदार उसका शोषण करने के साथ-साथ उसकी रक्षा भी करता है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों, कहानियों में ऐसे जमींदारों की सृष्टि भी की है। इस प्रकार के चित्रण से दो संकेत देते हैं- एक सामन्ती जमींदार का आदर्श बताकर वर्तमान समाज में उसकी उपेक्षा करना, दूसरा वर्ग संघर्ष का साम्राज्यवाद विरोधी रूख बनाने के लिए किसानों जमींदारों के भीतर समझ उत्पन्न करनी। 'संग्राम' नाटक का जमींदार सबलसिंह किसानों का हितैषी है। वह शोषक जमींदारों, महाजनों व साम्राज्यवादी शक्तियों की कलई खोलता है और किसानों को वर्ग संघर्ष के लिए तैयार करता है, उन्हें फिल्में दिखाता है तथा उपनिवेशवादी नीति की भर्त्सना करता है। वह अपना अस्तित्व किसानों की खुशहाली में ही देखता है, वह जानता है कि ज्यादा दबने से सरकार उसका शोषण करती रहेगी। वह समझता है कि बिना जमींदार वर्ग के सहयोग के सरकार स्थायी नहीं रह सकती। कदाचित् इसीलिए वह जागृति लाकर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जमींन किसानों के नाम कर देता है। वह कहता है "जमींदारों की बदौलत सरकार का राज कायम है। जब-जब सरकार पर कोई संकट पड़ा है जमींदारों ने ही उसकी मदद की है। आपकी हस्ती जमींदारों पर निर्भर करती है। मैं रैयत का मित्र बन कर रहना चाहता हूँ, शत्रु नहीं। मैं अपने देश-बन्धुओं के मानसिक और आत्मिक विकास का इच्छुक हूँ।" सारा जमींदर वर्ग यह तो महसूस करता है किन्तु ऐसा करने में अक्षम रहता है। वह अधिकार त्याग नहीं सकता क्योंकि एक दो के अधिकार त्याग से कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। उनका स्थान दूसरा जमींदार ले लेता है। जब तक समूचे वर्ग में यह भावना नहीं आती; असरदायी नहीं हो सकती। कहानी "बांका जमींदार" (1913) में जमींदार प्रद्युम्न सिंह जनता को जागृत करता है-"आपको मालूम हो कि यह गांव कई बार उजड़ा और कई बार बसा। उसका कारण यही था कि लोग मेरी कसौटी पर खरे नहीं उतरे थे। मेरी दिली आरजू यह थी कि इस गांव में वे लोग आबाद हों जो जुर्म का मर्दों

की तरह सामना करें, जो अपने अधिकारों और रियासतों की मर्दों की तरह हिफाजत करें। जो हुकूमत के गुलाम न हों। जो रोष और अख्तियार की तेज निगाह देखकर बच्चों की तरह डर से सहम न जायें। आज से यह आपकी मिल्कियत है।"[230]" कहानी "घमण्ड का पुतला" का जमींदार सज्जन सिंह भी ऐसा ही जमींदार है जो अंत संन्यासी हो जाता है।

"प्रेमाश्रम" में जमींदारों की तीन पीढ़ियां हैं-एक लाला प्रभाशंकर की, दूसरी ज्ञानशंकर और गायत्री की तथा तीसरी मायाशंकर की। प्रभाशंकर सामन्ती जमींदार हैं जो जनता का शोषण और हित चिंतन दोनों करते हैं। ज्ञानशंकर पूंजीवादी जमींदार हैं जो औपनिवेशिक नीति के गुलाम हैं। मायाशंकर का चित्रण प्रेमचंद आदर्श जमींदार के रूप में करते हैं जो प्रजा का हितैषी है। 'प्रेमाश्रम' का कादिर कहता है-"जब वह अपने लड़कों की तरह पालते थे रैयत भी हंसी खुशी बेगार करती थी।"[231]" प्रभाशंकर ऐसे ही सामंती जमींदार थे। लेकिन सामंती जमींदारी पर साम्राज्यवादी प्रभाव आने से ज्ञानशंकर की मनोवृत्ति बदल जाती है। प्रभाशंकर की उपमा प्रेमचंद खण्डहर की दीवार से देते हैं। कुलमर्यादा और देशाभिमान सामंती जमींदारों का गुण था। प्रभाशंकर कहते हैं-"यह जायदाद बनाने के नहीं बिगाड़ने के लक्षण हैं। अंतर इतना है कि हमने दूसरों के लिए बिगाड़ा तुम अपने लिए बिगाड़ोगे।"[232]" खिलाना, खाना और नाम के लिये मर जाना ही प्रभाशंकर की जमींदारी का उद्‌देश्य था। किन्तु ज्ञानशंकर उपनिवेशवादी सत्ता में रहने के कारण पूंजीवादी मनोवृत्ति का हो जाता है। यद्यपि किसान जमींदार का सामाजिक संबंध एक सा ही पूर्ववत बना रहता है किन्तु आर्थिक संबंधों में बदलाव आ जाता है। शोषण का धन सीधे अंग्रेज सरकार की जेब में जाता है और शोषण का कार्य जमींदार करता है। ज्ञानशंकर इसीलिए जमींदारी को साँप नचाने से कम नहीं मानता। गायत्री भी कहती है-"जमींदारी क्या है जी का जंजाल है, असामियों के इस आंदोलन से हलचल मची हुई है, शंका है कि छूट न हुई तो उत्पात होने लगेगा।"[233]" यह सम्बन्ध ही ऐसा है कि एक ओर तो प्रजा में भय, अविश्वास और आत्महीनता के भावों को पुष्ट करता है और दूसरी ओर जमींदारों को निर्दय, निरंकुश और अभिमानी बना देता है।"[234]"

जमींदार न केवल अंग्रेजी सरकार की गुलामी करता था बल्कि उनके कर्मचारियों, हाकिमों को भी प्रसन्न रखने की चेष्टा करता था। पोलिटिकल एजेण्ट के दौरे के समय जो नोच खसोट और धन का अपव्यय स्वागत की

को जमीन का मालिक समझने लगे।"[228] यही बात रचनात्मक लेखन में भी उठाते हैं।

प्रेमचंद महसूस करते है कि उपनिवेशी सत्ता में जमींदार जनता का शोषण करने को बाध्य हैं क्योंकि वे सामन्ती समाज से कई मायनों में भिन्न और परतंत्र हैं। सामन्ती-जमींदारी प्रतिष्ठा और मर्यादा की वस्तु थी। उस समाज में किसान से मित्रवत व्यवहार होता है, वह सुख-दु:ख दोनो का साथी होता है। जमींदार उसका शोषण करने के साथ-साथ उसकी रक्षा भी करता है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों, कहानियों में ऐसे जमींदारों की सृष्टि भी की है। इस प्रकार के चित्रण से दो संकेत देते हैं- एक सामन्ती जमींदार का आदर्श बताकर वर्तमान समाज में उसकी उपेक्षा करना, दूसरा वर्ग संघर्ष का साम्राज्यवाद विरोधी रूख बनाने के लिए किसानों जमींदारों के भीतर समझ उत्पन्न करनी। 'संग्राम' नाटक का जमींदार सबलसिंह किसानों का हितैषी है। वह शोषक जमींदारों, महाजनों व साम्राज्यवादी शक्तियों की कलई खोलता है और किसानों को वर्ग संघर्ष के लिए तैयार करता है, उन्हें फिल्में दिखाता है तथा उपनिवेशवादी नीति की भर्त्सना करता है। वह अपना अस्तित्व किसानों की खुशहाली में ही देखता है, वह जानता है कि ज्यादा दबने से सरकार उसका शोषण करती रहेगी। वह समझता है कि बिना जमींदार वर्ग के सहयोग के सरकार स्थायी नहीं रह सकती। कदाचित् इसीलिए वह जागृति लाकर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जमींन किसानों के नाम कर देता है। वह कहता है "जमींदारों की बदौलत सरकार का राज कायम है। जब-जब सरकार पर कोई संकट पड़ा है जमींदारों ने ही उसकी मदद की है। आपकी हस्ती जमींदारों पर निर्भर करती है। मैं रैयत का मित्र बन कर रहना चाहता हूँ, शत्रु नहीं। मैं अपने देश-बन्धुओं के मानसिक और आत्मिक विकास का इच्छुक हूँ।" सारा जमींदर वर्ग यह तो महसूस करता है किन्तु ऐसा करने में अक्षम रहता है। वह अधिकार त्याग नहीं सकता क्योंकि एक दो के अधिकार त्याग से कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। उनका स्थान दूसरा जमींदार ले लेता है। जब तक समूचे वर्ग में यह भावना नहीं आती; असरदायी नहीं हो सकती। कहानी "बांका जमींदार" (1913) में जमींदार प्रद्युम्न सिंह जनता को जागृत करता है-"आपको मालूम हो कि यह गांव कई बार उजड़ा और कई बार बसा। उसका कारण यही था कि लोग मेरी कसौटी पर खरे नहीं उतरे थे। मेरी दिली आरजू यह थी कि इस गांव में वे लोग आबाद हों जो जुर्म का मर्दों

की तरह सामना करें, जो अपने अधिकारों और रियासतों की मर्दों की तरह हिफाजत करें। जो हुकूमत के गुलाम न हों। जो रोष और अख्तियार की तेज निगाह देखकर बच्चों की तरह डर से सहम न जायें। आज से यह आपकी मिल्कियत है।"[230]" कहानी "घमण्ड का पुतला" का जमींदार सज्जन सिंह भी ऐसा ही जमींदार है जो अंत संन्यासी हो जाता है।

"प्रेमाश्रम" में जमींदारों की तीन पीढ़ियां हैं-एक लाला प्रभाशंकर की, दूसरी ज्ञानशंकर और गायत्री की तथा तीसरी मायाशंकर की। प्रभाशंकर सामन्ती जमींदार हैं जो जनता का शोषण और हित चिंतन दोनों करते हैं। ज्ञानशंकर पूंजीवादी जमींदार हैं जो औपनिवेशिक नीति के गुलाम हैं। मायाशंकर का चित्रण प्रेमचंद आदर्श जमींदार के रूप में करते हैं जो प्रजा का हितैषी है। 'प्रेमाश्रम' का कादिर कहता है-"जब वह अपने लड़कों की तरह पालते थे रैयत भी हंसी खुशी बेगार करती थी।"[231]" प्रभाशंकर ऐसे ही सामंती जमींदार थे। लेकिन सामंती जमींदारी पर साम्राज्यवादी प्रभाव आने से ज्ञानशंकर की मनोवृत्ति बदल जाती है। प्रभाशंकर की उपमा प्रेमचंद खण्डहर की दीवार से देते हैं। कुलमर्यादा और देशाभिमान सामंती जमींदारों का गुण था। प्रभाशंकर कहते हैं-"यह जायदाद बनाने के नहीं बिगाड़ने के लक्षण हैं। अंतर इतना है कि हमने दूसरों के लिए बिगाड़ा तुम अपने लिए बिगाड़ोगे।"[232]" खिलाना, खाना और नाम के लिये मर जाना ही प्रभाशंकर की जमींदारी का उद्देश्य था। किन्तु ज्ञानशंकर उपनिवेशवादी सत्ता में रहने के कारण पूंजीवादी मनोवृत्ति का हो जाता है। यद्यपि किसान जमींदार का सामाजिक संबंध एक सा ही पूर्ववत बना रहता है किन्तु आर्थिक संबंधों में बदलाव आ जाता है। शोषण का धन सीधे अंग्रेज सरकार की जेब में जाता है और शोषण का कार्य जमींदार करता है। ज्ञानशंकर इसीलिए जमींदारी को साँप नचाने से कम नहीं मानता। गायत्री भी कहती है-"जमींदारी क्या है जी का जंजाल है, असामियों के इस आंदोलन से हलचल मची हुई है, शंका है कि छूट न हुई तो उत्पात होने लगेगा।"[233]" यह सम्बन्ध ही ऐसा है कि एक ओर तो प्रजा में भय, अविश्वास और आत्महीनता के भावों को पुष्ट करता है और दूसरी ओर जमींदारों को निर्दय, निरंकुश और अभिमानी बना देता है।"[234]"

जमींदार न केवल अंग्रेजी सरकार की गुलामी करता था बल्कि उनके कर्मचारियों, हाकिमों को भी प्रसन्न रखने की चेष्टा करता था। पोलिटिकल एजेण्ट के दौरे के समय जो नोच खसोट और धन का अपव्यय स्वागत की

तैयारियों में होता था, सब किसान से चूसा जाता था। जमींदार हर स्तर पर एजेण्टों को प्रसन्न रखना अपना कर्तव्य समझता था। "कायाकल्प" में अंग्रेज हाकिम राजा विशाल सिंह को बूट की ठोकर मारता है। वहीं विशाल सिंह जो प्रजा का हित चाहता है और गद्दी के अवसर पर प्रजा से शगुन लेना अन्याय समझता है, जब सुनता है कि प्रजा उसके कर्मचारियों के शोषण का विरोध कर रही है; तुरन्त ही आपे से बाहर हो जाता है और कर्मचारियों के शोषण का समर्थन करता है-"मैं अपने कर्मचारियों से अलग कुछ भी नहीं हूँ।"[235] "गोदान" के रायसाहब भी होरी से डींग हांकते हैं और प्रजाहित का ढिंढोरा पीटते हैं किन्तु असामियों के प्रति भूखे सियार सा बर्ताव करते हैं। बेगारों द्वारा मजदूरी मांगने पर उनका विरोध करते हैं। होरी इसे महसूस करता है-"होरी ने मन से सोचा अभी यह कैसी-कैसी नीति और धरम की बातें कर रहे थे और एकाएक इतने गरम हो गये।" किंतु राय साहब अपने वर्ग की मजबूरी बताते हुए औपनिवेशिक शिकंजे का खुलासा करते हैं-"हमारे नाम बड़े हैं पर दर्शन थोड़े। मुझे तो यही आश्चर्य होता है कि क्यों तुम्हारी आहों का दावानल हमें भस्म नहीं कर डालता, भस्म होने में तो ज्यादा देर नहीं होती। वेदना भी थोड़ी ही देर की होती है। हम जौ-जौ और अंगुल-अंगुल और पोर-पोर भस्म हो रहे हैं। उस हाहाकार से बचने के लिए हम पुलिस की, हुक्काम की, अदालत की, वकीलों की शरण लेते हैं और रूपवती स्त्री की भांति सभी के हाथों का खिलौना बनते हैं। मुफ्त खोरी ने हमें अपंग बना दिया है। हमें अपने पुरुषार्थ पर लेशमात्र भी विश्वास नहीं, केवल अफसरों के सामने दुम हिला-हिला कर किसी तरह उनके कृपापात्र बने रहने और उनकी सहायता से अपनी प्रजा पर आतंक जमाना ही हमारा उद्यम है। पिछलगुओं की खुशामद ने हमें इतना अभिमानी और तुनकमिजाज बना दिया है कि हममें शील, विनय और सेवा का लोप हो गया है। यह तो निश्चित है कि अब सरकार भी हमारी रक्षा नहीं करेगी। हमसे अब उसका कोई स्वार्थ नहीं निकलता। लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द ही हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।"[237] कहानी "रियासत का दीवान" में अंग्रेजी एजेण्ट के स्वागतार्थ लाखों रूपया फूंका जाता है। किसानों का शोषण किया जाता है। "रंगभूमि" के राजा महेन्द्र कुमार भी अपनी वर्गीय विवशता बताते हैं-"अगर मैं रियासत का स्वामी न होता तो स्वच्छन्दता से किसी सार्वजनिक कार्य में भाग लेता। मैं राज्याधिकारियों में अपने प्रति कोई भ्रांति नहीं फैलाना चाहता।"[238] हाकिमों के दौरे के समय

किसानों का जो शोषण किया जाता है, जमींदार के कर्मचारी जो बेगार लेते हैं, उससे किसानों में असंतोष फैलता है पर वे विवशतावश कुछ कर नहीं पाते। ''प्रेमाश्रम'' का कादिर कहता है-''हाकिमों का दौरा क्या है हमारी मौत है। बकरीद में कुर्बानी के लिए जो बकरा पाल रखा था, वह लश्कर में पकड़ा गया।''[239]

तात्पर्य यह कि उपनिवेशवादी सत्ता से असंतुष्ट होते हुए भी जमींदार विवश है, उनके खाने और दिखाने के अलग दांत है। ''गोदान'' के राय अमरपाल सिंह इस मजबूरी का उल्लेख करते हैं-''मैं खुद सद्‌भावना करता हुआ भी स्वार्थ नहीं छोड़ सकता और चाहता हूँ कि हमारे वर्ग को शासन और नीति के बल पर अपना स्वार्थ छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया जाय। मैं इसे विवशता कहता हूँ। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है अगर अफसरों को कीमती-कीमती डालियाँ न दें तो बागी समझे जायें। शान से न रहें तो कंजूस कहलायें। इस शान को निभाने के लिए अपनी आत्मा की हत्या करनी पड़ती है। हम अपने असामियों को लूटने के लिए मजबूर हैं। हमारी दशा उन बच्चों की सी है जिन्हें चम्मच से दूध पिला कर पाला जाता है, बाहर से मोटे, अन्दर से दुर्बल, सत्वहीन और मुहताज।''[240]

प्रेमचंद जमींदारों की विवशता का हाल लेखों में भी व्यक्त करते हैं, ''जमींदारों की दुर्दशा'' (1934) नामक लेख में उपनिवेशवादी शोषण और जमींदार वर्ग की पतनोन्मुखी स्थिति का चित्रण प्रतीकात्मक शैली में करते हैं-''बेचारे जमींदारों की दशा उस रखेल स्त्री की सी हो गयी है जिसके यौवन की बहार अब चल-चलाव पर हो। एक समय था जब उसका आशिक उस पर प्राण न्यौछावर करता था। अब बेचारी तरह-तरह के रंग भरती है लेकिन भौंरा प्रेमी भागा-भागा फिरता है। अब तो वह भी कृष्ण की तरह इन गोपियों को बैराग्य का उपदेश करता है। जभी मौका मिला एक संघ, सभा, एशोसिएशन बना लिया जाता है और गवर्नरों की दरगाह पर हाजिर हो जाते हैं मगर यहाँ वही रूखा जवाब मिलता है-''जोग धारण करो, अपने पैरों पर खड़े हो। अपनी सोच और सहानुभूति से समाज में अपना स्थान सुरक्षित करो।''[241] ठीक यही स्वर रचनात्मक लेखन में भी है।

स्पष्ट है कि जमींदारों की अवस्था औपनिवेशिक सत्ता में पतनोन्मुखी होती है। प्रेमचंद ने सभी जमींदारों को या तो हृदय परिवर्तन द्वारा शोषण त्याग करने को विवश दिखाया है या अन्ततः उनकी मृत्यु दिखाकर उनके वर्ग

के पतन का भावी संकेत दिया है। 'प्रेमाश्रम' का जमींदार ज्ञानशंकर अन्ततः गंगा में कूदकर आत्महत्या कर लेता है और गायत्री रियासत त्याग कर तीर्थाटन को चली जाती है। 'रंगभूमि' का राजा महेन्द्र सिंह सूरदास की मूर्ति के नीचे दबकर मर जाता हैं। यह देशी रियासतों के पतन का संकेत है। अपने लेखों में भी प्रेमचंद देशी रियासतों के शोषण का चित्रण करते हैं। राय साहब की रियासत कर्ज से भारी होकर हाथ से निकल जाती है। वह आत्मवंचना में कुढ़ते हुए निष्प्रभ हो जाते हैं। 'कायाकल्प' के राजा विशाल सिंह की हृदय गति रुकने से मृत्यु होती है। रानी देवप्रिया अधिकार त्याग कर तपस्विनी बन जाती है। इस तरह जमींदारों और देशी रियासतों की मरणासन्न अवस्था का चित्रण करते हुए प्रेमचंद औपनिवेशिक चक्रव्यूह का वर्णन करते हैं। देशी रियासतें सरकार के अधीन रहती हैं। राजा, सामंत चाह कर भी प्रजा का हित चिंतन नहीं कर पाते। भोग-विलास और शोषण उनके जीवन का उद्‌देश्य हो जाता है। 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' में देशी रियासतों की जीर्णावस्था का चित्रण है। 'रंगभूमि' के कुंवर भरतसिंह विलासपूर्ण जीवन बिताते हैं। अपने परिवार की अवनति के बाद भी उनका रवैया नहीं बदलता। राजा महेन्द्र कुमार जीवन भर रियासती जनता के आंदोलन का विरोध करते हैं। परतंत्र होने के कारण अपने अधिकारों के प्रति देशी राजाओं में सदैव क्षोभ, ग्लानि और अंग्रेजों के प्रति प्रतिद्वन्द्विता रहती थी किन्तु वह विरोध नहीं कर सकते थे। कुंवर भरत सिंह कहते हैं-"नहीं मिसेज सेवक, मैं इस उत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा। मैंने व्रत कर लिया है कि राज्याधिकारियों से कोई संबंध न रखूँगा। हाकिमों की कृपादृष्टि हम लोगों को ज्ञात या अज्ञात रूप से आत्मसेवी और निरंकुश बना देती है। जिस राष्ट्र ने एक बार अपनी स्वाधीनता खो दी, वह फिर उस पद को नहीं पा सकता। मैं अंग्रेजों की तरफ से निराश हो गया हूँ। (रेल, डाक, तार, जहाज) ये सब विभूतियाँ अंग्रेजों के बगैर भी आ सकती थीं और अगर आयीं भी हैं तो अधिकतर अंग्रेजों के लाभ के लिए।"[242] वहीं कुंवर साहब के दामाद राजा महेन्द्र कुमार राज्याधिकारियों की निगाहों में गिरना नहीं चाहते। भोग विलास और पतन का चित्रण अपने लेखों में प्रेमचंद बार-बार करते हैं। 'देशी रजवाड़े' नामक टिप्पणी में लिखते हैं-"इधर कुछ वर्षों से हिन्दू राजाओं पर विचित्र विपत्ति छा रही है। कश्मीर के साथ जो घोरतम अन्याय हुआ है उसका घाव हमारे दिलों पर ताजा है कि अलवर की घटना सामने आ गयी है। भाव नगर रियासत के विषय में हिन्दू सभा ने जो अपील पेश

की है, उसे पढ़कर खून का आँसू आता है।" एक अन्य टिप्पणी 'महाराज अलवर का संन्यास' में लिखा-"जिन दिनों अलवर में पुलिस गोलियां चला रही थी महाराज साहब काशी और प्रयाग में लीडरी का मजा लूट रहे थे। अब वह जमाना नहीं रहा कि राजा साहब जो भी अन्याय करें प्रजा उसे ईश्वर इच्छा और दीनबन्धु की आज्ञा समझ कर चुपचाप सहती चली जाय। जो राजा अपनी प्रजा को केवल भेड़-बकरी समझता हो, उसकी प्रजा भी अपने राजा को भेड़िया या गीदड़ ही समझती है। अगर हमारे महाराजों की यही नीति रही तो वह दिन दूर नहीं जब इन सबों का निशान दुनिया से मिट जायेगा।"[243] 'रंगभूमि' में प्रजा राजा महेन्द्र कुमार के विरुद्ध जेहाद छेड़ती है। अंततः उनकी हार होती है। विनय जयपुर रियासत में प्रजा का विद्रोह दमित करने के लिए चला जाता है। 'कायाकल्प' में राजा विशाल सिंह और जनता के मध्य वर्ग-संघर्ष अंत तक चलता है लेकिन भोग विलास में लिप्त राजा सरकार के सहयोग से आंदोलन दमित कर देता है। एक टिप्पणी "हमारे देशी राजाओं का पतन" में प्रेमचंद देशी नरेशों के भोग-विलास का चित्रण करते हैं-"हमारे देशी राजाओं के पतन की अनेक कथाएँ पढ़ने को मिल रही हैं।"[244] लेकिन राजाओं की परतंत्रता की कहानी भी प्रेमचंद कहते हैं। राजा महेन्द्र कुमार के शब्दों में-"रईसों को इतनी भी स्वतंत्रता नहीं जो साधारण किसान को है। हम सब इनके हाथों के खिलौने हैं।"[245] एक टिप्पणी में प्रेमचंद निष्कर्ष निकालते हैं-"हरेक रियासत के पीछे एक लम्बी लगाम लगा दी गयी है जिसकी डोर ब्रिटिस पार्लमेंट को मिली है।"[246] वास्तव में यह उपनिवेशवादी सत्ता की त्रासदी है। राजा विशालसिंह औपनिवेशिक शिकंजे के नीचे पड़े कराह रहे हैं, साम्राज्यवादी नीति ने उनकी स्वतंत्रता छीन ली है। वह अफसोस के साथ कहते हैं-"मैं अपने राज्य में राम-राज्य का युग लाना चाहता था, न जाने वह कौन सी शक्ति है जो मुझे अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करने पर मजबूर कर देती है। मैं हिंसक जन्तुओं से घिरा हुआ हूँ। सभी स्वार्थी हैं। मेरा कोई मित्र नहीं।"[247] तात्पर्य यह कि औपनिवेशिक सत्ता में जमींदार और देशी नरेश जनता का शोषण करने को बाध्य हैं उन्हें यह शोषण अपने लिए कम, साम्राज्यवादी शासकों के लिए ही ज्यादा करना पड़ता है क्योंकि वे ही शोषण के माध्यम हैं और शोषण ही उनकी वफादारी की कसौटी है।

प्रेमचंद ने जमींदारों के शोषण का नग्न चित्र अपनी रचनाओं में उतारा है। अकेले जमींदार ही शोषण नहीं करता बल्कि उसके मातहत चपरासी,

कारिन्दा, मुख्तार, कारकुन, पटवारी, तहसीलदार, कानूनगों सभी अपने को जमींदार से कम नहीं समझते। उनके अतिरिक्त पुलिस, हाकिम और अन्य राज्यकर्मचारी किसानों को किसी-न-किसी बहाने से चूसते हैं। जमींदारों के शोषण का मुख्य आधार लगान होता है। इसकी दर निश्चित नहीं होती। वह इच्छानुसार लगान लेता है और किसानों को रसीद नहीं देता। "गोदान" में पंडित नोखेराम कारकुन होरी आदि किसानों को रसीद न देकर दुबारा लगान की अपील करते हैं, बाकी लगान का दावा दूसरे साल ऐसे समय में करते हैं जब किसान मुसीबत के मारे होते हैं और महाजनों से कर्ज लेने के सिवाय उनके पास कोई दूसरा चारा नहीं होता। यद्यपि जमींदार महाजन भी होते हैं, इसलिए ऐसे समय में कर्ज देकर मनमाना सूद वसूल करते हैं। सूद की दर बढ़ती जाती है जिसकी वसूली किसानों की उपज को खलिहानों में ही तौला कर करते हैं। जमींदार के पंजे से निकलकर किसान उन छोटे-छोटे महाजनों और साहूकारों के पंजों में फंस जाते है जो गाढ़े समय सूद पर रूपया-अनाज देकर किसानों की सहायता करते हैं। "गोदान" के जमींदार और कारकुन किसानों से ऐसा ही बर्ताव करते हैं। झिंगुरी सिंह, नोखेराम तथा पंडित दातादीन किसानों से खलिहान में वसूली करते हैं। उनका गन्ना मिल में पहुँचने पर मिल मालिक से मिलकर अपना-अपना सूद ले लेतो हैं और किसान खाली हाथ घर लौट आता है।

'सेवासदन' के पं0 उमानाथ जमींदार के दलाल हैं उनकी आकाशी वृत्ति है। इसी वृत्ति से वह सुख भोग करते हैं। राज्यकर्मचारियों में उनका सम्मान है, किसानों से रिश्वत के रूप में धन दिलाकर कर्मचारियों को खुश रखते हैं। दरोगा जी उन्हें अपना दाहिना हाथ समझते हैं। कुंवर अनिरूद्ध सिंह द्वारा कृषक सहायक सभा खौलने की योजना बनाने पर जमींदार सदन सिंह आपे से बाहर हो जाता है। उसे अपने वर्गीय स्वार्थ के समक्ष किसानों की समस्याएँ नगण्य लगती हैं। प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि पूरा का पूरा उपनिवेशी समाज शोषक और शोषित वर्ग के रूप में वर्ग-संघर्ष के लिए इसी मुद्दे पर तैयार होता है। स्वार्थों का टकराव ही वर्ग-संघर्ष को जन्म देता है। समाज में पाशविक आचरणों को बरकरार रखने में सामन्त,-जमींदार-और राज्यकर्मचारी ही मुख्य भूमिका निभाते हैं। वेश्यावृत्ति के कारण यही लोग हैं-"हमारे शिक्षित भाइयों की बदौलत दालमण्डी आबाद है। जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्यकर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर सम्मान के पात्र हों

वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो।"[248]" इसमें प्रेमचंद पूंजीवादी समस्या के स्थापित होने का भी संकेत देते हैं। म्युनिसिपैलिटी के 18 सदस्यों में हिन्दू मुसलमान सभी सामन्त, जमींदार, महाजन, व्यापारी, डॉक्टर, वैद्य, वकील ही हैं; साधारण मनुष्य नही। यही लोग समाज का चतुर्दिक शोषण कर रहे हैं। किसानों की हर गतिविधि पर अंकुश रखने के लिए ये सब एक हैं। प्रेमचंद ने म्युनिसिपैलिटी के सभासदों की सूची पेश कर दिखाया है कि शोषकों का भिन्न-भिन्न जत्था किसानों को चूसने और उनके भरोसे भोग विलास करने के वास्ते एकजुट हैं। राजा-जमींदार से लेकर समाज का बुद्धिजीवी वर्ग और अंग्रेजी राज्य कर्मचारी व अफसर तक सभी शोषण का माल बाँटने में खींचा-तानी करते रहते हैं। साम्राज्यवादी शोषण से जो कुछ बचता है ये लोग बांटकर खाते हैं। साम्राज्यवाद के साथ सामन्ती समाज के अवशेष और उभरते बुद्धिजीवी सभी शोषण तंत्र में शरीक हैं। प्रेमचंद बताते हैं, "हिन्दुओं में विरोधी दल के नेता सेठ बलभद्र दास थे और मुसलमान में हाजी हाशिम। शेष सात मेम्बरों में मौलाना तेग अली एक इमाम बाड़े के वली थे। मुंशी अबुलवफा इत्र तेल के कारखाने के मालिक थे। मुंशी अब्दुल लतीफ एक बड़े जमींदार थे पर बहुधा शहर में रहते थे। शाकिर बेग और शरीफ हसन वकील थे। सैयद सफाकत अली पेन्शन डिप्टी कलक्टर थे और शोहरत खां प्रसिद्ध हकीम थे।"[249]" इसके पश्चात् हिन्दू सदस्यों की सूची प्रेमचंद पेश करते हैं-"सेठ बलभद्र दास चेयर मैन थे। डॉ0 श्यामा चरण वाइस चेयर मैन। लाला चिम्मन लाल और दीनानाथ तिवारी व्यापारियों के नेता थे। पद्मसिंह और रुस्तम भाई वकील थे। रमेश दत्त कालेज के अध्यापक, लाला भगतराम ठेकेदार, प्रभाकर राव सम्पादक, कुंवर अनिरूद्ध सिंह इलाके के बड़े जमींदार।"[250]" स्पष्ट है म्युनिसिपैलिटी पूंजीवादी शोषकों का जत्था था जिससे किसानों को हर स्तर पर पराजित ही होना पड़ता था।

जमींदार के पंजे से निकल कर किसान महाजनों-सूदखोरों के पंजें में तुरन्त फंसता है। "गोदान" में होरी कहता है-"जमींदार तो एक ही है, मगर महाजन तीन-तीन है। सहुआइन अलग, मंगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग। किसी का ब्याज भी पूरा न चुका।"[251]" जमींदारों से अधिक ये सूदखोर ही किसानों का बहुमुखी शोषण करते हैं क्योंकि कर्ज के बावले किसान विपत्ति के समय अधिक सूद पर कर्ज लेते हैं और कर्ज न चुका पाने के कारण आजीवन गुलामी करते हैं। कहानी "पूस की रात" का किसान हलकू कर्ज न

चुका पाने की करूणा से कुंठित होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पहुंच चुका है। "सवा सेर गेहूँ" कहानी का किसान एक बार कर्ज लेकर आजीवन के लिए जमींदार-महाजन की बेगार करता है। यही नहीं, उसके मरने के बाद भी उसके लड़के जमींदार की गुलामी करते हैं। प्रेमचंद इस पर टिप्पणी करते हैं-"सवा सेर गेहूँ की बदौलत उम्र भर के लिए गुलामी की बेड़ी पैरों में डालनी पड़ी। पाठक इस वृत्तांत को कपोल कल्पित न समझिये। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं हुई है।"[252] गोदान के पण्डित दातादीन भी ऐसे ही महाजन हैं जो गाँव के नारद हैं। चोर-साह दोनों के मित्र। होरी का खेत उसके बैल न होने के कारण अधिया ले लिया और ऊपर से एहसान भी लाद दिया। झिंगुरी सिंह इलाके के सबसे बड़े महाजन थे। इसलिए गाँव के किसानों को एक न एक बहाने से लूटते रहने में तत्पर रहते थे। यद्यपि महाजनी सभ्यता के इस युग में लेन-देन का शौक सभी को था। प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं-"गाँव वालों को लेन-देन का कुछ ऐसा शौक था कि जिसके पास दस-बीस रूपये जमा हो जाते वहीं महाजन बन बैठता था। एक समय होरी ने भी महाजनी की थी।"[253] इसके अतिरिक्त शहर जाकर गोबर भी सूद पर रूपये देने लगा था। भोला की स्त्री नोहरी भी थोड़े पैसे जमा कर होरी को रूपये देती है। लेकिन वास्तविकता यह थी कि गांवों में लेन-देन करने वाले छोटे-छोटे महाजनों के ऊपर बड़ा महाजन होता था जो शहर में रहकर इस व्यवस्था से लाभ उठा रहा था। इन महाजनों से उसका कमीशन बँधा हुआ था। "गोदान" के झिंगुरी सिंह भी शहर के एक महाजन के एजेण्ट थे। प्रेमचंद इस चक्रव्यूह को स्पष्ट करते हैं, "झिंगुरी सिंह शहर के एक बड़े महाजन के एजेण्ट थे। उनके नीचे कई आदमी और थे जो आस-पास के देहातों में घूम-घूम कर लेन-देन करते थे। इनके उपरान्त और भी कई छोटे मोटे महाजन थे, जो दो आने रूपये ब्याज पर बिना लिखा पढ़ी के रूपये देते थे।"[254]

यहां एक बात ध्यान देने की है। महाजनों में भी दो तरह के लोग थे। एक तो बिना लिखा पढ़ी किए रूपये सूद पर दे देते थे जैसे दुलारी सहुआइन, मगरू साह, नोहरी आदि। ये गांव में ही रहते थे और ग्रामीणों के साथ उनका आपसी भाई चारा भी था। ये निरा शोषक ही नहीं थे, इनमें मानवता शेष थी। दूसरे तरह के महाजन बिना लिखा पढ़ी के रूपये नहीं देते थे। इनका सम्बन्ध शहर के बड़े महाजनों से था। ये गांव में रहते हुए भी मानवता-शून्य थे। ये

केवल शोषण करना ही जानते थे, दया करना नहीं। झिंगुरी सिंह व दातादीन आदि इसी कोटि के महाजन थे। गोदान में इन दोनों तरह के महाजनों के मध्य विभाजक रेखा खींची जा सकती है। झिंगुरी सिंह के शोषण का चित्र प्रेमचंद इस प्रकार खींचते हैं-"वह पक्का कागज लिखाते थे। नजराना अलग लेते थे। दस्तूरी अलग। स्टाम्प की लिखाई अलग। उस पर एक साल का ब्याज पेशगी काट कर रूपया देते थे। पचीस रूपये का कागज लिखा तो मुश्किल से सत्रह रूपये हाथ लगते थे।"[256] इसके बाद किसान हमेशा के लिए अपने को बंधक रख देता था। होरी को पहले का अनुभव यही बता रहा था कि कर्ज वह मेहमान है जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता। एक टिप्पणी में प्रेमचंद लिखते हैं-"कितने ही जमींदार और साहूकार किसानों-मजदूरों को सौ पचास रूपया उधार देकर उनसे यावज्जीवन मजदूरी कराते रहते हैं" (विविध प्रसंग भाग दो पृ0 484)

प्रेमचंद गांवों के शोषण में सबसे अहं भूमिका राजकर्मचारियों का मानते हैं। निरीह किसानों को चूसने के लिए राजकर्मचारियों का जमींदारों, महाजनों से गठबन्धन है। गांव के सीधे-सादे महाजनों के अन्दर पशुता-क्रूरता का अंकुर यही उगाते हैं और लाभ उठाते हैं। मगरू साह को भड़का कर पटवारी लाला पटेश्वरी ने होरी की ईख नीलाम कर दी और बोली बोल कर स्वयं ले भी लिया। प्रेमचंद ने इस गठबन्धन की कलई खोली है-"मगरू साह गांव का सबसे धनी आदमी था। रोब या अधिकार की लालसा उसे न थी। कितने ही असामियों ने उसके रूपये हजम कर लिए थे, पर उसने किसी पर नालिश-फरियाद न की, दो चार बार उसने तकादा किया, घुड़का डांटा भी, मगर होरी की दशा देख कर चुप हो बैठा। पटेश्वरी प्रसाद ने मंगरू को सुझाया कि अगर इस वक्त होरी पर दावा कर दिया जाय तो सब रूपये वसूल हो जायें। पटेश्वरी ने जिम्मा लिया। उधर ऊख डेढ़ सौ रूपये में नीलाम हो गयी और बोली भी हो गयी मंगरू साह ही के नाम।"[256]

सरकारी कर्मचारी अपने को जमींदारों से ज्यादा अधिकार सम्पन्न समझते हैं इसलिए उनका आतंक भी किसानों में ज्यादा रहता है। पटवारी पटेश्वरी कहते हैं, "मैं जमींदार या महाजन का नौकर नहीं हूँ। सरकार बहादुर का नौकर हूँ जिसका दुनिया भर में राज है और जो तुम्हारे महाजन और जमींदार दोनों का मालिक है।"[257] लेकिन पटवारी से बढ़कर उसके ऊपर का कर्मचारी कानूनगो शोषण करता है। "प्रेमाश्रम" का सुक्खू कहता है-"पटवारी

सैकड़े हजार की गठरी थोड़े उठाता है। बहुत दांव-पेंच किया तो दो चार रूपये मिल गये। उसकी तनख्वाह तो कानूनगो ले लेते हैं।"[258]

लेकिन कानूनगो भी विवश है, वह उपनिवेशवादी सत्ता के शोषण को कायम रखता है। कानूनगों गायत्री से कहता है-"दो रंगी चाल न चलें और असली बात लिख दें तो नालायक बना कर निकाल दिए जायें। हम लोगों से सच्चा हाल जानने के लिए तहकीकात नहीं करायी जाती बल्कि उसको छिपाने के लिए।"[259] एक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं-"मुकदमे बाजी किसान को तवाह किए डालती है। पटवारी भी उसे कर्ज में घसीटने में बड़ा भाग लेता है।"[260] इसके अतिरिक्त गांव का चपरासी भी शोषण में कम भागीदार नहीं होता है। वह किसानों से मुफ्त चीजें लेता है अथवा शिकायत करके उनकी खबर लेता है। 'प्रेमाश्रम' में चपरासी की शोषण प्रक्रिया का चित्रण है। 'प्रेमाश्रम' में भी प्रेमशंकर पुलिस प्रशासन का विरोध करता है-"मेरे विचार से गवर्नमेण्ट को पुलिस विभाग में सुयोग्य और सच्चरित्र आदमी छांट-छांट कर रखने चाहिए।"[261] अपने लेखों में प्रेमचंद पुलिस विभाग के अन्याय और शोषण का बार-बार विरोध करते हैं। एक लेख में वह व्यंग्य करते हुए लिखते हैं-"अगर सरकार पुलिस विभाग तोड़कर हरेक जिले में एक-एक दो-दो हवाई जहाज रख दें जो बम वर्षा कर जनता की रक्षा किया करे तो उसे एक बहुव्ययी पुलिस विभाग रखने की जरूरत न होगी।"[262] प्रेमचंद पुलिस शोषण मुक्ति को काफी हद तक स्वराज्य मिलने तक की बात करते हुए एक लेख में लिखते हैं-"हमारा तो ख्याल है अगर यहां की पुलिस सुधर जाय तो जनता को तीन चौथाई स्वराज्य मिल जाय। रिश्वत फौजदारी और अदालत ये भी है और काफी हैं मगर यहां...।"[263] पुलिस के रिश्वत का चित्र 'गबन', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में है। "गोदान" का दरोगा गण्डा सिंह किसानों से रिश्वत कम पाने या न पाने पर गांव के पटवारी और महाजनों का गला पकड़ता है। दरोगा अकेले रिश्वत नहीं लेता, उसमें जमींदार, महाजन और गांव का पटवारी सभी हिस्सा लेते है। "गोदान" में होने वाला वार्तालाप इसका प्रमाण हैं "दरोगा ने कहा मैं ऐसे को नहीं सताता जो आप ही मर रहे हों" पटेश्वरी बोले नहीं हुजूर ऐसा न कीजिए। जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है तो आपकी बदौलत हम भी कुछ पा जाते हैं, नहीं पटवारी को कौन पूछता है। दरोगा बोला-अच्छा जावों तीस रूपये दिलवा दो, बीस रूपये हमारे दस

रूपये तुम्हारे। पटेश्वरी बोले-''चार मुखिया हैं इसका ख्याल कीजिए।'' दरोगा-''अच्छा आधे आध पर रखो।''[264]

पुलिस, पटवारी, कानूनगों, तहसीलदार, चपरासी के अतिरिक्त जमींदार के कारिन्दे, मुख्तार, दलाल, कारकुन, मुखिया भी शोषण के माध्यम होते हैं। 'सेवासदन' के पण्डित उमानाथ जमींदार के दलाल हैं। उनकी आकाशीवृत्ति है। दरोगा भी उन्हें दाहिना हाथ समझते हैं। 'गबन' का दीन दयाल जमींदार का मुख्तार है। वह थानेदार, जमींदार, किसान सब को अपने अधिकार में समझता हैं। एक गरीब को उसने इतना पिटवाया कि वह मर गया था। गौस खां कारिन्दा है उसके अत्याचारों से किसान परेशान रहते हैं।

डाक्टर, जेलर और वकील ही नहीं बल्कि न्यायाधीश तक राजकर्मचारियों और जमींदारों के मित्र हैं। ये लोग अप्रत्यक्ष रूप से किसानों का शोषण करते हैं। 'रंगभूमि' का जेलर, 'गबन' और 'कर्मभूमि' का जेलर तथा दरोगा कैदियों के हिस्से का राशन-वस्त्र घर पहुँचा देता है। ''रंगभूमि'' का वकील इर्फान अली झूठे मुकदमे गढ़ता हैं। डाक्टर प्रिया नाथ चोपड़ा रोगियों के हिस्से की साग-सब्जी घी-दूध प्रथानुसार अपने घर पहुंचा देता है। किसानों को अदालतों से न्याय नहीं मिलता। इस पर प्रेमशंकर कहता है-''सच्चे न्याय की आशा तो तभी हो सकती है जब वकीलों को अदालत स्वयं नियुक्त करें और अदालत भी राजनैतिक भावों और अन्य दुस्संस्कारों से मुक्त हो।''[265] कहानी ''नमक का दरोगा'', ''ईश्वरीय न्याय', 'दण्ड', 'पंचपरमेश्वर', 'भाड़े का टट्टू'' आदि में न्यायालयों के अन्याय का चित्रण है।

जमींदार के कारिन्दों के शोषण का चित्रण प्रेमचंद कई लेखों में करते हैं। कारिन्दे जमींदारों की तरह ही शोषण करते हैं। 'छोटे जमींदार या बड़े' नामक लेख में लिखते हैं-''हमारा अनुभव तो यह है कि छोटे शैतान से बड़ा शैतान हमेशा अधिक घातक हुआ करता है। बड़ा शैतान बिना प्राण लिए नहीं छोड़ता। बड़ा जमींदार तो अपने इलाके का बादशाह होता है। असामियों से उसे कोई निजत्व नहीं होता। वे तो उसके लिए केवल भोग की वस्तु हैं। उनके कारिन्दे और प्यादे भला क्यों आदमियों पर दया करने लगें।''[266] महाजनों के सूद का विरोध भी कई लेखों में तीव्रता के साथ किया है। 'महाजन और किसान'' नामक लेख में प्रस्ताव करते हैं-''इस संबंध में तीन बिल होंगे। एक का उद्देश्य है किसानों को कर्ज से पार कराना। दूसरा सूद की दर घटाएगा। तीसरा ज्यादा सूद लेना रोकेगा।''[267]

किसान अशिक्षित होने के कारण प्रवृत्ति से धर्मभीरू भी होता है। समाज में धर्म के ठेकेदार, पण्डे-पुरोहित-महन्त और विशेषकर ब्राह्मण महाजन या ब्राह्मण जमींदार इस धर्मशीलता का अधिक लाभ उठाता है। धर्म के ठेकेदारों का यह वर्ग समूची सामाजिक व्यवस्था में घुल-मिल गया है। किसान धर्म-भय व आतंक से जान-बूझकर भी शोषित बने रहते हैं। प्रेमचंद के साहित्य में इनका नग्न चित्र मिलता है। उनके प्रारम्भिक लेखन में यही समस्या प्रमुख रूप में उभारी गई है। 'देवस्थान रहस्य' के महन्त त्रिलोकीनाथ शराबी, ऐयाश धूर्त और लम्पट हैं। उसके रूप में प्रेमचंद इस वर्ग का समूचा चित्रण करते हैं-"यह जो आप महन्त जी के माथे पर लाल निशान देख रहे हैं, यह चन्दन का निशान नहीं बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे हैं, कि हजरत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है। आप जो इनके गले में मोहनमाला देख रहे हैं, यह असल में लोभ का फन्दा है। आपके शरीर पर रंग-बिरंगी मिर्जई नहीं है, बल्कि अन्धविश्वासों को सब्जबाग दिखाने का यंत्र है।"[268]

यही बात प्रेमचंद एक लेख "अछूतों को मन्दिर में जाने देना पाप है" में इसी प्रकार करते हैं-"क्या शराब ब्राह्मण नहीं पीते? ब्राह्मणों के घरों में चमारियाँ है।"[269] धर्म के ये ठेकेदार मंदिर-मठों के अतिरिक्त जमींदारी के भी मालिक होते हैं। अतः दोहरा शोषण करते हैं। सामान्य जमींदारों की अपेक्षा इनके शोषण की प्रक्रिया ज्यादा तकलीफ देह होती है क्योंकि धर्म की नकेल इनके हाथों में होती है और समाज का समूचा ढाँचा इन्हीं धर्माचार्यों की कृपा से तैयार होता है कदाचित इसीलिए 'गोदान' के पं0 दातादीन और पण्डित नोखेराम जमींदार के कारकुन और महाजन होते हुए भी जमींदारों से अधिक अधिकार का दुरूपयोग करते हैं। बेगार लेने, बेदखल करने, अधिक और दुबारा लगान वसूल करने, गरीब अबलाओं को सुख-भोग का साधन समझने और धर्म के नाम पर इसे क्षम्य मानने का विधान ये लोग सुविधानुसार बनाते हैं। दातादीन तीन जवान पत्नियाँ रखते हैं। नोखेराम भोला अहीर की जवान पत्नी नोहरी को घर में रख लेते हैं। यही लोग होरी पर जुर्माना करते हैं क्योंकि उसका लड़का गोबर सजातीय विधवा को पत्नी बनाने का साहस करता है। होरी इस अन्याय को समझते हुये भी बिरोध नहीं करता, लगान की रसीद न पाकर भी फरियाद नहीं करता। "ब्राह्मण का अन्न न पचने की बात" उसके मन में तूफान उठाती रहती है। पं0 दातादीन पुरोहिती को "जमींदारी और बंकघर" कहते हैं। परम्परा से लाभ उठाता पुरोहित सुख-दुख के दोनों समय

जनता से दान लेता है। विवश होते हुए भी रूढ़िवादी जनता खुशी से तन पेट काट कर देती है। प्रेमचंद ने पं0 मोटेराम शास्त्री के रूप में पुरोहित वर्ग का विस्तृत और बहुमुखी चित्रण किया है। 'निमंत्रण', 'दूध का दाम' मनुष्य का परम धर्म', 'मंत्र', 'सत्याग्रह' तथा 'अन्धेर' नामक कहानियों में प0 मोटेराम कभी धार्मिक शोषक, कभी सामाजिक और राजनैतिक शोषक के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। ''ज्वालामुखी'' नामक कहानी में धर्माचार्य द्वारा रानी के अन्तःपुर में नारकीय कृत्य का चित्रण प्रेमचंद ने किया है। ''बौड़म'' में मौलवी द्वारा ईमानदार सेठ के साथ बेईमानी करने का दृश्य है तो ''बाबा जी का भोग'' में मुफ्तखोरी की झाँकी है। ''रंगभूमि'' के नायकराम पण्डा और ''संग्राम'' नाटक के चेतनदास ऐसे ही धूर्त हैं जो आंखों में धूल झोंककर जनता का धन उड़ाते हैं। पण्डा जाति की चालाकी, धूर्तता, स्वार्थपरता और शोषण का जो चित्र ''रंगभूमि'' में नायकराम पण्डा के रूप में प्रेमचंद ने उतारा है; सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य में अद्वितीय है। ''निर्मला'' में साधु वेशधारी पाखण्डियों की कलई खोली गई है जो गांवों में घूम कर लड़के चुराने का काम करते हैं।

ऐसे महन्तों का भी एक वर्ग है जो जमींदार भी हैं लेकिन मठों में भोग विलास में निमग्न रहकर जनता की ओर से उदासीन रहते हैं। इनके कारिन्दे-कर्मचारी ही घूमकर मनमानी लगान वसूलते हैं। ये जमींदारी को मात्र ऐयाशी समझते हैं। 'सेवासदन' के महन्त रामदास इतने निरंकुश हैं कि बेगार न देने वाले चैतू चमार की हत्या तक कर देते हैं। 'प्रेमाश्रम' में एक महन्त जमींदार तो बाढ़ के समय भी इलाके का दौरा नहीं करते और बेचारे किसान कर्ज लेकर लगान चुकाते हैं, उनके कर्मचारी किसानों पर कहर ढाते हैं। एक किसान भवानी कहता है, ''जमींदार के तो दर्शन भी नहीं होते किससे कहे, सेठ जी ने यह गाँव उन्हें पिण्डदान में दे दिया था। बस आप तो गया जी में बैठे रहते हैं। साल में दो बार उनका मुंशी आकर लगान वसूल कर ले जाता है।''[270] यदि किसी प्रकार जनता फरियाद करने भी पहुंचती है तो महन्त जी के दर्शन ही नहीं हो पाते। 'कर्मभूमि' के आशाराम गिरि ऐसे ही जमींदार हैं जिनके यहां नित्य हजारों साधुओं का भण्डारा होता है। असामियों के यहाँ से मुफ्त का दूध, घी, साग, अन्न और ठाकुर जी को चढ़ाने के लिए द्रव्य आता है। महन्त जी धर्म के नाम एक पैसे की छूट लगान में नहीं कर सकते। ''सद्‌गति'' नामक कहानी में पुरोहित जी से साइत पूछने के लिए जाने वाला चमार उनकी बेगार करते हुए मर जाता है किन्तु ब्राह्मण से पानी तक पीने

को नहीं माँग पाता क्योंकि प्रथा है कि, "ब्राह्मण की रोटी उसे नहीं पचेगी।" प्रेमचंद कहानी का अंत करते हुए लिखते हैं-"उधर दुःखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौवे नोच रहे थे। यही जीवन पर्यन्त की भक्ति सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।"[271] अपने लेखों तथा टिप्पणियों में प्रेमचंद ने इस वर्ग की खुल कर भर्त्सना की है। एक टिप्पणी "टके पंथी पुजारी, पुरोहित और पंडे हिन्दू जाति के कलंक हैं" में लिखते हैं-"हिन्दू जाति के सबसे घृणित कोढ यही टके पंथी दल हैं जो एक विशाल जोंक की भांति उसका खून चूस रहा है और राष्ट्रीयता के मार्ग के सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रवाद उपजीवी समाज को घातक समझता है।"[272] इसीलिए प्रेमचंद वर्णाश्रम धर्म-संघ और सनातन-धर्म की भी निन्दा करते हैं तथा आर्य समाज की हिमायत करते हैं जो धर्माडम्बरों, पंडे पुरोहितों, महन्तों का निन्दक है। 'हिन्दू समाज के वीभत्स रूप' नामक तीन अलग-अलग लेखों में प्रेमचंद ने इस वर्ग का नग्न दृश्य उभारा है-"धर्म के नाम पर कितने पाखण्ड किये जाते हैं। वह पिण्डदान और वह महापात्रों के नखरे और वह बिरादरी वालों का मूंछों पर ताव देकर दावतें उड़ाना।"[273] दूसरी टिप्पणी में लिखते हैं-"हिन्दू समाज में पुजने के लिए केवल एक लंगोटी बांध लेने और देह में राख मल लेने की जरूरत है। अगर गांजा और चरस उड़ाने का अभ्यास भी हो जाये तो और भी उत्तम। मूर्ख हैं, धूर्त हैं, नीच हैं पर इससे कोई प्रयोजन नहीं। वह बाबा हैं। हमारे इस अन्धविश्वास से अपना मतलब निकालने वालों के बड़े-बड़े जत्थे बन गये हैं। ऐसी कई जातियाँ पैदा हो गयी हैं जिनका पेशा ही है। एक सिद्ध बन जाता है, कई उसके चेले बन जाते हैं और किसी उजाड़ स्थान पर डेरा डाल देते हैं। मर्द भक्तों से कहीं अधिक संख्या स्त्री भक्तों की होती है।...आज बड़ी-बड़ी जमींदारियों के मालिक कितने ही महन्त हैं। इस जायदाद का उपयोग अब इसके सिवा कुछ नहीं है कि मुस्टंडे खायें, डंड पेलें और व्यभिचार करें।"[274]

"देवस्थान रहस्य" में प्रेमचंद ने मठाधीशों के व्यभिचार-अनाचार का चित्रण किया है। समाज पर उनका दुष्प्रभाव पड़ता है। वह लिखते हैं-"इन साधू संन्यासियों, पुरोहितों, पादरियों के हाथों रियासत किस कदर मुसीबतें उठा रही हैं। जमाने भर के मुफ्तखोर, जाहिल ऐश पसन्द लोग इसी जरिये जीविका प्राप्त करते हैं। आवारा लोगों की घूरा-घूरी, बुरे लोगों का सामना, जमाने की लालचें और वासना की मुहजोरियाँ औरतों पर कैसा बुरा असर डालती है।[275] यही समस्या एक लेख "मंदिरों पर एक दृष्टि" में भी उठाते

है- "मंदिरों की आड़ में आज बड़े लज्जा जनक कृत्य हो रहें हैं। पुजारियों का, महन्तों का और धर्मगुरूओं का जीवन भयानक विलासिता से भरा हुआ है। उन्हें वेश्याएं चाहिये। युवतियाँ गायब कर दी जातीं हैं। दिखलाने के लिए भक्ति के साक्षात् अवतार हैं।"[276] कहानी "अग्नि समाधि" का किसान पयाग साधु-संतों के सत्संग से नशा करने लगता है। इसी तरह "अनिष्ट शंका" की रानी मनोरमा ज्योतिष के मिथ्या विश्वास से जीवन तक खो देती है। तात्पर्य यह कि किसानों की गरीबी और तंगी का यह भी एक प्रमुख कारण है। गोदान का गोबर अपने पिता होरी की बर्बादी का कारण "धर्मात्मापन" होना ही बताता है।

सामाजिक शोषकों के अतिरिक्त किसानों को उनकी रूढ़ि परम्पराएँ भी अधिक गुलामी और बर्बादी की ओर खींचती हैं। मर्यादा प्रेम, भाग्यवाद, क्रांति विमुखता और समझौतावादी प्रवृत्ति, धार्मिक रूढ़िवादिता, दहेज, बिरादरी का झंझट, आपसी द्वेष, असंगठन तथा अशिक्षा उसे नित्य गरीबी की ओर ढकेलती है। प्रेमचंद अपने साहित्य में किसानों की अन्तर्विरोधी प्रकृति का चित्रण भी करते हैं। कई तरह के किसान मिलते हैं जो अन्ततः गरीबी की चक्की में पिस रहे हैं लेकिन उनका वर्गीय अन्तर्विरोध इन्हें अपनी गरीबी के स्तर से ऊपर उठाने में आड़े आता है। ईश्वर, न्याय, पुनर्जन्म, जादू, टोने, देवी-देवता स्वर्ग नरक आदि का वह अन्ध समर्थक बना रहता है। 'वरदान' से लेकर 'गोदान' तक यही तथ्य प्रेमचंद बार-बार उभारते हैं। "वरदान" की विरजन अपने पत्र में गावों की शोचनीय दशा का चित्रण करती है- "टूटे-फूटे झोपड़ें, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े करकट के बड़े ढेर, कीचड़ में लिपटी भैंसे, दुर्बल गायें। मनुष्य को देखें तो उनकी शोचनीय दशा है। हड्डियां निकली हुई हैं, वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं। किसी के शरीर पर एक बेफटा वस्त्र नहीं है और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलतीं। ....यहाँ किंवदन्ती है कि गड्ढे में चुड़ैल नहाने आया करती हैं और अकारण राह चलने वालों से छेड़-छाड़ किया करती हैं। कैसी मिथ्या भक्ति है? ये भावनाएँ उनके हृदय पर बज्रलीक हो गयी हैं।"[277] कृषक गरीबी के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये हैं।"गोदान" में प्रेमचंद लिखते हैं- "जीवन में न कोई आशा है न कोई उमंग। भविष्य अन्धकार मय, रास्ता नहीं सूझता। सारी चेतनाएं शिथिल हो गयी हैं। द्वार पर मनों कूड़ा जमा है और उनकी नाक में न गन्ध है और न आँखों मे ज्योति। सरेआम द्वार पर गीदड़

रोते हैं, मोटा-झोटा खा लेते हैं जैसे इंजन कोयला खाता है। उससे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो, पतन की यह इंतिहा है।"[278] किसानों की गरीबी का यही चित्र प्रेमचंद अपने लेखों में खींचते हैं। एक लेख में वह लिखते हैं-"वेल्सफोर्ड साहब लिखते हैं "जब पेट में भोजन नहीं जाता तो विद्रोह की कौन सोचे, हिन्दुस्तानी में वह बल ही नहीं है जो गाली या मार खाने पर झटपट घूंसा तान देता है। फिर समाज और बिरादरी का दबाव और रूढ़ियों का भय इतना ज्यादा है कि आदमी में कोई नई बात सोचने की क्षमता ही नहीं है। ऐसी सभ्यता में व्यक्तित्व का लोप हो जाता है।"[279] प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि समाज और बिरादरी के दबाव किसानों के पतन के कारण हैं। होरी बिरादरी के दबाव के कारण ही कर्ज लेता है, जुर्माना भरता है क्योंकि समाज और बिरादरी के बाहर रह नहीं सकता और बिरादरी का पेट भरने के लिए बिरादरी वालो से और समाज के ठेकेदारों-महाजनों से जो कर्ज लेता है, कभी नहीं चुका पाता। होरी कर्ज को एक बार आकर फिर जाने का नाम न लेने वाले मेहमान की संज्ञा देता है। एक लेख में प्रेमचंद जन्मजात कर्जदार होने की बात उठाते हैं-"यहाँ हरेक बच्चे को जन्म लेते ही कर्ज का तमगा मिलता है।" वह सूद के दर की समस्या भी उठाते हैं-"यहाँ हरेक बच्चे को जन्म लेते ही कर्ज का तमगा मिलता है। सूद मामूली तौर पर साढ़े सैंतीस सैकड़े हैं, उस पर चक्रवृद्धि का ब्याज। कीटाणुओं की ही भांति कर्ज बढ़ने लगता है।"[280] लेकिन महाजनों, जमींदारों, राजकर्मचारियों के शोषण के अतिरिक्त किसानों की जड़ रूढ़ परम्पराएँ जिसे वह "धर्म और मरजाद" का नाम देता है; सबसे अधिक उसे पतन की ओर ले जाती हैं। इसीलिए मरजाद रक्षा के लिए बार-बार कर्ज लेता है और अपना श्रम शोषकों के पास बन्धक रख देता है।

इसके अतिरिक्त एक बड़ा कारण भी है- किसानों के अपने ही वर्ग का अन्तर्विरोध जो उसे हमेशा पतन की ओर ढकेलता है। प्रेमचंद साहित्य में किसान वर्ग के तीन चेहरे मिलते हैं-एक शोषित होकर अत्याचार सहता हुआ चुप है, दूसरा शोषण का विरोध करता है पर जल्दी ही समझौतावादी हो जाता है और तीसरा वर्ग-संघर्ष का नमूना है और ध्यातव्य है कि कुल मिलाकर तीनों एक दूसरे का असहयोग भी करते हैं। उनमें वर्गीय संगठन कहीं नहीं दिखता। यही किसान वर्ग का मुख्य अन्तर्विरोध है। यानी धार्मिक-सामाजिक रूढ़िवादिता से चिपके रहने वालों और व्यर्थ बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न करने वालों के

मध्य वर्गीय समस्या को लेकर एक न टूटने वाला अन्तर्विरोध चलता रहता है। "प्रेमाश्रम" में किसान जमींदारों का विरोध भी करते हैं और संघर्ष भी। यहाँ कादिर जैसे रूढ़िवादी किसान भी हैं और मनोहर बलराज जैसे विरोधी भी। सुक्खू जैसा किसान भी है जो पहले रूढ़िवादी और राजभक्त रहता है पर बाद में क्रांतिकारियों जैसी हरकत करने लगता है। 'प्रेमाश्रम' में किसानों की अन्तर्विरोधी प्रकृति बड़ी साफ है। सुक्खू इसका उदाहरण है। वह पहले जमींदार का साथ देकर अपने लाभ का रास्ता निकालता है और बाद में वर्गीय दबाव वश कृषकों का समर्थन करने लगता है। किसान गांधी और रूसी क्रांति दोनों से प्रभावित लगते हैं। बलराज रूस से आये हुये पत्र किसानों को पढ़ कर सुनाता है। वे जागृति वश जेल का भय छोड़ चुके हैं क्योंकि गांधीजी भी जेल हो आये हैं। कारिन्दा गौस खां की हत्या इसी जागृति का परिणाम है। किसान किसानी से ऊब चुके हैं क्योंकि इससे मरजाद तो रहती है पर लाभ नहीं होता। बलराज मजदूरी बेहतर समझता है-"अब तो शहरों में मजूरों की माँग है, रूपया रोज खाने को मिलता है, रहने को पक्का घर अलग। अब हम जमींदार की धौंस क्यों सहें?"[281] इसी तरह "गोदान" का गोबर भी किसानी से मजदूरी बेहतर समझता है। 'कर्मभूमि' में एक ही परिवार के सदस्यों में होने वाला वार्तालाप उनकी अन्तर्विरोधी प्रवृत्ति का चित्रण करता है-"खेती की झंझट में न पड़ना भैया चाहे खेत में कुछ न हो, लगान जरूर दो। कभी ओला-पाला, कभी सूखा-बूड़ा, एक न एक बला सर पर सवार रहती है। उस पर कहीं बैल मर गया, कहीं खलिहान में आग लग गई। सबसे अच्छी मजूरी; न क़िसी के नौकर न चाकर।"[282] काशी पयाग की बात का खण्डन करता है-"किसानी में मरजाद है।" लेकिन जिन्दगी का कटु अनुभव करने वाला पयाग फिर कहता है-"मरजाद ले के चाटो। इधर-उधर से कमा कर लावो, वह भी खेती में झोंक दो।" स्पष्ट है कि पयाग मरजाद के लिए खेती करना ढोंग समझता है। किन्तु काशी किसानी को मरजाद तक सीमित रखकर ही संतुष्ट है। एक किसानी से ही मजदूरी बेहतर समझता है, दूसरा मरजाद के लिए भूखों मरना। यही कृषक जीवन का अन्तर्विरोध है। लेकिन यहीं एक दूसरा मुख्य अन्तर्विरोध प्रकट होता है-किसानी को बेहतर समझने वाला भाग्यवादी गूदड़ चौधरी ईश्वर की न्यायपरता की कलई खोलता हुआ शंका करता है कि भगवान ने छोटे बड़े का भेद नहीं बनाया। यह पूर्व जन्म का संस्कार भी नहीं है। वह कहता है-"यह सब मन को समझाने की बात है बेटा, जिसमें गरीबों

को अपनी दशा पर संतोष रहे और अमीरों के राग-रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े। पर यह अन्याय है कि हमारे बाल-बच्चे भी काम में लगे रहे और पेट भर भोजन न मिले और एक-एक अफसर को दस-दस हजार की तलब मिले।"[283] इसी तरह के भाव होरी के मन में भी आया करते हैं पर उसका अनुभव शील हृदय समझ गया है कि किसान की गर्दन शोषकों के पैरों तले पड़ी है, अकड़कर निबाह नहीं हो सकता। इसलिए धर्मात्मापन ही संतोष का साधन है। यद्यपि यही धर्मात्मापन उसकी दुर्गति का कारण भी है लेकिन इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है। 'कफन' कहानी के घीसू और माधव भी मिथ्या रूढ़ परम्पराओं को अन्ततः त्यागते दिखायी देते हैं। गूदड़ चौधरी सजग और प्रगतिशील किसान है इसीलिए खेती के साथ-साथ परम्परागत चमड़े का कार्य भी करता है और लड़के खाली समय में घास छील कर मजदूरी करने की बात करते हैं। उसकी जागरूकता का एक उदाहरण उसके द्वारा शहरी सभ्यता की जानकारी के विषय में भी है। वह कहता है-"लड़कों को पढ़ने शहर भेज देंगे वहाँ जात-बिरादरी कौन पूछता है, लिखा दिया हम छत्तरी हैं। भेद खुलने पर कह देंगे कि हमारे पूर्वज छत्तरी थे। हालांकि अपने को छत्तरी वंश का कहते लाज आती है। सुनते हैं छत्तरी लोगों ने मुसलमान बादशाहों को अपनी बेटियाँ ब्याही थीं।"[284] कितना ऊँचा जाति स्वाभिमान है। अशिक्षा के बावजूद अनुभवस्नात जीवन। गांधी जी भी अछूतों और किसानों के संदर्भ में निरक्षरता को महत्व का मानते हैं। प्रमचंद लिखते हैं-"किसान निरक्षर होकर भी बहुत से साक्षरों से ज्यादा चतुर हैं, वह परोपकारी है, त्यागी है, परिश्रमी है, किफ़ायती है, दूरदर्शी है, हिम्मत का पूरा है, दिल का दयालु है, बात का सच्चा है, नीयत का साफ है, धर्मात्मा है, नशा नहीं करता, और क्या चाहिए। हमारा तजुरबा तो यह है कि साक्षर होकर आदमी काईयाँ, बदनीयत, कानूनी और आलसी हो जाता है।"[285] इसी लेख में वह लिखते हैं-"देहात वालों की निरक्षरता ही उनकी रक्षा कर रही है। नहीं उनमें भी वही पाखण्ड, वही विलास, वही स्वार्थपरता आ जाती जो आज के विद्वानों की विशेषता है।"

निरक्षरता जहाँ एक ओर किसान की नीयत को साफ और धर्मात्मा बनाती है वहीं उन्हें अपने अधिकारों के प्रति उपेक्षित बनाये रखने में भी सहायक होती है। कदाचित यही उनके मूल अन्तर्विरोध का कारण है। शायद इसीलिए कादिर जैसे रूढ़िवादी ईश्वरवादी किसान शोषित होकर जेल जाने से नहीं डरते किन्तु हिंसा उनके धर्म के मार्ग में बाधक है। अन्तर्विरोधी प्रकृति

के फलस्वरूप सुक्खू किसान मनोहर बलराज को फँसता देखकर उनके खेत हड़पने की खुशी में जमींदार का तलुवा चाटता है लेकिन वर्गीय भावना वश हिंसावादी शोषण का तीव्र विरोध भी करता है, तालाब का पानी रोके जाने पर कारिन्दा गौस खां पर लाठी से प्रहार करता है, विलासी के जीवन को क्षत्राणी की उपाधि देता है, साधू होने पर भी अन्याय नहीं सह पाता और फैजुल्लाह पर चिमटा का प्रहार करता है। सुक्खू के चरित्र का यह अन्तर्विरोध आम किसान के चरित्र का अन्तर्विरोध है क्योंकि क्रान्तिकारी मनोहर भी हिंसा करने के बाद पश्चाताप करता है और क्रांतिकारी बलराज जो रूसी समाजवाद का स्वप्न देखता है; बाद में जिला सभा का सदस्य होकर सामन्तों जैसी हरकतें करने लगता है और जमींदार मायाशंकर के ट्रस्टीशिप का प्रबल समर्थक व सहायक बन जाता है। प्रेमचंद दिखाते हैं कि किसानों के वर्ग का यह अन्तर्विरोध समाजवाद के मार्ग में बाधक है। यहाँ भविष्य दृष्टि का भी संकेत है। राज पाने पर किसान (समाजवादी) भी सामंतों का हमजोली हो जायेगा। मर्यादा प्रेमी किसान सर्वस्व गंवाकर भी खेत नहीं छोड़ते। केवल मर्यादा रक्षा के लिए खेती करने वाले किसान इसी कारण हमेशा समस्याओं से घिरे रहते हैं। प्रेमचंद बार-बार उपन्यासों में इस तथ्य को रेखांकित करते हैं-"कृषि प्रधान देश में खेती केवल जीविका का साधन नहीं है, सम्मान की वस्तु भी है। गृहस्थ कहलाना गर्व की वस्तु है। किसान गृहस्थी में अपना सर्वस्व खो कर विदेशी हो जाता है। वहां से धन कमा कर लाता है फिर खेती करता है। मान प्रतिष्ठा का मोह औरों की भांति उसे भी घेरे रहता है। उसका बाल-बाल कर्ज से बंधा हो लेकिन द्वार पर दो चार बैल बांधकर वह अपने को धन्य समझता है। उसे साल में तीन सौ साठ दिन आधे पेट खा कर रहना पड़े, पुवाल में घुस कर रातें काटनी पड़ें, बेवशी में जीना और बेवशी में मरना पड़े, कोई चिंता नहीं, वह गृहस्थ तो है। यह गर्व उसकी सारी दुर्गति की पुरौती कर देता है।"[286] होरी भी गृहस्थी और खेती के मोह के कारण कई बार अपनी अस्मिता को दाँव पर लगाता है। यही मोह कृषक जीवन की वास्तविक त्रासदी है। कहानियों में किसानों का यही रूप चित्रित करते हैं। "बलिदान" कहानी के किसान की आत्मा मरने के बाद भी अपने खेत-बैलों के चारो ओर चक्कर लगाती है। होरी खेत को बेदखली से बचाने के लिए बेटी बेचता है और पं० दातादीन के पैर पकड़कर मर्यादा बचाने की भीख माँगता है।

प्रेमचंद शोषण करने वाले किसानो का चित्र उपन्यासों में उभारते है

'प्रेमाश्रम' के किसानों से लेकर 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' तक। लेकिन उनकी कमजोरी को रेखांकित करते हुए उनके अस्थिर चित्त की ओर ध्यान भी दिलाते हैं। 'कर्मभूमि' में मंदी के समय लगान कम न किये जाने पर किसानों में भड़के विद्रोह का चित्रण प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि गांधीवादी नेतृत्व से किसानों के संघर्ष को मनमाने ढंग से मोड़ा जा सकता है। इलाके भर के किसान, स्त्री पुरुषों की सभा अमरकांत और आत्मानन्द के सभापतित्व में होती है। यहां वर्ग विरोध और अन्तर्विरोध को प्रेमचंद बारीकी से उभारते हैं। कभी नरमपंथी अमरकांत और कभी वामपंथी आत्मानन्द किसानों की सहानुभूति प्राप्त करते हैं। पहले किसान आत्मानन्द के जोशीले वक्तृत्व से प्रभावित हो जमींदार-महन्त के ठाकुरद्वारे को घेरने पर उद्यत होते हैं लेकिन शीघ्र ही अमरकांत के समझौतावादी चकमें में आकर सारा गुस्सा भुला देते हैं। किसानों में एक ही समस्या पर मतभेद है-भोला चौधरी महंत के काले कारनामों का विरोध करता है और राग-रंग की भर्त्सना करता है। किंतु गूदड़ चौधरी को इससे कोई प्रयोजन नहीं, उसे तो आधा सेर अन्न चाहिए, अन्यथा खेत छोड़ देगा। यह धमकी सलोनी समझती है तभी खेत छोड़ने के प्रस्ताव का विरोध करती है। अलगू तो चौधरी गूदड़ की सलाह नहीं मानता और उसे जमींदार से कोई आशा नहीं। वह कहता है-"महंत के पास चलने से कुछ न होगा। कहीं पिटवाने लगे। हाकिम के पास जाना चाहिए। गोरों में फिर भी दया है।"[287] यह उपनिवेशवादी शिकंजे का प्रभाव है। वैसे उन्हें यह बात भी मालुम है कि हाकिम जमींदार का साथ देते हैं। 'प्रेमाश्रम' का मनोहर कहता है-"ऐसा कोई कानून नहीं बन जाता कि पेशी का मामला इन हाकिमों के इजलास में न पेश हुआ करे। हाकिम लोग भी तो जमींदार होते हैं। इसलिए वह जमींदार का पक्ष लेते हैं।"[288] किसानों की बदलती मनोवृत्ति का अन्तर्विरोध जमींदारों तथा हाकिमों के प्रति निराशा और उनका समर्थन करते रहना है।

प्रेमचंद एक संकेत और भी देते हैं- गाँधी को देवता मानने वाली जनता का विश्वास अब वामपंथ की ओर झुकता जा रहा है। गांधीवादी अमरकांत के समझौतावादी भाषण का जनता पर प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन गांधी की तरह उसका भी खुला विरोध जनता नहीं कर पाती। गांधी के व्यक्तित्व के प्रभाव के बावजूद आत्मानन्द का क्रांतिकारी नेतृत्व जनता को मान्य है क्योंकि सलोनी जैसी गंवार बुढ़िया कहती है-"अमर भैया को तू समझती नहीं, स्वामी जी को बढ़ने नहीं देते।"[289] लेकिन अमर के समक्ष मुंह देखी करती है। नेता

उन्हें जिधर चाहे मोड़ सकते हैं। आत्मानन्द के सद्उत्साह से जगह-जगह किसान सभाओं के गठन और आंदोलनों की चर्चा कर प्रेमचंद जागृति का संकेत देते हैं। यह युगीन यथार्थ और प्रेमचंद की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि है। स्वत्व के लिए विरोध और संघर्ष तथा समझौते के समक्ष अनचाहा आत्मसमर्पण किसानो की मूल चेतना है। अनचाहा इसलिए कि वह नेतृत्व और व्यवस्था के समक्ष अपनी हार मानने पर मजबूर हैं यद्यपि उनमें क्रांतिधर्मिता का लोप नहीं हुआ है। 'गोदान' का होरी सहनशील और समझौतावादी प्रकृति का नहीं है किन्तु उसे जिन्दगी के अनुभव ने सहनशील और समझौतावादी बनने पर मजबूर कर दिया है-'' इस समय यही भाव होरी के मन में भी आ रहे थे लेकिन लड़के के इस विद्रोह भाव को दबाना जरूरी था। बोला 'यह इसी सलामी की बरकत है कि द्वार पर मड़ैया डाल ली और किसी ने कुछ कहा नहीं। घूरे ने द्वार पर खूंटा गाड़ा था जिस पर कारिन्दों ने दो रूपये डांड़ ले लिये। अपने मतलब के लिए सलामी करने जाता हूँ। पांव में सनीचर नहीं है। पहले मैं भी यही सब बातें सोचा करता था पर अब मालूम हुआ कि हमारी गरदन दूसरों के पैरों के नीचे दबी हुई है, अकड़ कर निबाह नहीं हो सकता।'[290]'' 'संग्राम' नाटक में किसानों की अन्तर्विरोधी प्रकृति बहुत साफ है। सलोनी जमींदार का विरोध करती है। हलधर उग्रवादी है लेकिन मंगरू और हरदास पैर बढ़ाना अनुचित व हानिकारक समझते हैं। हरदास कहता है-''हाकिम ही खुश होकर मुखिया बना दे तो साल में सौ दो सौ रूपये अनायास ही हाथ लगते रहें।''[291]'' 'संग्राम' में जमींदारी समाप्त होने पर समाजवादी व्यवस्था बनती है लेकिन किसानों में आपस में फूट पड़ जाती है। अधिकार प्राप्त हलधर और फत्तू किसान भाइयों की उपेक्षा करते हैं और सामन्ती प्रवृत्ति वाले होकर चंदे तथा पैसे का दुरूपयोग करते हैं। यहाँ स्वतंत्रता पश्चात् के संभावित जनतंत्र का चेहरा दिखाया गया है। इनमें पहले से ही महाजनी संस्कार रहते हैं जो बाद में उन्हें शोषण करने की प्रेरणा देते हैं। महाजनी संस्कार होरी में भी हैं-''होरी ने भी कभी महाजनी की थी।'' इसी संस्कार के कारण वह भाई से पैसे-पैसे के लिए बेईमानी करता है, सन को गीला करता है, रूई में विनौला भर देता है, भोला की गाय को झूठ बोल कर प्राप्त करने की तिकड़म करता है। भोला भी शादी की लालच में गाय का दाम सौ रूपये बताकर फिर अस्सी में बेचता है और होरी से भूसा लेकर एहसान भी लादता है। लेकिन होरी महाजनी संस्कारों का दुरूपयोग अवसर पड़ने पर भले करता

है, पर धर्म और भगवान के नाम से कांप उठता है। धर्म के नाम पर उसका शोषण आसानी से हो जाता है।

यद्यपि आलोचक होरी और धनिया को मिलाकर ही किसान का सम्पूर्ण चित्र बनाते हैं किन्तु धनिया के अभाव में भी होरी में किसान के सभी स्तर और अन्तर्विरोध मिल जाते हैं। गरीबी, भुखमरी का सामना करते हुए किसान बनने की लालसा उसमें इसलिए नहीं है कि खेती से उसे आर्थिक लाभ है बल्कि इसलिए कि खेती में मरजाद है। होरी कहता है-"हमीं को खेती से क्या मिलता है? एक आने नकदी की मंजूरी भी तो नही पड़ती लेकिन खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता। फिर मरजाद भी तो पालना पड़ता है। खेती में जो मरजाद है वह नौकरी में तो नहीं है।"[292] गाय उसी मर्यादा का स्तम्भ है। होरी गाय के बदले भैंस खरीदकर घी-दूध उपले आदि की उपलब्धि कर सकता था। लेकिन गाय मर्यादा की धुरी है। भले ही उसके लिए चारा न जुट पाये पर किसान द्वार पर बांध कर मर्यादा बनाने का मोह नहीं छोड़ता। एक लेख में प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं-"यहां गाय की पूजा तो बहुत होती है पर उसके खाने को चारा मयस्सर नहीं होता।"[293] होरी इसी मर्यादा को बचाने के लिए न केवल दरोगा को रिश्वत देता है, बिरादरी की डांड़ भरता है, भावज पुनिया की खेती निःस्वार्थ भाव से करता है, बल्कि बेटे की झूठी कसम भी खाता है, बेटी भी बेचता है। यद्यपि वह जानता है कि धर्म और भगवान गरीबों के शोषण के अस्त्र हैं फिर भी वह धर्म नहीं छोड़ता क्योंकि उसके निराश व पराजित मन को वहीं शांति मिलती है और जीने का आधार भी। धार्मिकता उसका जातीय व सांस्कृतिक संस्कार भी है। कृषक इसलिए झगड़े से दूर नहीं रहता कि वह डरपोक है बल्कि संघर्ष करके देख चुका है कि धन, शक्ति और संगठन के प्रभाव में वह अंततः पराजित ही नहीं होता, शोषण तंत्र में अधिक बुरी तरह फंसकर मर्यादा और सम्मान, धन और जमीन सब कुछ खो देता है। उसके भीतर विद्रोह की ज्वाला निरन्तर जलती रहती है पर स्थिति को देख चुप रहता है। इसलिए होरी धनिया और गोबर को भड़काता नहीं; चुप रहने का उपदेश देता है। बाहर से शांत रहने वाला होरी अन्दर से विद्रोही रहता है। वह जड़ नहीं हो पाता बल्कि क्रांतिधर्मी प्रकृति मर्यादा रक्षा के लिए बार-बार विकल हो उठती है और वह साहस तथा शक्ति का रूप बन जाता है। झगड़े से डरने वाला होरी दमड़ी बसोड़ द्वारा भावज पुनिया का अपमान देख अपनी बेईमानी की कलई खुलने की परवाह किए बिना दमड़ी को मारता है, गरियाता है। उस

समय पुनिया के साथ कुछ रूपयों की बेईमानी के पोल खुलने को भय की अपेक्षा पारिवारिक मरजाद की रक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। वह मनोहर की तरह ही पत्नी धनिया का अपमान देख भाई हीरा पर कठोर वाक् प्रहार करता है, रायसाहब के धनुष यज्ञ में सामन्तों पूंजीपतियों को संकट में पड़ा देख उनकी प्राणरक्षा हेतु अपने प्राणों की परवाह किये बिना बूढ़ा और बीमार होते हुए भी खूँखार पठान को दबोचकर बन्दूक छीन लेता है और देखते ही देखते उसे बेहाल कर देता है। पुरुषत्व और अदम्य साहस उसकी अन्तश्चेतना का अंग दिखायी देते हैं। वह झुनिया और सिलिया को शरण देकर सामाजिक विपत्तियाँ भी मोल लेता है। यही नहीं जब रामसेवक महतों से होरी यह विश्वास प्राप्त कर लेता है कि उसके गांव में किसान लगान देने से इंकार कर सफल हो चुके हैं और किसानों की एकता से जमींदार झुक गये हैं, तो होरी प्रसन्न हो उठता है। इसी भावावेग और वर्ग संघर्ष की सफलता की आशा लिये रामसेवक से बेटी का विवाह कर देता है। उसे रामसेवक जैसे क्रांतिकारी और विद्रोही किसानों की आवश्यकता बलवती लगती है। रामसेवक के कहने पर कि-''जमींदार ने देखा, सारा गांव एक हो गया तो लाचार हो गया, खेत बेदखल कर दे तो जोते कौन। इस जमाने में जब तक कड़े न पड़ो कोई सुनता नहीं।'' प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-''होरी को तो रामसेवक पर यह विश्वास हो गया था, जो दुर्बल को जीवट वाले आदमियों पर होता है। ऐसा आदमी उसका हाथ पकड़ ले, तो बेड़ा पार है।''[294] क्रांति के प्रति जीवन के अंत में होरी का यह उत्साह उसकी हठात् दमित कुंठित कर दी गयी सुषुप्त वर्गीय अन्तश्चेतना का प्रमाण है जिसका झुकाव क्रांति की ओर है।

होरी, हीरा, भोला सभी स्वार्थी हैं, ईर्ष्यालु है, पत्नी को पीटते हैं, प्यार भी करते हैं, धर्मात्मा हैं, यह सब उनकी आर्थिक बेवशी के कारण ही है। गोबर, धनिया और मि० मेहता सभी कहते हैं-''यही धर्मात्मापन किसानों की दुर्गति का कारण है।'' लेकिन वह जीने के लिए धर्म नहीं छोड़ सकता। उनमें संगठन नहीं है। होरी और हीरा दोनों भाई एक दूसरे के विरोधी हैं। गोबर भी होरी का विरोध करता है। भोला भी बेटों से त्रस्त है। ''मुक्तिमार्ग'' कहानी दो किसानों के आपसी द्वेष और फूट के फलस्वरूप मजदूर बनने की कहानी है। ''सुजान भगत'' कहानी में कामचोर बनकर कृषक अपने बेटों से उपेक्षित होता है। गरीबी का ही परिणाम है कि होरी छत्तीस साल में बूढ़ा हो गया, दवा के अभाव में धनिया के तीन लड़के मर गये, पुन्नी दो बच्चों में ही ढल गयी, लू

लगने से भोला की स्त्री मर गयी और लखनऊ में मिर्जा चार सौ फटेहालों की पंक्ति खड़ी करते हैं ओर होरी दवा के अभाव में अन्ततः मर ही जाता है।

प्रेमचंद लिखते हैं कि-"अलग-अलग होकर किसान पराजित होते रहते हैं, उनमें जागृति है, साहस है पर संगठन नहीं। 'कायाकल्प' में संगठित किसान संघर्ष में कामयाब दिखायी देते हैं किन्तु संगठन तोड़ते ही पराजित हो जाते हैं। प्रेमचंद उनके संगठन की आवश्यकता समझते हैं। एक लेख में अपील करते हैं-"उनमें सबसे बड़ी कमी संगठन की है। जब तक अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं होता, जब तक इन समुदायों का मुकाबला नहीं कर सकता, उसका जीवन सुखी न होगा। उनमें सबसे बड़ी जरूरत संगठन की है और यह राजद्रोह है।"[295]

प्रेमचंद किसानों की गरीबी का कारण उनकी रूढ़िवादिता और सामाजिक शोषण को मानते हैं। गरीबी की विभीषिका में फंसकर वह भूखों मरने लगता है और किसानी करने में अक्षम हो जाता है। कर्ज का चक्रवृद्धि ब्याज उसे कमजोर बना देता है। वह धीरे-धीरे खेत छोड़ने पर विवश हो जाता है। उसके खेत जमींदार व महाजन अपने कर्ज के एवज में हड़प लेते हैं। वह विवश होकर किसान से खेतिहर मजदूर बन जाता है। वह मालिक दातादीन की धौंस सहता है। किसान के रूप में काम के प्रति स्वतंत्र रहने वाला होरी अब फटकार के डर से क्षमता से अधिक काम करके भी मालिक को संतुष्ट नहीं कर पाता और धनिया को कहना पड़ता है-"क्या जरा दम भी न लेने दोगे महाराज। हम भी तो आदमी हैं। तुम्हारी मज़दूरी करने से बैल नहीं हो गये।"[296] मरजाद वाला किसान दातादीन की फटकार से जी छोड़कर काम करते-करते बेहोश हो जाता है तो एक मजदूर दातादीन से कहता है-"मालिक तुम्हे ऐसी बात न कहनी चाहिए कि आदमी को लग जाय। पानी मरते ही मरते तो मरेगा।" लेकिन खेत मजदूर के साथ दातादीन का बर्ताव ऐसा ही होता है। किसान के साथ किसान और जमींदार का संबंध रखने वाले दातादीन होरी के साथ मालिक और मजदूर का संबंध रखते हैं। होरी दिन रात मजदूरी करके भी भरपेट भोजन नहीं पाता, धनिया कहती है-"महीनो से भरपेट रोटी न नसीब हुई।" और सड़क पर कंकड़ खोदता हुआ होरी लू लगने से पैसे के अभाव में दम तोड़ देता है। कृषक जीवन की यही त्रासदी है जिसे **प्रेमचंद** बड़ी कुशलता और सच्चाई से उभारते हैं।

प्रेमचंद साहित्य में तीन तरह के मजदूर चित्रित हैं-एक स्वतंत्र रूप से

मजदूरी करने वाले जैसे ''कर्मभूमि'' का पयाग, ''रंगभूमि'' का भैरों, ''सेवासदन'' का चेतू और ''कायाकल्प'' के अधिकतर मजदूर; दूसरे खेतिहर मजदूर हैं जैसे 'गोदान' का होरी, 'प्रेमाश्रम' के बेगार मजदूर और 'बलिदान' का शंकर, 'कफन' का घीसू व माधव, 'सवा सेर गेहूँ' का किसान और 'पूस की रात' का हलधर आदि। तीसरे तरह के मिल मजदूर है जैसे 'रंगभूमि' के ज्यादातर क्रांतिकारी मजदूर, गोदान का गोबर तथा खन्ना मिल के अन्य मजदूर। भारत में औद्योगिक पूँजी के विकास के साथ ही पूंजीपति और मजदूर वर्ग का विकास हुआ। प्रेमचंद के साहित्य में पूंजीपति वर्ग के विकास का क्रमबद्ध निरूपण मिलता है। जैसे-जैसे वह गम्भीर और मननशील होते गये इस वर्ग की बारीकियों और अन्य वर्गों से परिचित होते गये। 'सेवासदन' में सामन्ती पूंजीपति वर्ग का संकेत मात्र है। मुंशी अबुलवफा तेल व इत्र के कारखाने के मालिक हैं, सेठ बलभद्र दास बड़े व्यापारी, लाला भगतराम ठेकेदार, ये लोग म्युनिसिपैलिटी के कर्णधार हैं, प्रेमचंद ने संकेत किया है कि ये लोग व्यक्तिगत पूंजी की ओर बढ़ रहे हैं। शासन में इन्हीं का बहुमत है। शोषण के हर मोड़ पर यही विराजमान हैं। प्रेमाश्रम में औद्योगिक पूंजी का प्रवेश हो जाता है। इसीलिए सामन्त राय साहब कहते हैं-''मैं किसानों को कुली बनाने का कट्टर विरोधी हूँ। पूंजी वाले जानते हैं कि घरेलू शिल्प हमारे प्रभुत्व का अंत कर देगा। इसी से इसका विरोध करते हैं।''[297] 'रंगभूमि' में पूंजीवादी व्यवस्था का आगमन और स्थायित्व दिखाया गया है। पूंजीवादी समाज में सारे सामाजिक संबंध बदल जाते हैं। गांव-शहर अधिक निकट होने लगते हैं और नगरीय सभ्यता गांवों में पहुंचती है। पारिवारिक और निजी संबंधों में स्वार्थपरता का बोल-बाला हो जाता है। साम्राज्यवादी पूंजीपति सामन्तों को प्रोत्साहित कर उसे पूंजीपति बनने का रास्ता दिखाता है। 'रंगभूमि' का जान सेवक औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है। वह कुंवर भरत सिंह को कम्पनी का शेयर देता है पर उसकी स्वार्थ चेतना उसका ही तिरस्कार करती है-''तुमने देश के व्यावसायिक उन्नति के लिए नहीं; अपने स्वार्थ के लिए प्रयत्न किया है। देश का सेवक बनकर तुम अपनी पांचों उंगलियाँ घी में रखना चाहते हो।''[298] धोखा देना वह व्यापार का धर्म मानता है। उसकी दृष्टि में स्वार्थ संगठन ही धर्म है। वह कहता है-''धर्म और व्यापार को एक तराजू पर तौलना मूर्खता है। धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार। संसार में जीवित रहने के लिए किसी व्यापार की जरूरत है, धर्म की नहीं। धर्म तो व्यापार का श्रृंगार है। वह धनाधीशों को ही

शोभा देता है। खाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है।"299" धर्म का विरोधी होने के नाते और धर्म को अपनी सुविधा के लिए प्रयोग करने के कारण ही बदलती हुई भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेमचंद सशंकित थे। सूरदास व्यापार के इसी मुद्दे का विरोध भी करता है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप गंवई संस्कृति पर पाश्चात्य धर्महीन उच्छृंखल संस्कृति हावी होने लगी थी। इसीलिए पाश्चात्य संस्कृति के दूषण को रोकना जरूरी था। सूरदास कहता है-"साहब किरस्तान हैं, धर्मशाले में तम्बाकू का गोदाम बनायेंगे, मन्दिर में उनके मजूर सोयेंगे, कुएं में उनके मजूरों का अड्डा होगा। बहू-बेटियाँ पानी भरने न जा सकेंगी, ताड़ी-शराब का भी प्रचार बढ़ जायेगा। बुरी-बुरी आदतें आचरण अपने गांव में फैलायेंगे।"300" मिल लग जाने पर मजदूर वर्ग के साथ ऐसी बुरी आदतें लिपट जाती हैं। मिठुआ मिल मजदूर बनकर बुरी आदतें सीखता है, नशे पानी में सब उड़ा देता है, जुआ खेलता है, सूरदास को अपमानित करता है और प्रौढ़ा सुभागी पर कुदृष्टि डालता है। मिल के मजदूर किसानों से भिन्न होते हैं इसलिए उन्हें अपनी बिरादरी जाति की परवाह नहीं होती। वे स्वतंत्र होते हैं इसलिए अनाचार अधिक करते हैं। किसान बिरादरी, जाति, समाज, परिवार से बंधा होकर संयम त्याग तथा धर्म का हिमायती होता है। प्रेमचंद लिखते हैं-"मिल के परदेशी मजदूर जिन्हें न बिरादरी का डर था न संबंधियों का लिहाज, दिन भर तो मिल में काम करते, रात में ताड़ी शराब पीते, जुआ नित्य होता था। ऐसे स्थानों पर कुलटाएं भी आ पहुंचती हैं। पाण्डेपुर का पुराना बाजार सर्द होता जा रहा था। मिठुआ-घीसू-विद्याधर जुआ खेलते।"301"

प्रेमाश्रम में राय कमलानंद कृषि संस्कृति के बिखराव से आशंकित हो मिल एजेण्ट के प्रस्ताव का विरोध करते हुए मिल खुलने को हानिकर बताते हैं-"निःसंदेह आप कई हजार कुलियों को काम पर लगा देंगे लेकिन ये मजूरे अधिकांश किसान ही होंगे, और किसानों को कुली बनाने का मैं कट्टर विरोधी हूँ।"302"

औद्योगिक पूंजी का विकास होने और मिल लग जाने से गांव के किसान व छोटे व्यापारी आपस में विरोध कर अधिक लाभ की चिंता करने लगते हैं। किसी को ताड़ी अधिक बिकने की चिंता है किसी को दूध। प्रेमचंद संकेत करते हैं कि छोटे व्यापारी पूंजीपति वर्ग में शामिल होने के लिए संघर्ष करने लगते हैं। "रंगभूमि" का ताहिर अली पुराना मकान छोड़कर शहर के

अच्छे मुहल्ले में मकान ले लेता है और नौकर रखकर जिल्दसाजी का काम तेजी से बढ़ाने लगता है।

लेकिन इतना स्पष्ट है कि "रंगभूमि" में पूंजीवाद के शैशव का चित्र है। पूंजीवाद के साथ न्यायालय, पुलिस, सरकार सभी होते हैं। पूंजीपति जान सेवक सरकार को पक्ष में करने के लिए मि0 क्लार्क की बेटी से रिश्ता तय करता है ताकि सूरदास की जमीन हड़प सके। सामन्त महेन्द्र कुमार और कुंवर भरतसिंह भी उसके साथ हैं। इसके बावजूद वर्ग-विरोध की स्थिति पूरी तरह उभरती है। वर्ग-संघर्ष का संकेत भी प्रेमचंद देते हैं। मिठुआ बम गोले बनाना जानता है, वह पुतलीघर में आग लगाने की सोचता है। 'गोदान' में खन्ना की मिल में आग लगाकर प्रेमचंद वर्ग-संघर्ष की कामयाबी की ओर भी संकेत करते हैं। 'गबन' के सेठ करोड़ीमल अपनी जूट की मिल में मजूरों के साथ निर्दयता से पेश आते हैं किन्तु दान धर्म के अवतार लगते हैं। 'कर्मभूमि' के लाला समरकांत और धनीराम पूंजीपति वर्ग के विरोधी हैं। वह धार्मिक होते हुए भी धर्म को व्यापार में बाधक मानते हैं। वह महाजनी पूंजीवाद के विकास में बेईमानी को प्रधान समझते हैं-"धर्म मार्ग पर चलता तो आज लंगोटी लगाए घूमता। कौन सा रोजगार है जिसमें तुम्हारी आत्मा की हत्या न हो, जो दांव घात समझता है वह नफा उड़ाता है, जो नहीं समझता उसका दीवाला पिट जाता है। इतने बड़े-बड़े हाकिम हैं कौन घूस नहीं लेता-थानेदार, वकील, लीडर।"[303] प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में बेईमानी और अधर्म का ही राज है। शोषण को बरकरार रखने के लिए पूंजीपति धनीराम पुलिस-प्रशासन की सहायता लेता है और दमन से आंदोलन को रोकता है। जहाँ सामान्य कैदियों की उपेक्षा, प्रताड़ना की जाती है, लाला समरकांत की बहू सुखदा के साथ दोस्ताना बर्ताव किया जाता है।

समरकांत अभी औद्योगिक पूंजीपति नहीं है केवल महाजनी पूंजीपति है। कर्मभूमि में प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि औद्योगिक पूंजीपति और महाजनी पूंजीपति के बीच भी स्वार्थों का टकराव होता है। वर्ग-संघर्ष से अधिक हानि औद्योगिक पूंजीपति की ही होती है। औद्योगिक पूंजीपति मि0 हामिद अली समरकांत तथा म्यूनिसिपैलिटी से आंदोलन रोकने का आग्रह करते हैं "मि0 हामिद अली कपड़े की मिल के मैनेजर थे उनकी मिल घाटे पर चल रही थी। डरते थे कहीं लम्बी हड़ताल हो गयी तो बधिया ही बैठ जायेगी।"[304]

जुलूस को रोकने के लिए पूंजीपति मनीराम अपनी नेता पत्नी को गोली मार देता है जैसे मानवता का इस वर्ग में लोप हो गया हो।

'कर्मभूमि' में वर्ग-संघर्ष को समझौतावादी नीति का जामा पहना दिया जाता है। जो कमेटी बनती है उसमें धनी-महाजन और पूंजीपति ही सदस्य होते हैं। यहाँ प्रेमचंद पूंजीवाद की पराजय नहीं दिखाते, उसके स्थायित्व का विश्वास ही व्यक्त करते हैं। यह विश्वास 'रंगभूमि' के विश्वास से ज्यादा सशक्त है क्योंकि 'रंगभूमि' में पूंजीवाद के स्थायित्व और सामन्तवाद के पतनोन्मुखी दशा का चित्रण करते हैं किन्तु 'कर्मभूमि' में सामन्तवाद को पूंजीवादी चोंगा ग्रहण करने का विश्वास भी देते हैं और उसका शासन से समझौता करा के शोषण का चक्रव्यूह गठित करने का संकेत भी।

''रंगभूमि'' के मिल मजदूर विरोध करते हैं; संघर्ष नहीं और यदि संघर्ष करते हैं तो असंगठित होकर। ''कायाकल्प'' के मजदूर तो सशस्त्र आंदोलन भी करते दिखायी देते हैं किन्तु कामयाबी तक पहुँचते-पहुँचते असंगठन के कारण पराजित होते हैं जैसे 'रंगभूमि' में अन्ततः किसान मजदूर बिखर जाते हैं। क्रांति की बात करना और बिखर जाना ही मजदूर वर्ग का अन्तर्विरोध है। अपने लेखों में प्रेमचंद का यही स्वर बार-बार सुनायी पड़ता है।

प्रेमचंद ने मिल मजदूर और खेतिहर मजदूरों की प्रकृति का चित्रण बारीकी से किया है। क्योंकि खेतिहर मजदूर मिल मजदूर की तरह क्रांतिकारी नहीं होता, 'गोदान' का होरी खेतिहर मजदूर है और गोबर मिल मजदूर। खेतिहर मजदूर अंत तक मर्यादा की रक्षा करता है। वह कर्मण्य है और धन-प्राप्ति की चिंता से प्रायः बेखबर होकर भी पेट पालन का लक्ष्य रखता है। होरी में ये सारे गुण हैं। 'पशु से मनुष्य' का मजदूर ईमानदारी से आगे बढ़ता है। गोबर मिल मजदूर है अतः सारे दूषण उसमें विद्यमान हैं। मि० मेहता को विश्वास है कि भविष्य में साम्यवाद आने पर अधिकार प्राप्त मजदूर भी ऐयाश और बेईमान हो जायेंगे-''गोबर शहर जाकर राष्ट्र और वर्ग का अर्थ समझने लगा है। सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिष्ठा और लोक निंदा का भय अब उसमें बहुत कम रह गया है। पंचायतों ने उसे निःसंकोची बना दिया है। सूद पर रूपये उधार देता है।''[305] वास्तव में यही जागृति उसमें साहस और विरोध का भाव दृढ़ करती है। वह होरी के धर्मात्मापन की निंदा करता है क्योंकि यही उसकी दुर्दशा का कारण है। बैंक से परिचित होते हुए भी गोबर दाता दीन से बैंक की तरह सूद लेने की बात करता है लेकिन यहाँ दो मजदूरों के बीच

मतभेद है। यह मतभेद वर्गीय मूल चेतना का परिणाम है जो दोनों को पृथक रखता है। इस अन्तर्विरोध का एक कारण यह भी है कि होरी में कृषक संस्कार कभी मरते नहीं क्योंकि वह सामन्ती संस्कृति के मध्य ही रहता है- बिरादरी गांव परिवार के बीच; किंतु मिल मजदूर बनकर गोबर गांव के बाहर चला जाता है जहाँ पूंजीवादी संस्कृति फैली है। औद्योगिक पूंजीवादी संस्कृति के संस्कार उस पर तेजी से पड़ते हैं इसी से गोबर, होरी तथा उसकी मान्यताओं पुण्य-मर्यादा, पूर्वजन्म आदि का विरोध करता है। वह नियतिवादी नहीं है। जिस संस्कृति का वह साक्षात्कार करता है उसमें साहस सद्योग का पाठ है और अपना भाग्य स्वयं निर्मित करने की मान्यता भी। वह मर्यादा को ढोंग समझता है, भगवान को अन्यायी और वर्तमान व्यवस्था को समाज की देन मानता है; न कि होरी की तरह भगवान की लीला। प्रेमचंद लिखते हैं-"उसने राजनैतिक जलसों के पीछे खड़े होकर भाषण सुने हैं जो उसके अंग-अंग में विंधा है। उसने सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पानी होगी। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आयेगी।"[306]" गोबर में प्रायः मनुष्यता का लोप हो गया है-स्वार्थ और कुवासनाएँ उसकी नैतिकता पर पर्दा छोड़ चुकीं हैं। होरी स्वार्थी होता हुआ भी, मानवता, मर्यादा धर्म को नहीं छोड़ता। यद्यपि दोनों कर्मठ हैं और जिजीविषा भी दोनों में विद्यमान है किंतु एक मूल अन्तर्विरोध दोनों की मानसिकता के बीच दिखायी पड़ता है। होरी इसलिए कर्मण्य है क्योंकि उसे अपने अस्तित्व की परतंत्रता की चिंता है और इसीलिए वह आलसी न होकर खेतिहर मजदूर बन जाता है और वह भी पूरे किसान संस्कारों के साथ। गोबर कर्मण्य इसलिए है क्योंकि उसे अपने अस्तित्व की स्वतंत्रता का पूरा ज्ञान हो चुका है और किसी भी कीमत पर वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। होरी गोबर से अधिक टूटा है क्योंकि वह गांव में सभी का नौकर है और संगठन के बल पर शोषण का विरोध भी करना चाहता है। मजदूर के दो वर्गों का यही अन्तर्विरोध उनकी एकता में बाधक है। प्रेमचंद उन्हें "दुःख के आधार पर एक सूत्र में बांधने" की आवश्यकता महसूस करते हैं। किसान और खेतिहर मजदूर अधिक शोषित हैं; मिल मजदूर उनसे कम। दोनों एक दूसरे के वर्गीय विभेद को भूल कर संगठित होकर स्वतंत्र अस्तित्व कायम कर सकते हैं।

'गोदान' में प्रेमचंद पूंजीवाद के कई स्तरों को टटोलते हैं। पूंजीवादी

व्यवस्था नग्नरूप में यहाँ चित्रित है। यहाँ सामन्त-जमींदार वर्ग का पूंजीपति वर्ग में धीरे-धीरे संक्रमण होता रूप भी मिलता है, महाजनी पूंजीपति वर्ग का औद्योगिक व्यवस्था में भागीदारी का रूप भी और औद्योगिक पूंजीपतियों से बैंकरों का गठबन्धन भी। राय साहब अमरपाल सिंह जमींदार हैं किन्तु मिल के मैनेजिंग डायरेक्टर और बैंक के मैनेजर मि० खन्ना बड़े औद्योगिक पूंजीपति हैं। वह रायसाहब से अपनी शुगर मिल में शेयर लेने की सिफारिश करते हैं और प्रलोभन भी देते हैं कि शेयर लेने में जो पैसा लगेगा वह बैंक से कर्ज दे देंगे क्योंकि बैंक के मैनेजर होने के नाते बैंक उनके हाथ में है। यही नहीं करोड़पति बनने की युक्ति भी मि० खन्ना रायसाहब को बताते हैं-"मेरी सलाह से थोड़ा स्पेकुलेशन का काम भी शुरू कर दीजिए। यह जो आज सैकड़ों करोड़पति बने हुए हैं सब इसी स्पेकुलेशन से बने हैं-"रूई, शक्कर, गेहूँ रबर, किसी जिन्स का सट्टा कीजिए। मिनटों में लाखों का वारा-न्यारा होता है। बाजार का उतार चढ़ाव कोई आकस्मिक घटना नहीं, इसका भी विज्ञान है।"[307]" इसके अतिरिक्त अन्धविश्वास का उपयोग करने की कला भी खन्ना को ज्ञात है जिसके माध्यम से पैसे वालों का विश्वास जीतकर उन्हें जाल में फंसाते हैं। कीमियागर बनकर जड़ी-बूटियों के द्वारा लोगों का विश्वास जीतने की यह पूंजीवादी कला है। प्रेमचंद दिखाते हैं कि किस तरह ये पूंजीपति और बैंकर जमींदारों-रईसों का उपयोग करते हैं और वास्तविकता तो यह है कि पूंजीपति बैंकों को भी अपने अधीन रखते हैं, जिसे चाहते हैं कमीशन लेकर अपने लाभ के लिए कर्ज देते हैं। राय साहब मि० खन्ना को इसी शर्त पर कर्ज देने पर राजी होते हैं कि उनकी शुगर मिल की पालिसी रायसाहब खरीदें। विवश हो पालिसी रायसाहब को खरीदनी पड़ती है। प्रेमचंद यह भी दिखाते है कि महाजनों का पूरा का पूरा वर्ग भी पूंजीपतियों के चंगुल में है। जिन मि० खन्ना की शुगर मिल है, उन्हीं की महाजनी कोठी भी है। जिसमें शहर के बड़े से बड़े महाजनों से लेकर गांव के छोटे महाजन झिंगुरी सिंह भी सदस्य हैं जो गांवों में कर्ज बांटते हैं। इसीलिए पूंजीपति खन्ना महाजन होते हुए भी महाजनी शोषण का स्वागत करते हैं। किसान का गन्ना मिल में जाने पर उसका मूल्य उन महाजनों के हाथों में खन्ना देते हैं जिनके किसान कर्जी होते हैं और अधिक शोषण करने के लिए मि० खन्ना मिल में गलत बाट और गलत आदमी भी रखते हैं।

जहाँ एक ओर पूंजीपति किसानों का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष शोषण करता है

वहीं जमींदार और छोटे पूंजीपतियों का भी। पूंजीपति और छोटे बैंकरों के भी गठबन्धन से सारी व्यवस्था पूंजीपति वर्ग के हाथ में होती है। बैंकर छोटे और बड़े पूंजीपतियों में भी दबाव बनाये रखता है। इसीलिए जमींदार रायसाहब से अधिक प्रभाव बड़े जमींदार राजा सूर्य प्रताप का है, वह बैंक के डायरेक्टर भी हैं। इसीलिए मि0 खन्ना उनकी मर्जी के विरुद्ध राय साहब को बैंक का कर्ज नहीं देते। एक कारण और भी है-यद्यपि राय साहब राजा साहब के विरूद्ध चुनाव में उम्मीदवार हैं अतः स्वार्थों के इस टकराव में आर्थिक विजय राजा साहब की होती है क्योंकि बैंक पर उनका हस्तक्षेप है और राय साहब कर्जी होने के नाते बैंक के आश्रित हैं। मि0 खन्ना दोनों के बीच का रास्ता निकाल कर लाभ प्राप्त करते हैं। वह राय साहब से कहते हैं-"बैंक की जो स्थिति है वह मैंने आपके सामने रख दी। बैंक ने एक तरह से लेन-देन बंद कर दिया है। मैं कोशिश करूँगा कि आपके साथ खास रियायत की जायेगी, लेकिन बिजनेस इज बिजनेस, यह आप जानते हैं। पर मेरा कमीशन क्या रहेगा। राजा साहब का अन्य डायरेक्टरों पर कितना प्रभाव है यह आप जानते हैं। मुझे उनके खिलाफ गुटबन्दी करनी पड़ेगी। व्यापार का एक दूसरा क्षेत्र है यहाँ कोई किसी का दोस्त नहीं, कोई किसी का भाई नहीं।"[308]" प्रेमचंद बैंकरों की सर्वोच्च स्थिति सिद्ध करते हैं। मि0 मेहता खन्ना को सर्वोच्च शक्ति मानते हैं-"मैं तो आपको राजाओं का राजा मानता हूँ। आप उन पर शासन करते हैं। उनकी कोठी आप के हाथ में है.. आज संसार का शासन सूत्र बैंकरों के हाथ में है। सरकार उनके हाथ का खिलौना है।"[309]" रायसाहब भी इसका समर्थन करते हैं।" चुनाव में वही बाजी ले जाता है जिसके पास धन है। बड़े-बड़े पंडित, बड़े-बड़े मौलवी, बड़े-बड़े लिखने और बोलने वाले जो अपनी जबान से पब्लिक को जिधर चाहें फेर दें सभी सोने के देवता के पैरों पर माथा रगड़ते हैं।"[310]" 'गोदान' के बिजली सम्पादक पं0 ओंकारनाथ ऐसे ही स्वार्थ सेवी सम्पादक हैं जो रिश्वत लेकर जमींदारों पूंजीपतियों की पक्षधरता करते हैं। एक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं-"जनता की कौन सुनेगा। समाचार पत्र व्यापारियों के,शासन व्यवस्था व्यापारियों की, जन मत व्यापारियों के हाथ में, प्रोपेगेंडा करने की कला में कौन उनके सामने घुटने टेकने को तैयार नहीं है।"[311]"

एक ऐसा भी दलाल वर्ग है जो पूंजीपति वर्ग के समक्ष पहुँचने के लिए हाथ-पांव मार रहा है। 'गोदान' के श्याम बिहारी तंखा ऐसे ही दलाल हैं जो

जमींदारों की दलाली करते हैं और बीमा कम्पनी के दलाल भी हैं, महाजनों और बैंकों के ताल्लुकेदार को कर्ज दिलाकर कमीशन लेते हैं, सदैव दांव पेंच लगा कर, अड़ंगा लगाकर, नयी कम्पनी खोलकर तथा चुनाव में उम्मीदवार खड़ाकर या दल बदल के द्वारा अधिक धन बटोरते हैं। वह मि0 खन्ना को भी जाल में फंसाते हैं। मि0 खन्ना स्वदेशी पूंजीपति हैं जो स्वराज्य संग्राम में जेल हो आकर भी आदमी का शिकार करते हैं। 'गोदान' में प्रेमचंद की दृष्टि साफ लगती है। संसार भर में और कमोवेश भारत में भी पूंजीवाद स्थापित हो गया है और बैंकरों ने संसार का शासन सूत्र हाथ में ले लिया है। यद्यपि प्रेमचंद वर्ग संघर्ष का एक दृश्य भी 'गोदान' में दिखाते हैं किन्तु अन्ततः पूंजीपति वर्ग विजयी होता है। खन्ना की मिल जलाकर वर्ग संघर्ष की एक असफल चेष्टा प्रेमचंद कराते हैं; न कि पूंजीवाद की समाप्ति की पहल करते हैं क्योंकि मिल जलने के बाद मि0 खन्ना फिर नई मिल खड़ी करते हैं और मजदूरों को परास्त कर वर्ग संघर्ष में विजयी भी होते हैं। कहानी "डामुल का कैदी" में भी मजदूर संघर्ष का चित्रण है। लेकिन प्रेमचंद पूंजीवाद की सम्भावना से इंकार नहीं करते। एक लेख में लिखते हैं-"मिल का यह भूत किसानों का रक्त चूस लेता है। जो धन लाखों, करोड़ों के हाथों में जाता था वह अब थोड़े से व्यापारियों के कब्जे में जमा हो रहा है। व्यवसाय का यह युग है और हम चाहें या न चाहें उसके चक्कर से बच नहीं सकते।"[312] 'रंगभूमि' से पहले के एक लेख में प्रेमचंद औद्योगीकरण का विरोध करते दिखायी देते हैं किन्तु बाद में उनका वैचारिक विकास हुआ है। 1921 के लेख "स्वराज्य के फायदे" में लिखते हैं-"शिल्प और उद्योग यहाँ सदा कृषि के नीचे ही रहेगा। अतएव हम अपने यहाँ बड़े-बड़े कारखाने कायम नहीं कर सकते क्योंकि इससे मजदूर शहर में बसने लगते हैं और नाना प्रकार की आदतों में पड़कर शरीर का सर्वनाश करते हैं।"[313] किन्तु 1934 के लेख "बेकारी कैसे दूर हो" में इसका समर्थन करते हैं-"इधर नई-नई कलें निकलती आ रही हैं। जिसमें आदमियों का काम बड़ी किफायत से मशीनों द्वारा हो जाता है अगर कहा जाये कि ऐसी मशीनें देश में आने ही न पायें तो दूसरे मुल्क वाले अपनी चीजें यहाँ भर देंगे और हम सब उनसे मुकाबला न कर सकेंगे।"[314] 'रंगभूमि' में भी प्रेमचंद इसका विरोध नहीं; स्वागत करते हैं। पूंजीवाद के स्थायित्व का चित्रण करके भी प्रेमचंद उसके कुप्रभावों का विरोध करते हैं। वह 'रंगभूमि' व 'गोदान' में हर जगह पूंजीवाद के उन्मूलन की आवश्यकता व्यक्त करते हैं। एक लेख "अंधा

पूंजीवाद" में लिखते हैं-"यह आशा करना कि पूंजीपति किसानों की हीन दशा देखकर लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूंखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।"[315] "गोदान" के मि0 मेहता जड़ पर ही कुल्हाड़ी चलाने की बात कर शोषण व्यवस्था के खात्मे की अपील करते हैं, और मजदूरों का पक्ष लेते हैं। मैनेजर द्वारा मजदूरी कम किये जाने पर होने वाले वर्ग संघर्ष का मि0 मेहता समर्थन करते हैं-वह मि0 खन्ना से कहते हैं-"क्या आपका विचार है कि मजूरों को इतनी मजदूरी दी जाती है कि उसमें चौथाई कम कर देने से उनको कष्ट न होगा। आपके मजूर बिलों मे रहते हैं; गन्दे बदबूदार बिलों में। कपड़े जो पहनते हैं उनसे आप अपने जूते भी न पोछें। खाना जो वह खाते हैं वह आपका कुत्ता भी न खायेगा। जो अपनी जान खपाते हैं उनका हक उन लोगों से ज्यादा है जो केवल रूपया लगाते हैं।"[316] इसी समय प्रेमचंद ने एक लेख "मजदूर दल का डिटेक्टर शिप से विरोध" लिखा। एक अन्य लेख "बम्बई में मजूरों की हड़ताल" में लिखा-"बम्बई में मजूरों की हड़ताल अभी तक जारी है। और कहा जा रहा है कि मालिकों को लाभ नहीं हो रहा है।"[317] अपने एक पत्र में 'भारत' सम्पादक को अपने प्रेस की हड़ताल के विषय में लिखते हुए प्रेमचंद भी यही बहाना करते हुए मजूरों का पक्ष लेते हैं-"मैं खुद सोशलिस्ट विचारों का आदमी हूँ और मेरी सारी जिन्दगी गरीबों और दलितों की वकालत करते गुजरी है। मेरे कई मित्रों ने प्रेस बन्द करने की सलाह दी। कम से कम उस दशा पर मुझे किसी का कर्ज तो नहीं रहता। लेकिन मुझे यही संकोच होता था कि ये पचीस-तीस आदमी बेकार होकर कहाँ जायेंगे। प्रेस-संघ ने प्रेस में हड़ताल करवा दी। मैं खुद चाहता हूँ कि वह समय आवे जब मजदूरों को (जिसमें मैं भी हूँ) कम से कम काम करके अधिक से अधिक मजदूरी मिले, खूब छुट्टियाँ मिलें और जितनी सुविधायें दी जा सकें, दी जायें मगर शर्त यही है कि आमदनी काफी हो।"[318]

तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद मजदूरों-किसानों का पक्ष लेते हुए शोषण व्यवस्था के उन्मूलन की आकांक्षा व्यक्त करते हैं, साथ ही पूंजीवाद की समाप्ति के लिए किसानों-मजदूरों से सशस्त्र आंदोलन की अपील भी करते हैं, लेकिन यह अपील कितनी विश्वासपूर्वक करते हैं, समझना जरूरी है क्योंकि संभावित समाजवादी व्यवस्था के प्रति उनकी शंका को भी नजर अंदाज नहीं किया जा सकता।

प्रेमचंद निम्नवर्ग- किसान, मजदूरों को मध्य वर्ग और बुद्धिजीवी वर्ग से जोड़ कर देखते हैं क्योंकि बुद्धिजीवी ही आंदोलनों में जनता का नेतृत्व करते हैं। यह बात सत्य है कि ये बुद्धिजीवी देशोपकार की भावना से कम, स्वार्थ भावना से ग्रसित होकर ही अधिकतर आंदोलनों का नेतृत्व करते हैं। यद्यपि कहीं न कहीं से इनका स्वार्थ उच्च वर्ग के साथ जुड़ा होता है इसलिए उनकी भलाई के लिए नेतृत्व को समझौतावादी बाना पहना कर ये जनांदोलन को शिथिल और कुंठित भी करते हैं। प्रेमचंद मध्यवर्ग को ही सर्वाधिक शोषित और करूणा का पात्र समझते हैं। प्रेमचंद अपने युग में मध्यवर्ग, शिक्षित मध्यवर्ग, बुद्धिजीवियों की वर्गीय कुंठाओं, -दुश्चिंताओं और मिथ्याभिमान जनित संकटों का विवेचन भी करते हैं। उस युग में मध्य वर्ग नवीन और पुरातन के संक्रमण से आक्रान्त था। दो तरह के लोग इसमें जी रहे थे। मध्य वर्ग का एक हिस्सा पुरातन रूढ़ियों, रीति-रिवाजों का पक्षधर था। दूसरा हिस्सा अंग्रेजी संस्कृति में पलने के कारण नवीनता के मोह का आकांक्षी था और आदर्शवाद का विरोध कर रहा था। प्रेमचंद इन दोनों रूपों का चित्रण उपन्यासों, कहानियों में करते हैं। मध्यवर्ग एक ओर तो समाज को अपने प्रगतिशील विचारों से उन्नत करने में तत्पर था दूसरी ओर स्वार्थ वश रिश्वत, बेईमानी, अनाचार, गबन, अहंकार, डींग हांकने और दलाली आदि करने में व्यस्त दिखाई देता है। शिक्षित मध्य-वर्ग को प्रेमचंद सदैव शंका की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि विदेशी शिक्षा संस्कृति और सभ्यता से ग्रस्त हो वह भद्दा आचरण कर रहा था। युनिवर्सिटी से शिक्षा प्राप्त कर वह स्वार्थी हो जाता है। अपने एक पत्र में वह लिखते हैं-" अगर दो फीसदी अंग्रेजी ख्वां अहसाब तहरीक के साथ हैं तो 98 फीसदी उसके मुखालिफ (विरोधी) हैं। कौमी एतवार से युनिवर्सिटियों और स्कूलों पर कौम का जितना रूपया सर्फ हुआ वह करीबन जाया हो गया। वह लोग सरकार के आदमी हुए, कौम के नहीं। अगर तालीम याफ्ता आदमियों के भरोसे मुल्क बैठा रहे तो शायद कयामत तक उसे आजादी नसीब न होगी। कानून पेशा, तबीबपेशा (डाक्टर) प्रोफेसर और सरकारी मुलाजिमात इन सबने जितनी गुलामाना जेहनियत का पता दिया है उसकी मुझे उम्मीद न थी। यह तबका अपनी खैरियत गवर्नमेण्ट का इक्तदार कायम रहने में समझता है।"[319] कायाकल्प का चक्रधर कहता है-"सारा जुल्म हमारे पढ़े-लिखे भाई ही कर रहे हैं। हमारी शिक्षा ने हमें पंगु बना दिया हैं। "युनिवर्सिटियों में युवकों को दुर्व्यसन और फिजूल खर्ची और विलासिता की और झूठे अभिमान की शिक्षा दी जाती है।

ये ग्रेजुएट बनाने के कारखाने हैं। बी0 ए0 पास होने का अर्थ व्यावहारिक रूप से यही है कि अमुक युवक इन दुर्गुणों में पास हो गया। वहां आपको भारतीयता की कहीं गंध भी नहीं मिलेगी। वहाँ अंग्रेजी भाषा का, अंग्रेजी वेश का, अंग्रेजी आचार का ही आधिपत्य है।"[321]" उपन्यासों-कहानियों में प्रेमचंद ने शिक्षित मध्यवर्ग के दुर्गुणों का चित्रण किया है। सभी उपन्यासों में मध्यवर्ग का चित्रण है। मध्यवर्ग के अन्तर्गत विद्यार्थी, अध्यापक, पत्रकार, लेखक, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, दरोगा, जज, तथा क्लर्क, चपरासी आते हैं। इस वर्ग की कुछ सीमाएँ होती हैं जिनके वशीभूत होकर वह समाज में स्वेच्छाचारिता को प्रश्रय देता है, कुल मर्यादाओं को निभाने के लिए प्रदर्शन करता है जो उसकी आर्थिक स्थिति के विपरीत होता हैं इसलिए उसके मानसिक संघर्ष का कारण बनता है। वह आर्थिक रूप से बहुत समृद्ध नहीं होता पर उच्चवर्ग के समकक्ष पहुँचने का आकांक्षी होता है। इसलिए वह कर्ज लेकर या गबन करके या रिश्वत आदि लेकर पैसा प्राप्त करता है तथा उच्च वर्गीय दिखायी पड़ने का खोखला प्रदर्शन करता है। वह स्वार्थी मनोवृत्ति का होता है जिससे समाज में सम्मान प्राप्त नहीं कर पाता। रूढ़िवादी मनोवृत्ति वाला मध्यवर्गीय व्यक्ति शोषण का विरोध न करता हुआ चुपचाप पड़ा रहता है जबकि प्रगतिशील व्यक्ति जो अंग्रेजी शिक्षा-संस्कृति से प्रभावित होता है, समाज में नव-निर्माण के लिए सुधारात्मक कार्य करने के लिए उद्यत रहता है, वह प्राचीन रूढ़िवादी जाति-व्यवस्था, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह, सती-प्रथा आदि का विरोध करता है। यह वर्ग वेश्या प्रथा का समर्थन इसलिए करता है क्योंकि मनोरंजन प्रिय होता है। यह मनोवैज्ञानिक, सामाजिक आर्थिक और धार्मिक सभी कारणों से समाज के अन्य वर्गों से सर्वथा भिन्न होता है। रचनात्मक तथा विचारात्मक दोनों प्रकार के साहित्य में प्रेमचंद इसका चित्रण करते हैं।

'प्रतिज्ञा' का अमृतराय वकील है, दाननाथ अध्यापक हैं। दोनों सुधारवादी हैं। विधवा उद्धार के लिए अमृतराय प्रतिज्ञा करता है, उसमें दाननाथ मध्यवर्ग के ईर्ष्या और दम्भ का प्रतिनिधित्व करता है, दूसरा चरित्र कमला प्रसाद है जो मध्यवर्ग की संस्कार जड़ता का प्रतीक है। वह कहता है-"यह सभा वाले जो न करें वह थोड़ा है, एक दिन पंजाब से कोई बौखल आया था, कह गया जाति-पाँति तोड़ दो, बुड्ढे गांधी जी को और कुछ नहीं सूझी तो स्वराज्य का डंका पीट चले।"[322]" अन्यत्र कहता है-"बाबू अमृतराय वनिताश्रम खोलने जा रहे हैं, कमाने का अच्छा ढंग है।" फिर कहता है-"प्रेम ईश्वरीय प्रेरणा है,

से ज्या
वर्ग क
है जो
कि दहे
निर्मला
एवं धा
निरीह
अक्सर
देते हैं

वर्ग के
मर्यादा
ताहिर अ
देता है,
पाती औ
डर से उ
देता है,
(माहिर द
को, अपने
भाइयों के
के आत्म
हँस कर
उभारते हैं।
कहते हैं-''
''का
चक्रधर, लौ
और साम्प्रदा
नंदन पुरातन
उनका विश्व
कहता है-''स
हमें पंगु बना

है।'' 'प्रतिज्ञा' का अमृतराय मध्यवर्गीय जागृति और विवेक क
और पूर्णा सामाजिक सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं पर उनमें
अभाव है। एक ओर वह कहती है-''पहले पुरूष लोग अपनी
लें फिर स्त्रियों की दशा सुधारेंगें (पृ0 16)। फिर कहती
सका तो डूब मरूंगी।''[323] इसके विपरीत सुमित्रा मध्यवर्गीय
और आंदोलन का आह्वान करने वाली स्वतंत्र मना नारी है।
स्वतंत्रता की आकांक्षी है, दहेज प्रथा की निंदा करती हुई
के लिए लड़ती भी है और जीविकोपार्जन की समस्यां उठाकर
की बात करती है। वह कहती है-''मजा तो तभी आये जब
लड़कियों की दहेज मांगे।.........जब ऐसी स्त्रियाँ मिलकर
नका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। स्त्री अपने पास तेज छुरा रखे
उन्हें छेड़े तो जान पर खेल जाय।''[324] इस तरह प्रेमचंद
ाद की शिकार दोनों तरह की नारियों को मध्यवर्ग में चित्रित

में आर्थिक समानता की ओर संकेत करते हुए प्रेमचंद
के लिए धनाभाव को ही विषमता और समस्याओं का कारण
मध्यवर्ग को दहेज के लिए नैतिकता छोड़ते देख दरोगा
होते हैं। अन्ततः दहेज की भारी राशि देने के लिए उन्हें भी
ड़ती है। रिश्वत लेकर वह जेल जाते हैं। दूसरी मध्यमवर्गीय
की है। गजाधर निर्धन और अशिक्षित था। कुलीन होने के
की शादी उससे होती है। इस अनमेल विवाह से दाम्पत्य
पाता, सुमन वेश्या बन जाती है। कुंवर अनिरूद्ध सिंह के
क्षित भाइयों की बदौलत दालमण्डी आबाद है।''[325] प्रेमचंद
 वेश्या जीवन का कारण भी शिक्षित समुदाय है। इसमें
ता को प्रश्रय देते हैं। सदन मध्यवर्गीय पुरूष की कायरता
ता के दोष से ग्रस्त है। विट्ठल समाज सुधारक है। दरोगा
विवशता को प्रकट करते हैं। सुमन मध्यवर्गीय नारियों के
प्रतिनिधित्व करती है जो आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर अहं
ग्रस्त हो आनन्दमय जीवन जीने का स्वप्न देखती है और
करने में अपने स्वाभिमान को बाधक पाती है। डाक्टर

श्यामाचरण अंग्रेजी दां हैं, जिन्हें स्वेदश से कोई सरोकार नहीं। प्रोफेसर रमेशदत्त थियोसोफिकिल समाज सुधारक हैं लेकिन पद्मसिंह परम्परा का मोह नहीं छोड़ पाने के कारण अंत तक नैतिकतावादी बने रहते हैं।

'प्रेमाश्रम' में भी कई मध्यवर्गीय पात्र आते हैं। डिप्टी ज्वाला सिंह भारतीय होते हुए भी अफसरशाही की क्रूरता और अत्याचार के प्रतीक हैं। वकील ईजाद हुसैन स्वार्थी प्रवृत्ति के हैं, झूठे मुकदमे गढ़ते हैं तथा जनता को परेशान करते हैं। डॉ0 प्रिय नाथ भी मरीजों के साथ अमानवीय बर्ताव करते हैं। इन सब पर अंग्रेजी सभ्यता और शिक्षा का प्रभाव पड़ा है इसलिए स्वार्थपरता और धर्म लोलुपता के समक्ष ये मानवता के शत्रु हो जाते हैं। इनके माध्यम से प्रेमचंद मध्यवर्गीय अनैतिकता का चित्रण करते हैं। "मंत्र" नामक कहानी (1928) में डॉ0 चड्ढा की अमानवीय उपेक्षा के कारण किसान का गरीब लड़का मर जाता है और डॉ0 टेनिस छोड़कर दवा नहीं करते। एक अन्य कहानी में भी डॉ0 ने फीस के अभाव में परिचित पड़ोसी की दवा नहीं की। "शांति" कहानी के वकील अंग्रेजी सभ्यता के गुलाम हैं। अन्ततः आत्मंथन करते हैं-"मैंने अपने को इस इन्द्रजाल से निकालने का निश्चय कर लिया है। यहाँ धन का नाम मान है, इन्द्रियलिप्सा का सभ्यता और भ्रष्टता का विचार स्वातंत्र्य।"[326] "दुर्गा का मंदिर" के वकील साहब भी धन के लिए बेईमानी करने पर तुले रहते हैं। 'आदर्श विरोध' के वकील दयाकृष्ण मेहता अंग्रेजी सरकार के गुलाम बने रहकर जनता की उपेक्षा करते रहते हैं। फलतः उनके पुत्र को आत्महत्या भी करनी पड़ती है।

'वरदान' के मुंशी शालिग्राम, डिप्टी श्यामाचरण, मुंशी सजीवन लाल मध्यवर्गीय परिवार के हैं। इनमें मिथ्या स्वाभिमान, प्रदर्शन-प्रियता के दर्शन होते हैं। प्रतापचंद मध्यवर्गीय जागरूकता और राष्ट्रभक्ति के प्रतीक है तो कमलाचरण वर्गीय कुंठाओं और शिथिलताओं का प्रतिनिधित्व करते है। विरजन शिक्षित नारी के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो प्रेम के वशीभूत होकर धैर्य और विवेक नहीं खोती तथा मानवता के उद्धार का प्रयत्न करती है।

"निर्मला" में मध्यवर्गीय नारी की विभिन्न समस्यायें अंकित हैं-दहेज, अनमेल-विवाह और प्रेम समस्या के साथ पारिवारिक और सामाजिक मर्यादा की समस्या। निर्मला के पिता छोटी नौकरी और कम आमदनी वाले होते हुये भी निर्मला के विवाह में अधिक दहेज देने के लिए कर्ज लेते हैं। वह आमदनी

से ज्यादा खर्च करने के आदी हैं क्योंकि प्रदर्शन प्रियता और फिजूल-खर्ची इस वर्ग का गुण है। दूसरी ओर डा0 भुवन मोहन भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक है जो शादी में अधिक दहेज की माँग करता है। यहाँ प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि दहेज ही मध्यवर्गीय परिवार को संकट में डालता है और निर्दोष बालिकायें निर्मला की तरह अनमेल विवाह की शिकार होती हैं। आज आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के बीच छटपटाता मध्यवर्गीय नारी समाज कितना निरीह है। यह दहेज कभी वर पक्ष की ओर से जबरन मांगा जाता है तो अक्सर कन्या पक्ष के लोग अपनी मर्यादा को दिखाने के लिए बिना मांगे भी देते हैं और आर्थिक संकट में पड़ते हैं।

'रंगभूमि' में ताहिर का परिवार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य में निम्न मध्य वर्ग के चित्रण के लिहाज से अनूठा है। उसकी दशा, पारिवारिक कलह, झूठी मर्यादा के लिए प्रदर्शन प्रियता, पैसे-पैसे की बेईमानी उसके रग-रग में है। ताहिर अपने परिवार के लिए और मर्यादा बनाये रखने के लिए स्वयं को मिटा देता है, बच्चे भूखे मरते हैं, घरनी गहने बेचकर भी परिवार पालन नहीं कर पाती और लांछित होती है। विमाताओं से तंग रहता हुआ भी जगहंसाई के डर से उन्हें कष्ट नही होने देता और सौतेले भाई के लिए सर्वस्व बलिदान कर देता है, जबकि वह भी स्वार्थी हो जाता है। ताहिर कहता है-''दोस्तों मैं इस (माहिर दरोगा) बेवफा, दगाबाज, कमीने आदमी का भाई हूँ। मैंने अपने बच्चों को, अपने कुनबे को, अपनी जाति को इसके लिए मिटा दिया। उसकी माँ और भाइयों के लिए मैंने सब कुछ सहा।''[327] इसकी पत्नी कुल्सूम निम्न मध्यवर्ग के आत्म सम्मान और स्वाभिमान का प्रतीक है। जो विषम परिस्थितियों का हँस कर मुकाबला करती है। डॉ0 गांगुली मध्यवर्गीय राजनैतिक चेतना को उभारते हैं। अंग्रेजी शासन और सभ्यता को वह गुलामी का कारण मानते हुए कहते हैं-''काउंसिल कुछ नहीं कर सकता है।''[328]

''कायाकल्प'' में मध्यवर्गीय सुधार भावना की अभिव्यक्ति हुई है। चक्रधर, लौंगी, मनोरमा और अहिल्या के माध्यम से प्रेम-विवाह, दहेज, विधवा और साम्प्रदायिकता की भावना उभारी गयी है। बज्रधर, हरिसेवक और यशोदा नंदन पुरातनवादी हैं। इसमें प्रेमचंद धर्म और राजनीति को जोड़कर देखते हैं। उनका विश्वास है कि साम्प्रदायिकता शिक्षित समुदाय की उपज है। चक्रधर कहता है-''सारा जुल्म हमारे पढ़े लिखे भाई ही कर रहे हैं। हमारी शिक्षा ने हमें पंगु बना दिया है।''[329] एक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं-''क्या साम्प्रदायिकता

उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो। यह सारी लड़ाई मुट्ठी भर शिक्षित आदमियों की है।"330" जाति-पाँति, छुआ-छूत और धार्मिक साम्प्रदायिक दंगों में मध्यवर्ग ही शरीक होता है। 'कायाकल्प' का चक्रधर इसका विरोध करता है और समाज तथा देश को प्रगतिशील विचारों से जोड़कर देखता है।

'गबन' में एक साथ कई मध्यवर्गीय समस्याएँ प्रेमचंद उठाते हैं और उन तमाम आदतों का चित्रण करते हैं जिनके कारण मध्यवर्ग की अलग पहचान कायम होती है जैसे मिथ्या प्रदर्शन प्रियता, रिश्वत, गबन, मुखबिरी, स्वार्थमय मिथ्याचारिता, कुण्ठा और विषमतायें, मिथ्याभिमान, फैशनेबुल बनकर सामान्य जनता से दूर होते जाने की त्रासदी, युनिवर्सिटी शिक्षा के कुप्रभाव, वेश्याचारिता, विधवा समस्या, संयुक्त कुटुम्ब की त्रासदी आदि। दयानाथ पारिवारिक मर्यादा के लिए बेटे की शादी में कर्ज लेकर तथा गहने उधार लेकर प्रदर्शन करता है जो पारिवारिक अशांति का कारण बनता है। उसका पुत्र रमानाथ उससे भी बढ़कर है। सदैव आमदनी से अधिक खर्च करता है और सामाजिक सम्मान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दोस्तों से उधार लेकर कपड़े, घड़ी पहन कर ससुराल जाता है, बी० ए० न कर पाने पर भी युनिवर्सिटी की अंग्रेजी शिक्षा की पूरी छाप अपने ऊपर छोड़ लेता है। फिजूलखर्ची, फैशनपरस्ती, स्वार्थपरता, मिथ्याप्रदर्शन प्रियता, पराश्रिता, अभिमान और संकटों में हार जाने वाले मन का निर्माण उसकी शिक्षा का परिणाम होता है। प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-"घर की असली दशा को वह सदैव बदनामी की तरह छिपाता रहा। यह उसी का परिणाम था कि इतने मित्रों के होते हुए भी वह बेकार था।.......पत्नी से तीस की नौकरी बताना अपमान की बात थी।..... वह साहबी ठाठ बनाकर दफ्तर पर रोब जमाना चाहता था।"331" 'उधार हार लेकर रमा घर आया......रतन से कंगन का रूपया लेकर अपना उधार चुकता किया......तगादे से तंग आकर घूस देना शुरू किया पर जालपा से भेद नहीं खोला.....ऋणी होने पर रास्ता बदल कर मुंह छिपा कर चलने लगा.......फिर तंग आकर गबन किया।'.......इन वाक्यांशों से स्पष्ट है कि रमानाथ में मध्यवर्गीय चरित्र की सभी कमजोरियाँ विद्यमान हैं। प्रेमचंद लिखते हैं-"अगर जालपा मोह के इस झोंके में अपने को स्थिर रख सकती, अगर रमा संकोच के आगे सिर न झुका देता, दोनों के हृदय में प्रेम का सच्चा प्रकाश होता, तो वे पथभ्रष्ट होकर सर्वनाश की ओर न जाते।"332" रमा के समान उसकी पत्नी जालपा भी स्त्री समाज में

अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए प्रदर्शन करती है। वह स्वयं ही अपने ऊपर खर्च का भार उठाकर सब की नजरो में उठना चाहती है लेकिन रमेश बाबू मध्यवर्गीय प्रदर्शन के शिकार होकर भी प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति हैं। वे रिश्वत को, अंग्रेजी सभ्यता को हेय समझते हैं, आभूषणों का तथा रमा की आदतों का भी विरोध करते हैं। वह कहते हैं-''आभूषण प्रथा से हमारा सर्वनाश होता जा रहा है। इसके कारण हमारा कितना आत्मिक,नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा है।''[333] 'आभूषण', 'कौशल' आदि कहानियाँ भी मध्यमवर्ग की इसी कमजोरी का आईना हैं। ''मांगे की घड़ी'' और ''धर्म संकट'' नामक कहानियों में प्रेमचंद मध्यमवर्गीय शिक्षित युवकों के प्रदर्शन का चित्रण करते हैं। रमेश बाबू के माध्यम से प्रेमचंद मध्यमवर्गीय प्रदर्शन प्रियता का विरोध प्रकट करते हैं। 'गबन' के माध्यम से प्रेमचंद देश की शिक्षित क्लर्क पीढ़ी की पतनोन्मुखी स्थिति का चित्रण करते हैं। यह पीढ़ी जहाँ एक ओर परिवार को विषाक्त बना रही है वहीं समाज में विघटन तथा अनैतिक मूल्यों को बढ़ावा दे रही है। यह पीढ़ी अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति का अन्धानुकरण कर स्वराज्य के मार्ग में बाधक हो रही है क्योंकि यह तन-मन से साम्राज्यवादी अंग्रेजी सत्ता के साथ है। इस पीढ़ी के साथ प्रेमचंद ने शिक्षित मध्यवर्ग के लोगों- डाक्टर,वकील, नेता, प्रोफेसर, विद्यार्थी आदि को सम्मिलित करके विराट राष्ट्रीय आयाम दे दिया है। इसमें वकील इन्द्रभूषण और उनकी पत्नी रतन की स्वार्थपरता, प्रदर्शन और आभूषण प्रियता का विस्तारपूर्वक चित्रण किया है। अपने एक पत्र में प्रेमचंद ने शिक्षित मध्यवर्ग की मनमाना हरकतों का खुलासा किया है। एक लेख ''आजादी की लड़ाई'' में लिखते हैं-''हमारा शिक्षित समुदाय चाहे वह सरकारी नौकर हो या वकील या प्रोफेसर या छात्र सभी अंग्रेजी सरकार को अपना हौवा समझते हैं। स्वाधीन भारत में ऐसे देशद्रोहियों के लिए कोई स्थान नहीं होगा।''[334]

यह बात नहीं कि प्रेमचंद मध्यवर्ग के सभी घटकों को देशद्रोही करार देते हैं किन्तु अधिकांश उनकी दृष्टि में आंदोलन के साथ हैं बल्कि नेतृत्व भी कर रहे हैं जैसा कि वह स्वीकार करते हैं कि कांग्रेस मध्यवर्ग का आंदोलन है। एक लेख 'वर्तमान आंदोलन के रास्ते में रुकावटें', में लिखते हैं-''कांग्रेस पहले भी मध्यवर्ग का आंदोलन थी जिसमें जमींदार और पूंजीपति यहाँ-वहाँ इक्का-दुक्का थे, अधिकांश संख्या वकीलों, प्रोफेसरों और पत्रकारों की थी।''[335] लेकिन शिक्षा विभाग खास कर प्रोफेसरों और युनिवर्सिटी के विद्यार्थियों को

वह घृणा की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि स्वतंत्रता संग्राम में उनकी भूमिका संदेहास्पद है । एक लेख में लिखते है।-"काश! यह युनिवर्सिटियाँ न खुली होतीं तो हमारे देश में द्रोहियों की इतनी संख्या न होती। यह विद्यालय नहीं गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं।"[336] एक अन्य टिप्पणी में लिखते हैं-"यों तो हमारे शिक्षा विभाग ने हमेशा राष्ट्रीय आंदोलनों का विरोध किया है।"[337] कहानियों में भी प्रेमचंद शिक्षकों की स्वार्थपरता और अनैतिकता का चित्रण करते हैं। 'त्यागी का प्रेम' की प्राचार्या विधवा आनन्दी देवी मैनेजर से अवैध संबंध स्थापित करती है। बम्बई ' में अध्यापिका मिस जोशी कई धनाढ्य पुरुषों से प्रेम करती है और अन्ततः स्वीकार भी करती है-"मेरी उच्च शिक्षा ने गृहिणी जीवन के प्रति मेरे मन में घृणा पैदा कर दी। युवकों की शिक्षा का भाव आदर्श चरित्रों पर रखना चाहिए, विलास में रत शौकीन, कालेजों के प्रोफेसर विद्यार्थियों पर कोई अच्छा असर नहीं डाल सकते है।"[338] इसी तरह "स्मृति का पुजारी" में कालेज की अध्यापिका मिस इन्दिरा के अंग्रेजी शिक्षा जन्य कुप्रभावों का चित्रण है। "विश्वास" के अध्यापक अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से शरारती छात्र को सन्मार्ग पर लाने में सफल होते हैं। प्रोफेसरों की तरह विद्यार्थियों को भी प्रेमचंद स्वतंत्रता संग्राम में बाधक मानते हैं। एक कहानी "आहुति" में युनिवर्सिटी के छात्र विश्वम्भर और आनन्द की कहानी है जो छात्रा के प्रेम में फँस कर कांग्रेस के आंदोलन से मुँह मोड़ लेते हैं। लेकिन कांग्रेस आंदोलन से जुड़ी होने के कारण छात्रा युवक छात्र विश्वम्भर को वरण करती है। "शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीस डाल रहा है।"[339]

ध्यातव्य है कि गाँधी से प्रभावित होकर विद्यार्थी आंदोलन में शरीक हो रहा था । 'आहुति' में रूपमणि नामक छात्रा गांधी से प्रभावित होकर छात्रों को उत्साहित करती है। अध्यापक नौकरियों से इस्तीफा दे कर आंदोलन के साथ होने लगे थे। प्रेमचंद स्वयं मध्यवर्ग के सदस्य होने के नाते अध्यापक पद से इस्तीफा दे देते हैं। 'अनुभव' के मास्टर ज्ञान बाबू भी इस्तीफा दे देते हैं। "इस्तीफा" का क्लर्क फतहचंद भी अंग्रेज अफसर का विरोध कर स्वाभिमान के लिए प्रेमचंद की ही तरह इस्तीफा दे देता है। "कर्मभूमि"के प्रोफेसर शांति कुमार भी इस्तीफा देकर आंदोलन में भाग लेते हैं और जेल जाते हैं। यह सब स्वराज्य आंदोलन और गांधी का प्रभाव है।

प्रेमचंद 'कर्मभूमि' में मध्यवर्ग और शिक्षित मध्यवर्ग की राजनैतिक चेतना पूरे पैमाने पर उभारते हैं। शांति कुमार व अमरकांत गांधी जी के

असहयोग व अहिंसा आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ में सुखदा, नैना, मुन्नी, रेणुका जैसी मध्यवर्गीय नारियाँ भी हैं। दूसरी ओर सलीम और आत्मानंद भी सुभाषचंद्र से प्रभावित हो क्रांतिकारी आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते दिखायी देते हैं। इस तरह प्रेमचंद तत्कालीन समाज में मध्यवर्ग की राजनैतिक भूमिका स्पष्ट करते हैं। गाँधी और सुभाष के अहिंसात्मक और हिंसात्मक दोनों आंदोलनों का सूत्र मध्यवर्ग और खासकर शिक्षित मध्यवर्ग-विद्यार्थी व अध्यापक के हाथों में देखकर प्रेमचंद आश्वस्त थे। इस समय तक आंदोलन तेज हो गया था। यद्यपि गांधी का प्रभामंडल निस्तेज होता जा रहा था, शिक्षित मध्यवर्ग के हाथों नेतृत्व की लगाम होने के कारण आंदोलन हिंसात्मक नहीं हो पा रहा था। अमरकांत अंत तक आंदोलन को अपने अनुसार गांधीवादी नीतियों से चलाता है और उपन्यास का अंत भी समझौतावादी ढंग से सम्पन्न कर गाँधी के विजय का संकेत देता है। अमरकांत में मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति के पूरे गुण मिल जाते हैं। प्रेमचंद उसे "दिलजला त्यागी" कहते हैं। वह प्रेमिका को दिखाने के लिए और अभिमानी पिता को झुकाने के लिए देशप्रेमी बनता है जबकि उसके सारे कार्य स्वार्थ से भरे होते हैं। पत्नी को आंदोलन में शरीक होते देख आंदोलन में भाग लेकर जेल जाता है ताकि पत्नी के समक्ष सर ऊँचा कर सके। प्रदर्शन-प्रियता, अहंकार और स्वार्थमय कर्तव्य उसके खास गुण हैं।

डॉ0 शांति कुमार शिक्षा नीति पर जो विचार व्यक्त करते हैं वे मध्यवर्ग विचार हैं-"यह किराये की तालीम हमारे कैरेक्टर को तवाह किये डालती हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है। व्यापार से ज्यादा नफा होता है। तालीम में ज्यादा खर्च करो, ज्यादा ऊँचा ओहदा पावोगे। मैं चाहता हूँ ऊँची से ऊँची तालीम सबके लिए सुलभ हों। युनिवर्सिटी के दरवाजे सब के लिए खुले रखना चाहता हूँ।"[340]" अमरकांत भी इसे अनुभव करता हुआ सोचता है-"जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है डिग्री की नहीं, हमारी डिग्री है- हमारा सेवाभाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरलता।उसे इस शिक्षा से ही घृणा हो गयी थी, जब वह अपने अध्यापकों को फैशन की गुलामी करते, स्वार्थ के लिए नाक रगड़ते, कम से कम काम करके अधिक से अधिक लाभ के लिए हाथ पसारत्ते देखता तो उसे घोर मानसिक वेदना होती थी। इन्हीं महानुभावों के हाथ में राष्ट्र की बागडोर।"[341]" यही नहीं अपने एक पत्र में सलीम भी लिखता है-' यह जो अनगिनती लेक्चरर और प्रोफेसर हैं, क्या सबके सब सादी जिन्दगी के नमूना

हैं? वह तो लिविंग का स्टैन्डर्ड ऊँचा कर रहे हैं तो लड़के भी क्यों न ऊँचा करें।"342" यहाँ गिरते और बदलते नैतिक मूल्यों का संकेत प्रेमचंद देते हैं। कहानियों में प्रेमचंद शिक्षकों की फैशन परस्ती को रेखांकित करते हैं।

जहाँ एक ओर विद्यार्थी समुदाय आंदोलन के साथ होता जा रहा था वहीं पश्चिमी नकल करके भारतीय संस्कृति से विमुख भी होता जा रहा था। यद्यपि अंग्रेजी संस्कृति स्वार्थ प्रधान है इसलिए युवकों, विद्यार्थियों का कुण्ठित होना भी स्वाभाविक था। वह एक लेख में लिखते हैं-"हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धांत, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारा आचार व्यवहार, सभी हमारे कल्चर के अंग हैं। पर आज हम कितनी बेदर्दी से कल्चर की जड़ काट रहे हैं। हमारी योग्यता और विद्वता की यही एक परख हो गयी है कि अंग्रेजी में कितने कुशल हैं। मुझे तो आप सिर से पांव तक गुलाम नजर आते हैं। हमारी सभ्यता कहती है" अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओ; पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है- अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओं, चाहे उसके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने ही लिए जिओ और अपने ही लिए मरो। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय प्रधान है जहाँ हम सारे बंधनों से मुक्त हो दुराचरण में पड़ जाते हैं, उसमें परिवार का अर्थ केवल स्त्री और पुरुष हैं, इसमें स्वार्थ और संकीर्णता प्रधान है, सेवा और त्याग नहीं, अपनी संस्कृति को खो बैठे तो हमारा अंत हो जाएगा।"343" "अकबर की शायरी" की समीक्षा करते हुए प्रेमचंद एक जगह लिखते हैं।-"एक तरफ पश्चिमी सभ्यता का सिक्का फिर रहा है, दूसरी ओर पूर्वी सभ्यता दिलों पर आधिपत्य जमाये हुए है। जिन्दगी के हर पहलू में उलट-पुलट का जमाना है। अभी किसी हालत पर ठहराव की सूरत पैदा नहीं हो रही है और इसीलिए तरह-तरह की बुराइयाँ दिखायी दे रही हैं।"344" एक पत्र में अपने लड़के को युनिवर्सिटी के विषाक्त माहौल में न भेजने का विचार प्रेमचंद व्यक्त करते हुए दयानारायण निगम को लिखते हैं-"यह युनिवर्सिटी में न पढ़ते तो अच्छा था, घमण्डी बदतमीज, दुःशील, मिजाज में हरदर्जा उद्दण्डता, सहानूभूति शून्य, खुद परस्त और उजड्ड, यह आम रविश है। अपवाद भी है लेकिन बहुत कम। लड़कियों में भी यह दोष नुमायाँ है। लक्षण बता रहे हैं कि आने वाला जमाना गृहस्थी के लिए कातिल होगा।"345"

शिक्षित मध्यवर्ग कुण्ठाओं का शिकार इसी शिक्षा और सभ्यता के कारण हो रहा है। इसे प्रेमचंद बार-बार उभारते हैं। अमरकांत, सलीम,

रमानाथ, कमलाप्रसाद, दीनानाथ, ज्ञानशंकर, चक्रधर, विनय सभी युनिवर्सिटी या कालेज से पढ़ कर कुंठाग्रस्त हुए हैं। कहानियों में भी ऐसे युवक मिलते हैं। "दो कब्रें" और "आगा-पीछा" में कालेज में पढ़ते समय युवक भावावेश वश सुधार की भावना से प्रेरित हो वेश्या उद्धार का प्रयत्न करते हैं किन्तु अस्थिरता वश पीछे हट जाते हैं। 'गृहदाह', 'बड़े बाबू, और 'ज्वालामुखी' के शिक्षित बेकार युवक अनेक कुंठाओं के शिकार हैं, उनमें हीन ग्रंथियाँ प्रबल हो गई हैं। "ज्वालामुखी" का युवक कहता है-"मुझे अक्सर अपने बी0ए0 होने पर क्रोध आता था'। ड्राइवर, फायरमैन, मिस्त्री, खानसामा या बावर्ची होता तो मुझे इतने दिनों तक बेकार न बैठना पड़ता।"[346]" मध्यवर्गीय कुण्ठा के साथ प्रेमचंद मध्यवर्गीय युवक-युवतियों में प्रेम की समस्या उठाते हैं। अमर और सलीम दोनों गरीब सकीना से प्रेम करते हैं। यह उनकी शिक्षा का ही परिणाम है। यह प्रेम नहीं, वासना है। कहानियों में भी प्रेमचंद ऐसे पात्रों को चित्रित करते हैं। 'जादू', 'मिस पद्मा', 'कायर', 'दो कब्रें', 'मनोवृत्ति', 'आगा-पीछा', 'दो सखियाँ', 'धर्म संकट' और 'हार की जीत' आदि कहानियाँ इसका उदाहरण है। मध्यमवर्ग के युवक-युवतियां खासकर शिक्षित समुदाय इसके कारण जीवन में कष्ट उठाते हैं। "मिस पद्मा" की बैरिस्टर मिस पद्मा को प्रोफेसर के प्रेम पाश में फँसकर धन हानि उठानी पड़ती है जो बाद में उसे त्याग कर दूसरी लड़की के साथ भाग जाता है। "जादू" की मीना भी अंत में शिक्षित पुरुष की वासनात्मक चाल से परिचित होती है। "कायर" का युवक केशव प्रेम के बाद भी प्रेमिका से विवाह नहीं कर पाता क्योंकि वह अपने कुलीन पिता और सामाजिक रूढ़ियों से विरोध नहीं कर सकता। उसका पिता कहता है-"आज-कल लड़के-लड़कियाँ कितने स्वेच्छाचारी हो गये हैं।"[347]" "दो कब्रें" का युवक प्रेमी सामाजिक विरोध वश प्रेमिका वेश्या पुत्री से विवाह नहीं करता । "आगा-पीछा" का प्रेमी युवक भी सामाजिक उपेक्षावश वेश्या पुत्री से विवाह किए बिना शोक में प्राण त्याग देता है। "धर्मसंकट" का युवक प्रेम के समक्ष परिवार व पत्नी को तिलांजलि दे देता है। लेकिन प्रेमचंद विवाह का आदर्श प्रेम को भी मानते हैं। यह प्रेम विवाह से पूर्व या पश्चात् उत्पन्न होता है क्योंकि प्रेम के बिना समर्पण नहीं और समर्पण के बिना सेवा की भावना नहीं आती। बिना सेवा भावना के विवाह का कोई अर्थ ही नहीं, इसलिए प्रेमचंद इसे आदर्श समझौता मानते हैं। "दो सखियाँ" में प्रेमचंद टिप्पणी करते हैं-" आत्म समर्पण करना सीखो। भूल जाओ कि तुम सुन्दरी हो। रूप के साथ सेवा भाव ग्रहण

करो।"[348]" इसी कहानी में युवक कहता है "प्रेम का अंकुर रूप में है पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का काम है।विलासिनी मनोरंजन कर सकती है, चिरसंगिनी नहीं बन सकती । सेवा का चस्का पाया हुआ मन केवल नखरों और चोचलों पर लट्टू नहीं होता तुम भारत की पति परायणा रमणी नहीं, योरोप की आमोद प्रिय युवती हो।"[349]" प्रेमचंद विलासिता को जीवन का लक्ष्य मानने वाली नारियों की भर्त्सना करते हैं। पहले-पहल देखने पर गोदान के मि0 मेहता मालती के लिए ऐसे ही उद्‌गार प्रकट करते हैं-'मेरे लिए रंगरूप और हाव-भाव और नाजो-अंदाज का मूल्य इतना ही है, जितना होना चाहिए। मैं वह भोजन चाहता हूँ जिससे आत्मा की तृप्ति हो, उत्तेजक और शोषक पदार्थों की मुझे जरूरत नहीं। तुम सब कुछ कर सकती हो, लेकिन प्रेम नहीं कर सकती।"[350]" प्रेमचंद मालती के गुणों का वर्णन करते हैं-"मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी" लेकिन यह तितलीपन उसका दिखावटी रूप है जिसकी प्रेमचंद निंदा करते हैं। यह रूप उसकी शिक्षा का फल है। अपने लेख "साहित्य की प्रगति" में वह लिखते हैं-"युवकों का भौंरापन और युवतियों का तितलीपन भी प्रगति का एक लक्षण है जिसके हम समर्थक नहीं। स्त्री पुरुष दोनों वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों से भाग रहे हैं। रसिकता भोजन रूपी जीवन के लिए चटनी के समान है जो उसके स्वाद और रूचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर कोई जीवित नहीं रह सकता।"[351]"

यही कारण है कि प्रेमचंद ने गोदान में मिस मालती का सृजन कर मध्यवर्गीय नारी के आदर्शो की स्थापना की है। मालती प्रेम को संदेह से ऊपर देखती है। वह स्त्री-पुरुष बनकर रहने की अपेक्षा मित्र बनकर रहना अच्छा समझती है। वह मेहता से विवाह न करने का फैसला इसी आधार पर करती है कि वैवाहिक जीवन के दायित्वों में उलझ कर कहीं जाति सेवा के लक्ष्य से दोनों बहक न जायें। वह कहती है-" मित्र बनकर रहना स्त्री -पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझसे, मैं तुमसे, प्रेम करती हूँ। अपनी छोटी सी गृहस्थी बनाकर, अपनी- आत्माओं को छोटे से पिंजड़े में बंद करके, अपने दुःख सुख को अपने ही तक रखकर क्या हम असीम के निकट पहुंच सकते हैं। जिस दिन मन मोह में आसक्त हुआ और हम बंधन में पड़े उस क्षण हमारा मानवता का क्षेत्र सिकुड़ जायेगा। नयी-नयी जिम्मेदारियाँ आ जायेंगी और हमारी सारी शक्ति उन्हीं को पूरा करने में लगने लगेगी, अभी तक तुम्हारा जीवन यज्ञ था जिसमें स्वार्थ के लिए बहुत थोड़ा स्थान था। मैं उसको

नीचे की ओर ले जाऊँगी । संसार को तुम जैसे साधकों की जरूरत है जो अपनेपन को इतना फैला दे कि सारा संसार अपना हो जाय। संसार में आतंक की अन्याय की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्धविश्वास का, कपट धर्म का स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने यह आर्त पुकार सुनी है। मैं भी तुम्हारे पीछे- पीछे चलूंगी।"352" मालती का उद्‌गार समूची मानव जाति के उद्धार के लिए है जिसमें किसान, मजदूर, गरीब जनता, शोषित नारी सभी शामिल हैं। इस तरह मध्यवर्गीय शिक्षिता नारी को प्रेमचंद निम्नवर्ग की करूणा से जोड़ते हैं और समूचा मध्यवर्ग समाज के अन्य शोषित उपेक्षित वर्ग के साथ संयुक्त होता है। यद्यपि यह अति आदर्शवाद समाज का यथार्थ नहीं है, तत्कालीन परतंत्र भारत की आवश्यकता जरूर है। प्रेमचंद ने मालती के रूप में नारी मनोविज्ञान की बलि दी है।

गोदान में मालती के पिता मि० कौल मध्यवर्गीय प्रदर्शन और अहंकार प्रियता के अच्छे उदाहरण हैं जो दलाली से धन कमातें हैं, उच्च मर्यादा और सम्मान अर्जित करने की इच्छा से लड़कियों को अंग्रेजी शिक्षा दिलाते हैं, फिजूलखर्ची हैं, शराब सेवन करते हैं, कर्जदार हैं और प्रदर्शन के लिए उच्च वर्ग के समकक्ष होने के लिए भोंड़ा प्रदर्शन करते हैं। मालती उन्हीं की एक लड़की है। दूसरी लड़की सरोज भी उन्हीं की तरह फैशनपरस्त है। वह विवाह को प्रेम के आधार पर मान्य ठहराती है। वह स्त्री के समानाधिकार की आवाज उठाती है और पुरुषों को दोषी ठहराती है। लेकिन मालती उनके इन विचारों का विरोध करती है और प्रगतिशील विचारों से मध्यवर्गीय नारी का प्रेरणास्रोत बनती है जो पाश्चात्य शिक्षा संस्कृति ग्रहण कर भी भारतीयता को नहीं छोड़ती और मानवता को जीवन की सार्थकता मानती है। "शांति" और "रहस्य" नामक कहानियों में भी प्रेमचंद नारी स्वातंत्र्य का समर्थन करते हैं। लेकिन उच्छृंखलता और तितलीपन का विरोध भी करते हैं जो पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति के प्रभाव की उपज है।

सम्पादकों, लेखकों को प्रेमचंद मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी वर्ग मानते हैं। किन्तु उनकी स्वार्थपरता, बेवशी और तंगी की समस्या भी उठाते हैं। "गोदान" के सम्पादक ओंकारनाथ विदेशी विज्ञापनों से धन बटोरते हैं, पैसा लेकर पूंजीपतियों-जमींदारों के शोषण को पत्र में नहीं छापते और जनहित की उपेक्षा करते हैं, भारतीयता का दम्भ भरंते जरूर हैं लेकिन जनता को प्रभावित करने के लिए। आवश्यकता पड़ने पर धर्म त्याग कर मालती के हाथों शराब भी पीते

हैं, और पद सम्मान, धन प्राप्त करने की लालसा में आत्म हनन करने से नहीं चूकते। राय साहब उन्हें फटकारते हैं-"आप रिश्वत और कर्तव्य दोनों साथ-साथ नहीं निभा सकते। आप की निगाह हमेशा अपने लाभ की ओर रही है, प्रजा हित की ओर नहीं। जब कभी आप मैदान में आये हैं, उसका यही शुभ परिमाण हुआ है कि आपके सम्मान और आमदनी में इजाफा हुआ है।"[353] कहानियों में भी प्रेमचंद सम्पादकों को समाज का कलंक घोषित करते हैं-'जीवन का शाप', 'आखिरी हीला', 'रसिक सम्पादक', 'स्त्री व पुरूष', 'डिग्री के रूपये' और 'डिमांस्ट्रेशन'। इसके अतिरिक्त 'मुफ्त का यश', 'आप बीती' और 'लेखक' नामक कहानियां लेखक की समस्याओं से संबंधित हैं। सेवासदन में सम्पादक प्रभाकर सम्पादक के कर्तव्यों की याद करता है-"आप हम सम्पादकों के कर्तव्य को नहीं जानते। हम पब्लिक के सामने अपना हृदय खोलकर रखना अपना धर्म समझते हैं।"[354]

'गोदान' में मेहता और मालती के माध्यम से प्रेमचंद मध्यवर्ग को सामान्य जन से जोड़ते हैं। मेहता भारतीय समाज में वर्गीय आदर्शों की स्थापना करते हैं। वह आर्थिक प्रगति हेतु शोषण का विरोध करते हैं और जड़ पर कुल्हाड़ी चला कर शोषण के उन्मूलन की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। मेहता युनिवर्सिटी में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर हैं। मेहता एक ओर आदर्शवादी हैं दूसरी ओर स्वयं को प्रकृतिवादी भी कहते हैं। उनमें गांधीवाद और बुद्धिवाद की झलक भी दिखायी देती है। वह असमानता को प्रकृति का गुण मानते हुए रूस में भी असामनता की चर्चा करते हैं। इसी तरह छुआ-छूत को सामयिक मानते हैं। यह उनके बुद्धिवाद का प्रभाव है। वह कहते हैं-"धन को आप किसी अन्याय के बराबर फैला सकते हैं लेकिन बुद्धि को, चरित्र को और रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे-बड़े का भेद केवल धन से नहीं होता। मैंने बड़े-बड़े धन-कुवेरों को भिक्षुकों के सामने घुटने टेकते देखा है, रूप के चौखट पर बड़े-बड़े महीप नाक रगड़ते हैं। क्या वह सामाजिक विषमता नहीं है? आप रूस की मिसाल देंगे। वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राजकर्मचारी का रूप ले लिया है। बुद्धि तब भी राज करती थी, अब भी करती है और हमेशा करती रहेगी।"[355] इसमें बुद्धिवाद और प्रकृतिवाद दोनों का सारांश है, संकेत है।

मेहता प्रेम को सेवा और त्याग का अंश मानते हैं। वह पत्नी को आदर्श से गिरी हुई नहीं देख सकते। उनके अनुसार-"मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता

जिससे मैं आइंस्टीन के सिद्धांत पर बहस कर सकूँ या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे, मैं ऐसी औरत चाहता हूँ जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से। विवाह तो आत्मसमर्पण है।"[356]

मेहता नारियों की स्वेच्छाचारिता, समान अधिकारों की मांग और पश्चिमी सभ्यता की नकल को सामाजिक दोष मानते हुए इसका विरोध करते हैं। वह पुरुष की अपेक्षा नारियों को अधिक कर्तव्य पालन करने वाली देवियाँ मानते हैं। वह कहते हैं-"जब मैं देखता हूँ हमारी उन्नत विचारों वाली देवियाँ उस दया और श्रद्धा त्याग के जीवन से संग्राम और कलह और हिंसा की ओर दौड़ रही हैं और समझ रही हैं कि यही सुख का स्वर्ग है तो मैं उन्हें बधाई नहीं दे सकता...... स्त्री को पुरूष के रूप में, पुरूष के कर्म में रत देखकर मुझे उसी तरह वेदना होती है, जिस तरह पुरूष को स्त्री के रूप में स्त्री के कर्म करते देखकर। मनुष्य के क्षमा और त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतर आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है....... महात्माओं और धर्म प्रवर्तकों ने संसार में रक्त की नदियां बहाने और वैमनस्य की आग भड़काने के सिवा और क्या किया। मुझे खेद है हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं। जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिर कर विलास की वस्तु बन गयी हैं। पश्चिम में जो चीजें अच्छी हैं वह उनसे लीजिए लेकिन अंधी नकल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। हमारे यहाँ भी गृहिणी का आदर्श त्याग कर तितलियों का रंग पकड़ रही हैं। तुम जिसे प्रेम कहती हो वह धोखा है, उद्‌दीप्त लालसा का विकृत रूप, वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त विलास में बिल्कुल नहीं। सच्ची शांति केवल सेवा व्रत में है। जहाँ सेवा का अभाव है, वहीं विवाह विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है, आपके ऊपर पुरूष जीवन की नौका का कर्णधार होने के नाते जिम्मेदारी ज्यादा है।"[357]

इस तरह प्रेमचंद ने मेहता को शिक्षित मध्यवर्गीय युवकों के विचारों का संवाहक बनाया है जो स्वत्व से ऊपर उठकर समूची मानवता को अपने में आत्मसात कर लेता है। गोदान में प्रेमचंद ने अलग-अलग रहने वाले मध्यवर्ग को निम्नवर्ग से संयुक्त करके देखा है। मेहता और मालती संयोग की अटूट कड़ी बने हैं। गोबर और होरी दोनों ही मालती की कथा से सम्बद्ध हैं। मालती गोबर को अपने यहाँ नौकर रखकर उसे उचित पारिश्रमिक ही नहीं देती; उसके बीमार और चेचक से पीड़ित बच्चे की तन मन धन से सेवा करती है और मातृत्व प्रदान करती है जो झुनिया भी नहीं कर पाती। प्रेमचंद लिखते हैं-"मालती केवल रमणी

नहीं है, माता है और ऐसी-वैसी माता नहीं, सच्चे अर्थों में देवी और माता का अर्थ देने वाली, जो पराये बालक को भी अपना समझ सकती है।"[358]" वह किसानों की समस्या से पूर्णतः परिचित है तथा महाजनों के शोषण से उनकी रक्षा करने के लिए सरकार से थोड़े से सूद पर रूपये देने की अपील करती हैं। रूपा के विवाह पर मालती होरी के यहाँ जाकर उसकी सहायता करती है। उसकी कर्मण्य मानवता उसे देवत्व के ऊँचे आसन पर पहुँचा कर श्रद्धा की देवी बना देता है। मेहता भी मालती के साथ होरी के यहाँ जाकर उसकी समस्याएँ समझते हैं। मालती ग्रामीण स्त्रियों को शिशु रक्षा, शिशु पालन, संयम और स्वच्छतापूर्ण आचरण की शिक्षा देकर उनका मन जीत लेती है। इसीलिए मेहता मालती के गुणों पर मोहित हो जाते हैं। वह मजदूर का समर्थन करते हैं और किसानों के बीच रहने में आनन्द का अनुभव करते हैं। मालती पाक कला की शिक्षा भी ग्रामीण नारियों को देती है, सफाई का महत्व समझाती है। मेहता गांव के सरल प्राकृतिक जीवन में पहुंच कर आनंदित ही नहीं होते यहाँ उनका दर्शन और मनोविज्ञान हवा हो जाता है। वह आदर्श से परे एक नये यथार्थ से परिचित होते हैं। वह किसानों की समस्याओं पर चिन्तन करते हैं-"इनका देवत्व ही इनकी दुर्दशा का कारण है। काश ये आदमी ज्यादा और देवता कम होते तो यों न ठुकराये जाते। देश में कुछ भी हो, क्रांति ही क्यों न आ जाय, इनसे कोई मतलब नही, कोई दल उनके सामने सबल के रूप में आये उसके सामने सिर झुकाने को तैयार। उसकी निरीहता जड़ता की हद तक पहुंच गयी है। जिसे कठोर आघात ही कर्मण्य बना सकता है। उनमें अपने जीवन की चेतना ही लुप्त हो गयी है।"[359]" यही करुणा मेहता को आर्द्र करती है और शोषितों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने की प्रेरणा भी देती है, जैसे यही उनका प्राप्य था। यहाँ आदर्श का यथार्थवाद में कायाकल्प कर प्रेमचंद रचनात्मक निष्कर्ष का संकेत देते हैं। मेहता महसूस करते हैं-"प्रकृति से स्पर्श होते ही जैसे मुझमें नया जीवन-सा आ जाता है। एक-एक पक्षी, एक-एक पशु जैसे मुझे आनंद का निमंत्रण देता हुआ जान पड़ता है, मानों भूले हुए सुखों की याद दिला रहा हो। यह आनंद मुझे और कहीं नहीं मिलता। मालती में अपने आप को पा जाता हूँ, जैसे पक्षी अपने घोसलें में आ जाय।"[360]" और इसी घोसलें की तलाश प्रेमचंद को भी थी जिन्दगी के अंतिम क्षणों में। तभी उपेन्द्रनाथ अश्क को पत्र में लिखते हैं-"अगर आदमी का काबू हो तो किसी देहात में जा बैठे। दो एक जानवर पाल ले, कुछ खेती कर ले और जिन्दगी गांव वालों की खिदमत में गुजार दे। शहर

में रहकर सेहत, जिंदगी सब कुछ तबाह हो जाती है।"361" इस तरह मध्यवर्गीय प्रेमचंद गांवों से तादात्म्य स्थापित कर ही जिंदगी की सार्थकता मानते हैं और वैसे चरित्रों का निर्माण भी करते हैं। यहीं उनके विचार और रचना संपूरक लगते हैं। अतः उनके रचनात्मकता एवं विचारात्मक साहित्य में कोई फासला नहीं दिखायी देता क्योंकि वह अपने विचारों को ही रचना में स्थान देते हैं। व्यक्तित्व, विचारधारा और रचनात्मकता में परस्पर एकरूपता ही प्रेमचंद को सामाजिक यथार्थवादी रचनाकार का स्थान दिलाती है।

संदर्भ :

1. विविध प्रसंग - भाग एक.
2. वरदान - पृ0 18.
3. प्रेमा (मंगलाचरण) - पृ0 129.
4. चिट्ठी-पत्री - भाग एक.
5. मानसरोवर भाग 6 - पृ0 220.
6. विविध प्रसंग - भाग एक.
7. विविध प्रसंग - भाग एक.
8. विविध प्रसंग - भाग एक.
9. प्रेमा. (मंगलाचरण).
10. मानसरोवर - भाग 6 पृ0 153.
11. विविध प्रसंग - भाग एक.
12. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 153.
13. प्रेमा (मंगलाचरण) पृ0 127.
14. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 156.
15. गुप्तधन - भाग 1 - पृ0 189.
16. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 56.
17. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 80.
18. विविध प्रसंग - भाग एक.
19. वरदान (मंगलाचरण) पृ0 63.
20. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 28.
21. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 43.
22. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 144.
23. वरदान - पृ0 32.
24. वरदान - पृ0 69.
25. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 31.
26. वरदान - पृ0 45.
27. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 271.
28. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 265.
29. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 5.
30. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 46.
31. देवस्थान रहस्य (मंगलाचरण) पृ0 213.
32. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 213.
33. मानसरोवर - भाग 6 - पृ0 11.
34. विविध प्रसंग - भाग एक.
35. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 162.
36. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 54.
37. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 94.
38. रूठी रानी (मंगलाचरण) - पृ0 398.
39. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 1.
40. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 20.
41. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 41.
42. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 79.
43. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 124.
44. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 35.
45. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 82.
46. रूठीरानी (मंगलाचरण) - पृ0 391.
47. गुप्तधन - भाग एक - पृ0 9.

48. विविध प्रसंग - भाग एक.
49. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 29.
50. विविध प्रसंग - भाग एक.
51. वरदान - पृ0 80.
52. मानसरोवर - भाग 6 - पृ0 255.
53. मानसरोवर - भाग 6 पृ0 255.
54. चिट्ठी पत्री - भाग एक.
55. विविध प्रसंग - भाग एक.
56. विविध प्रसंग - भाग एक.
57. मंगलाचरण - पृ0 12.
58. मंगलाचरण - पृ0 6.
59. मंगलाचरण - पृ0 353.
60. वरदान - पृ0 35.
61. सेवासदन - पृ0 58.
62. प्रेमाश्रम - पृ0 340.
63. कायाकल्प - पृ0 275.
64. निर्मला - पृ0 101.
65. गबन - पृ0 110..
66. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 292.
67. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 261.
68. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 336.
69. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 346.
70. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 234.
71. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 11.
72. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 279.
73. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 270.
74. प्रतिज्ञा - पृ0 100.
75. प्रेमाश्रम - पृ0 339.
76. निर्मला - पृ0 23.
77. मानसरोवर - भाग 3 - पृ0 74.
78. मानसरोवर - भाग 4 - पृ0 54.
79. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 87.
80. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 270.
81. विविध पसंग - भाग 3 - पृ0 250.
82. चिट्ठी पत्री - भाग 2.
83. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 93.
84. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 236.
85. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 103.
86. रंगभूमि - पृ0 427.
87. चिट्ठी - पत्री - भाग 2.
88. प्रतिज्ञा - पृ0 54.
89. प्रेम0 के0 उप0 का शिल्प0 - पृ0 545.
90. कायाकल्प - पृ0 345.
91. मानसरोवर - भाग 3 - पृ0 100.
92. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 183.
93. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 249.
94. कलम, तलवार और त्याग -पृ0 56.
95. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 264.
96. सेवासदन - पृ0 57.
97. सेवासदन - पृ0 249
98. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 261.
99. सेवासदन - पृ0 232.
100. सेवासदन - पृ0 289.
101. सेवासदन - पृ0 381.
102. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 57.
103. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 361.
104. सेवासदन - पृ0 136.
105. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 267.
106. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 267.
107. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 266.
108. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 266.
109. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 263.
110. मानसरोवर - भाग 7 - पृ0 101.
111. मानसरोवर - भाग 4 - पृ0 274.
112. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 148.
113. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 246.
114. साहित्य का उद्देश्य - पृ0 186.

115. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 80.
116. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 266.
117. सेवासदन - पृ0 266.
118. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 262.
119. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 89.
120. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 93.
121. साहित्य का उद्देश्य - पृ0 27.
122. सेवासदन - पृ0 232.
123. सेवासदन - पृ0 289.
124. सेवासदन - पृ0 158.
125. सेवासदन - पृ0 80.
126. सेवासदन - पृ0 136.
127. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 367.
128. सत्यार्थ प्रकाश - पृ0 374.
129. सेवासदन - पृ0 139.
130. सेवासदन - पृ0 360.
131. मानसरोवर - भाग 8 - पृ0 166.
132. चिट्ठी पत्री - भाग 1
133. प्रेमाश्रम - पृ0 228.
134. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 28.
135. प्रेमाश्रम - पृ0 391.
136. प्रेमाश्रम - पृ0 43.
137. साहित्य का उद्देश्य - पृ0 187.
138. रंगभूमि - पृ0 88.
139. रंगभूमि - पृ0 400.
140. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 382.
141. रंगभूमि - पृ0 157.
142. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 239.
143. रंगभूमि - पृ0 104.
144. चिट्ठी-पत्री - भाग 2.
145. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 269.
146. कायाकल्प - पृ0 345.
147. कायाकल्प - पृ0 307.
148. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 355.
149. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 175
150. चिट्ठी-पत्री - भाग 2.
151. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 235.
152. निर्मला - पृ0 153.
153. मानसरोवर - भाग 3 - पृ0 32.
154. रंगभूमि - पृ0 322.
155. कायाकल्प - पृ0 132.
156. गबन - पृ0 51.
157. गबन - पृ0 51.
157. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 71.
158. मानसरोवर - भाग 1 - पृ0 133.
159. मानसरोवर - भाग 6 - पृ0 154.
160. संग्राम - पृ0 106.
161. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 446.
162. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 445.
163. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 469.
164. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 455.
165. कर्मभूमि - पृ0 5.
166. कर्मभूमि - पृ0 75.
167. कर्मभूमि - पृ0 161.
168. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 198.
169. सेवासदन - पृ0 195.
170. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 205.
171. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 198.
172. सेवासदन - पृ0 260.
173. सेवासदन - पृ0 227.
174. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 16.
175. प्रेमाश्रम - पृ0 53.
176. प्रेमाश्रम - पृ0 63.
177. प्रेमाश्रम - पृ0 205.
178. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 62.
179. प्रेमाश्रम - पृ0 248.
180. प्रेमाश्रम - पृ0 391.

181. चिट्ठी-पत्री - भाग 1.
182. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 30.
183. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 223.
184. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 393.
185. रंगभूमि - पृ0 180.
186. रंगभूमि - पृ0 447.
187. रंगभूमि - पृ0 113.
188. रंगभूमि - पृ0 151.
189. रंगभूमि - पृ0 513.
190. रंगभूमि - पृ0 547.
191. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 270.
192. कायाकल्प - पृ0 100.
193. कायाकल्प - पृ0 106.
194. कायाकल्प - पृ0 109.
195. कायाकल्प - पृ0 137.
196. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 304.
197. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 207.
198. निर्मला - पृ0 28.
199. गबन - पृ0 153.
200. कर्मभूमि - पृ0 26.
201. कर्मभूमि - पृ0 326.
202. मानसरोवर - भाग 2 - पृ0 286.
203. चिट्ठी-पत्री - भाग 1.
204. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 217.
205. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 191.
206. कर्मभूमि - पृ0 259.
207. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 93.
208. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 74.
209. गोदान - पृ0 298.
210. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 512.
211. चिट्ठी-पत्री - भाग 2.
212. मंगलसूत्र
213. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 333.
214. कफन - पृ0 86.
215. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 178.
216. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 68.
217. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 313.
218. रंगभूमि - पृ0 180.
219. विविध प्रसंग - भाग 3 - पृ0 208.
220. रंगभूमि - पृ0 306.
221. रंगभूमि - पृ0 420.
222. प्रेमाश्रम - पृ0 9.
223. प्रेमाश्रम - पृ0 275.
224. कलम, तलवार और त्याग - पृ0 59.
225. गुप्तधन - भाग 2 - पृ0 163.
226. प्रेमाश्रम - पृ0 289.
227. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 498.
228. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 506.
229. संग्राम - पृ0 145.
230. गुप्तधन - पृ0 145.
231. प्रेमाश्रम - पृ0 18.
232. प्रेमाश्रम - पृ0 15.
233. प्रेमाश्रम - पृ0 78.
234. प्रेमाश्रम - पृ0 85.
235. कायाकल्प - पृ0 95.
236. गोदान - पृ0 20.
237. गोदान - पृ0 18.
238. रंगभूमि - पृ0 182.
239. प्रेमाश्रम - पृ0 56.
240. गोदान - पृ0 57.
241. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 500.
242. रंगभूमि - पृ0 180.
243. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 130.
244. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 134.
245. रंगभूमि - पृ0 197.
246. विविध प्रसग - भाग दो - पृ0 158.
247. कायाकल्प - पृ0 116.

248. सेवासदन - पृ0 289.
249. सेवासदन - पृ0 183.
250. सेवासदन - पृ0 190.
251. गोदान - पृ0 27.
252. मानसरोवर - भाग 4 - पृ0 236.
253. गोदान - पृ0 106.
254. गोदान - पृ0 106.
255. गोदान - पृ0 106.
256. गोदान - पृ0 273.
257. गोदान - पृ0 188.
258. प्रेमाश्रम - पृ0 10.
259. प्रेमाश्रम - पृ0 137.
260. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 495.
261. प्रेमाश्रम - पृ0 381.
262. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 182.
263. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 252.
264. गोदान - पृ0 117.
265. प्रेमाश्रम.
266. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 499.
267. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 495.
268. मंगलाचरण - पृ0 5.
269. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 449.
270. प्रेमाश्रम - पृ0 133.
271. मानसरोवर - भाग चार - पृ0 30.
272. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 472.
273. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 156.
274. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 157.
275. मंगलाचरण - पृ0 46.
276. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 160.
277. वरदान पृ0 69.
278. गोदान - पृ0 357.
279. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 95.
280. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 95.
281. प्रेमाश्रम - पृ0 52.
282. कर्मभूमि - पृ0 150.
283. कर्मभूमि - पृ0 151.
284. कर्मभूमि - पृ0 152.
285. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 507.
286. कर्मभूमि - पृ0 287.
287. कर्मभूमि - पृ0 289.
288. प्रेमाश्रम - पृ0 51.
289. कर्मभूमि - 292.
290. गोदान - पृ0 20.
291. संग्राम - पृ0 134.
292. गोदान - पृ0 122.
293. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 96.
294. गोदान - पृ0 356.
295. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 507.
296. गोदान - पृ0 207.
297. प्रेमाश्रम - पृ0 90.
298. रंगभूमि - पृ0 57.
299. रंगभूमि - पृ0 83.
300. रंगभूमि - पृ0 88.
301. रंगभूमि - पृ0 472.
302. प्रेमाश्रम - पृ0 89.
303. कर्मभूमि - पृ0 45.
304. कर्मभूमि - पृ0 386.
305. गोदान - पृ0 203.
306. गोदान - पृ0 358.
307. गोदान - पृ0 94.
308. गोदान - पृ0 237.
309. कर्मभूमि - पृ0 241.
310. कर्मभूमि - पृ0 98.
311. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 176.

312. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 169.
313. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 282.
314. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 251.
315. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 333.
316. गोदान - पृ0 291.
317. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 511.
318. विविध प्रसंग - भाग एक.
319. चिट्ठी पत्री - भाग एक.
320. कायाकल्प - पृ0 96.
321. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 119.
322. प्रतिज्ञा - पृ0 15.
323. प्रतिज्ञा - पृ0 64.
324. प्रतिज्ञा - पृ0 92.
325. सेवासदन - पृ0 289.
326. मानसरोवर - भाग सात - पृ0 101.
327. रंगभूमि - पृ0 565.
328. रंगभूमि - पृ0 485.
329. कायाकल्प - पृ0 96.
330. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 404.
331. गबन - पृ0 32, 41, 44.
332. गबन - पृ0 66.
333. गबन - पृ0 51.
334. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 49.
335. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 28.
336. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 50.
337. विविध प्रसंग - भाग दो - पृ0 61.
338. मानसरोवर - भाग तीन - पृ0 13.
339. कफन
340. कर्मभूमि - पृ0 75.
341. कर्मभूमि - पृ0 104.
342. कर्मभूमि - पृ0 161.
343. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 190.
344. विविध प्रसंग - भाग एक.
345. चिट्ठी-पत्री - भाग एक.
346. मानसरोवर - भाग आठ - पृ0 95.
347. मानसरोवर - भाग दो - पृ0 229.
348. मानसरोवर - भाग चार - पृ0 373.
349. मानसरोवर - भाग चार - पृ0 352.
350. गोदान - पृ0 84.
351. विविध प्रसंग - भाग तीन - पृ0 55.
352. गोदान - पृ0 344.
353. गोदान - पृ0 175.
354. सेवासदन - पृ0 299.
355. गोदान - पृ0 59.
356. गोदान - पृ0 151.
357. गोदान - पृ0 162.
358. गोदान - पृ0 340.
359. गोदान - पृ0 313.
360. गोदान - पृ0 315.
361. चिट्ठी पत्री - भाग दो.



प्रेमचंद : विचारधारा और साहित्य

प्रेमचंद भारतीय जनता की पूर्णमुक्ति के लिए बेचैन थे। वह मुक्ति को भारतीय जनता की दैहिक, भौतिक एवं मानसिक दासता की मुक्ति से तादात्म्य कर देखने के पक्षधर थे। वह भारतीय जनता को सामाजिक परतंत्रता से मुक्ति दिलाने के साथ सामंती-पूंजीवादी शक्तियों की बढ़ती निरंकुश देशी सत्ता से भी स्वतंत्र कराना चाहते थे। इस तरह एक साथ राजनैतिक, धार्मिक सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता उनकी दृष्टि में वास्तविक आजादी थी। जान की जगह गोविन्द को पदासीन करने की दोमुही नीति उनकी समझ में आ चुकी थी इसलिए अंग्रेजी हुकूमत के खात्मे के साथ ही वह भारतीय सामन्त, जमींदार, महाजन और पूंजीपति वर्ग के खात्मे की भी वकालत करते थे। इसीलिए वह आजादी के बाद के स्वतंत्र भारत के नेतृत्व को भविष्य-दृष्टि दे सके और अपने साहित्य में शहरी पेटी-वुर्जुवा-वर्गीय नेतृत्व की दोमुही चाल का अनावरण करने में भी सफल रहे। वह समाज सुधार से चल कर आमूल सामाजिक परिवर्तन की मंजिल तक पहुँचते हैं। वह अन्ततः स्पष्ट शब्दों में "खूँखार जानवर" सरीखे शोषक वर्ग के विरुद्ध हथियारबद्ध होने की घोषणा करते हुए सशस्त्र क्रांति हेतु चुनौती देते नजर आते हैं।

राजनैतिक आजादी उनका मात्र लक्ष्य ही नहीं था, इसके साथ ही वह मानसिक आजादी भी चाहते थे। इसीलिए अपने साहित्य में विदेशी वेशभूषा के बहिष्कार की बात करते हुए, अंग्रेजी रहन-सहन, अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति की गुलामी का विरोध तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी का जयघोष किया।

स्वतंत्रता आंदोलन के लिए यद्यपि वह गांधी का रास्ता सहज और सुंदर मानते हैं। स्वाधीनता आंदोलन के लिए ऊँचा हौसला, फौलाद की दृढ़ता, श्रम का अभ्यास, जान हथेली पर लिए रहने की आवश्यकता, निर्भयता और संगठन को आवश्यक शर्त मानते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता को इस मार्ग में सफल कदम स्वीकारते हैं। गांधी के साथ वह स्वाधीनता के लिए सत्य, न्याय, त्याग, स्वार्थ त्याग और अहिंसा का समर्थन करते हैं लेकिन आवश्यकता पड़ने पर हिंसा की वकालत से भी परहेज नहीं करते। लेखो कहानियों में अनेक

स्थल इसके प्रमाण हैं। 'कर्बला' में अपने हक के लिए शहीद होना गौरव मानते हैं। "संग्राम" का हलधर भी 'प्रेमाश्रम' में बलराज के रूप में हिंसा का रास्ता अपनाता है। कहानी "कातिल की माँ" में ही नहीं; ऐतिहासिक कहानियों और जीवनियों में मातृभूमि के लिए मर मिटने का ही संदेश है। "धिक्कार" कहानी की माँ तो अपने देशद्रोही बेटे की हत्या कर के भी प्रेमचंद से सहानुभूति पाती है।

स्वतंत्रता आंदोलनों में शिक्षित समुदाय की निष्क्रियता और वर्गीय लोलुपता का उन्होंने विरोध किया और किसान मजदूर वर्ग के नेतृत्व से आशान्वित हुए। लेकिन वहाँ भी साफ सुथरा स्वराज्य नहीं देखते क्योंकि राज मद में किसान या उनके नेता भी मनमानी करने लगते हैं। वह शहरी पेटी वुर्जुवा नेतृत्व (अमरकांत, चक्रधर, प्रेमशंकर आदि) से संतुष्ट न होकर मजदूरों, किसानों के स्वतंत्र भारत की कल्पना करते थे पर इस शंका से बराबर आगाह करते रहे कि यह पेटी-वुर्जुवा नेतृत्व ही स्वतंत्र भारत का शासन सूत्र संभालने को तत्पर है, शायद इसी कारण वह गांधीवाद से अपनी असहमति प्रकट करने लगे थे और पूंजीवादी स्वराज्य की ओर बढ़ते जनांदोलन पर भी शंका करते हैं, सफेदपोश नेताओं की कलई खोलते हुए अनेक टिप्पणियों में तथा 'गोदान' के रायसाहब के रूप में पनपती भ्रामक नेतागीरी के प्रति आम जनता को सतर्क करते हैं। राष्ट्रवादी होकर, जनता के साथ स्वराज्य आंदोलन में जेल जाकर सहानुभूति प्राप्त करने वाले राय अमरपाल सिंह हुक्काम से मेल जोल बनाये रखते थे और वर्गीय हित के लिए सम्पादक को पालतू बनाये रखने वाले राय साहब, बैंक के कृपा पात्र बने रहने वाले राय साहब, छलबल से निर्वाचन जीत लेने, होम मेम्बर हो जाने और राजा का पदवी प्राप्त कर लेने पर नैनीताल, मसूरी, शिमला और लखनऊ में बंगला बनवाते हैं। प्रेमचंद आजादी के बाद के नेतृत्व और शोषण की सम्भावना को स्पष्ट करते हैं। हम देखते हैं कि प्रेमचंद के मस्तिष्क में आजादी की लड़ाई, उसके नेतृत्व और परिणाम का चित्र कितना स्पष्ट और सार्थक है। शायद इसीलिए वह गांधीवादी नेतृत्व का विरोध करते हुए समाजवादी संघर्ष के रास्ते को किसान मजदूर राज्य के लिए आवश्यक मानते थे। यद्यपि यह सत्य है कि मध्यवित्त वर्गीय व्यक्तित्व के तहत प्रेमचंद इन दोनों स्थितियों के मध्य आजीवन अन्तर्विरोधी विचार-प्रक्रिया में जीते रहे लेकिन अंतिम दिनों में उनके मन में सशस्त्र क्रांति की अनिवार्यता प्रबल हो उठी थी और आजादी के बाद स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र

प्रेमचंद : विचारधारा और साहित्य

प्रेमचंद भारतीय जनता की पूर्णमुक्ति के लिए बेचैन थे। वह मुक्ति को भारतीय जनता की दैहिक, भौतिक एवं मानसिक दासता की मुक्ति से तादात्म्य कर देखने के पक्षधर थे। वह भारतीय जनता को सामाजिक परतंत्रता से मुक्ति दिलाने के साथ सामंती-पूंजीवादी शक्तियों की बढ़ती निरंकुश देशी सत्ता से भी स्वतंत्र कराना चाहते थे। इस तरह एक साथ राजनैतिक, धार्मिक सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता उनकी दृष्टि में वास्तविक आजादी थी। जान की जगह गोविन्द को पदासीन करने की दोमुही नीति उनकी समझ में आ चुकी थी इसलिए अंग्रेजी हुकूमत के खात्मे के साथ ही वह भारतीय सामन्त, जमींदार, महाजन और पूंजीपति वर्ग के खात्मे की भी वकालत करते थे। इसीलिए वह आजादी के बाद के स्वतंत्र भारत के नेतृत्व को भविष्य-दृष्टि दे सके और अपने साहित्य में शहरी पेटी-वुर्जुवा-वर्गीय नेतृत्व की दोमुही चाल का अनावरण करने में भी सफल रहे। वह समाज सुधार से चल कर आमूल सामाजिक परिवर्तन की मंजिल तक पहुँचते हैं। वह अन्ततः स्पष्ट शब्दों में "खूँखार जानवर" सरीखे शोषक वर्ग के विरुद्ध हथियारबद्ध होने की घोषणा करते हुए सशस्त्र क्रांति हेतु चुनौती देते नजर आते हैं।

राजनैतिक आजादी उनका मात्र लक्ष्य ही नहीं था, इसके साथ ही वह मानसिक आजादी भी चाहते थे। इसीलिए अपने साहित्य में विदेशी वेशभूषा के बहिष्कार की बात करते हुए, अंग्रेजी रहन-सहन, अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति की गुलामी का विरोध तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी का जयघोष किया।

स्वतंत्रता आंदोलन के लिए यद्यपि वह गांधी का रास्ता सहज और सुंदर मानते हैं। स्वाधीनता आंदोलन के लिए ऊँचा हौसला, फौलाद की दृढ़ता, श्रम का अभ्यास, जान हथेली पर लिए रहने की आवश्यकता, निर्भयता और संगठन को आवश्यक शर्त मानते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता को इस मार्ग में सफल कदम स्वीकारते हैं। गांधी के साथ वह स्वाधीनता के लिए सत्य, न्याय, त्याग, स्वार्थ त्याग और अहिंसा का समर्थन करते हैं लेकिन आवश्यकता पड़ने पर हिंसा की वकालत से भी परहेज नहीं करते। लेखो कहानियों में अनेक

स्थल इसके प्रमाण हैं। 'कर्बला' में अपने हक के लिए शहीद होना गौरव मानते हैं। "संग्राम" का हलधर भी 'प्रेमाश्रम' में बलराज के रूप में हिंसा का रास्ता अपनाता है। कहानी "कातिल की माँ" में ही नहीं; ऐतिहासिक कहानियों और जीवनियों में मातृभूमि के लिए मर मिटने का ही संदेश है। "धिक्कार" कहानी की माँ तो अपने देशद्रोही बेटे की हत्या कर के भी प्रेमचंद से सहानुभूति पाती है।

स्वतंत्रता आंदोलनों में शिक्षित समुदाय की निष्क्रियता और वर्गीय लोलुपता का उन्होंने विरोध किया और किसान मजदूर वर्ग के नेतृत्व से आशान्वित हुए। लेकिन वहाँ भी साफ सुथरा स्वराज्य नहीं देखते क्योंकि राज मद में किसान या उनके नेता भी मनमानी करने लगते हैं। वह शहरी पेटी वुर्जुवा नेतृत्व (अमरकांत, चक्रधर, प्रेमशंकर आदि) से संतुष्ट न होकर मजदूरों, किसानों के स्वतंत्र भारत की कल्पना करते थे पर इस शंका से बराबर आगाह करते रहे कि यह पेटी-वुर्जुवा नेतृत्व ही स्वतंत्र भारत का शासन सूत्र संभालने को तत्पर है, शायद इसी कारण वह गांधीवाद से अपनी असहमति प्रकट करने लगे थे और पूंजीवादी स्वराज्य की ओर बढ़ते जनांदोलन पर भी शंका करते हैं, सफेदपोश नेताओं की कलई खोलते हुए अनेक टिप्पणियों में तथा 'गोदान' के रायसाहब के रूप में पनपती भ्रामक नेतागीरी के प्रति आम जनता को सतर्क करते हैं। राष्ट्रवादी होकर, जनता के साथ स्वराज्य आंदोलन में जेल जाकर सहानुभूति प्राप्त करने वाले राय अमरपाल सिंह हुक्काम से मेल जोल बनाये रखते थे और वर्गीय हित के लिए सम्पादक को पालतू बनाये रखने वाले राय साहब, बैंक के कृपा पात्र बने रहने वाले राय साहब, छलबल से निर्वाचन जीत लेने, होम मेम्बर हो जाने और राजा का पदवी प्राप्त कर लेने पर नैनीताल, मसूरी, शिमला और लखनऊ में बंगला बनवाते हैं। प्रेमचंद आजादी के बाद के नेतृत्व और शोषण की सम्भावना को स्पष्ट करते हैं। हम देखते हैं कि प्रेमचंद के मस्तिष्क में आजादी की लड़ाई, उसके नेतृत्व और परिणाम का चित्र कितना स्पष्ट और सार्थक है। शायद इसीलिए वह गांधीवादी नेतृत्व का विरोध करते हुए समाजवादी संघर्ष के रास्ते को किसान मजदूर राज्य के लिए आवश्यक मानते थे। यद्यपि यह सत्य है कि मध्यवित्त वर्गीय व्यक्तित्व के तहत प्रेमचंद इन दोनों स्थितियों के मध्य आजीवन अन्तर्विरोधी विचार-प्रक्रिया में जीते रहे लेकिन अंतिम दिनों में उनके मन में सशस्त्र क्रांति की अनिवार्यता प्रबल हो उठी थी और आजादी के बाद स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र

मनुष्य को वह पूर्ण मुक्त देखना चाहते थे। जब कि वह जानते थे यह पूर्ण मुक्ति उनके साहित्यकार की कल्पना है, वास्तविकता नहीं, और इसीलिए पूर्ण मुक्ति की कल्पना के प्रति वह शंकालु भी बने रहे। आदर्शवादी होने के नाते वह सुन्दर समाधान और स्वप्न देखते है पर ऐतिहासिक सत्य तथा संभावित भविष्य के प्रति यथार्थ चित्रण से आंखें नहीं मूंदते। यही उनके साहित्यकार की सर्वमान्य ईमानदारी है।

स्त्री की मुक्ति के लिए प्रेमचंद आरम्भ से न्याय की मांग करते हैं। वह स्त्री के लिए सामाजिक, धार्मिक स्वतंत्रता देने के साथ ही आर्थिक स्वावलम्बन भी परमावश्यक मानते हैं। सामाजिक गतिविधियों में उसे पुरुष के बराबर चलने-बोलने-पदासीन होने का अधिकार होना चाहिए। उसकी शिक्षा के लिए वह भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही मान्यता देते हैं और शिक्षा का परम लक्ष्य आदर्श गृहिणी होना ही मानते हैं। सेवाभाव और गृहिणीत्व उसकी शिक्षा का सार होना चाहिए। वह जागृत होकर, सामाजिक रूढ़ियों से निकलकर, सेवा, त्याग, समर्पण, पारिवारिक कर्त्तव्यशीलता अपना कर और वासना त्याग कर आदर्श गृहिणी बन सकती है। पश्चिमी शिक्षा का विरोध करते हुए प्रेमचंद नारी के तितलीपन पर आपत्ति करते हैं। वह प्रेम द्वारा दुखी मानवता को एक सूत्र में बाँध सकती है। मनुष्य का कर्तव्य है कि उसे प्रेम और श्रद्धा की वस्तु समझे। प्रेमचंद मानते हैं कि पुरूषों ने स्त्री जाति का शोषण किया है। अतः नारियों को जागृत होकर अपना मार्ग बनाना होगा और शिक्षा श्रम द्वारा परम्परित रूढ़िवादी प्रथाओं (पर्दा, मूर्खपति को देवता समझने की श्रद्धा, देह व्यापार, परावलम्बन) को तोड़कर स्वावलम्बिनी बनना होगा। वह वैवाहिक जीवन जीने के लिए स्वतंत्र है। जरूरी नहीं है कि वह विवाह जैसे महत्व के कार्य में माता-पिता का दबाव माने, वह स्वेच्छा से, प्रेम के साथ, सम स्वभाव वाले पुरूष से विवाह कर जी सकती है पर उसके बराबर रहकर, उसका साथ देकर ही; पैरों की जूती बन कर नहीं। यद्यपि प्रेमचंद तलाक का विरोध करते हैं पर किन्हीं आवश्यक दशाओं में उसकी मान्यता भी देते हैं। इस तरह प्रेमचंद पश्चिम की तरह भारतीय नारियों को स्वेच्छाचारिता से रोकते हैं किन्तु पूर्ण जागृत होने और भारतीय संस्कृति की मर्यादा में रहकर समझौता पूर्ण वैवाहिक जीवन बिताने की सलाह देते हैं। ये विचार प्रगतिशील हैं।

प्रेमचंद प्राचीन भारतीय संस्कृति के हिमायती हैं। यद्यपि संस्कृति में घुस आयी रूढ़ियों के विरोधी हैं और तर्क की कसौटी पर खरे न उतरने वाले

लोक विनाशकारी शास्त्र प्रसंगों को निषिद्ध मानते हैं किन्तु भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों के प्रति आस्थावान हैं। वह संस्कृति को जीवन रक्षा का हेतु मानते हैं। अपने रचनात्मक और विचारात्मक साहित्य में प्रेमचंद ने संस्कृति के तत्वों का सर्वत्र समाहार किया है। सेवा, प्रेम, अहिंसा, कर्म, बन्धुत्व, निःस्वार्थ सहयोग, क्षमा, सदाचार, संयम, परमार्थ, आतिथ्य, अध्यात्म, आदर्शवादी ऐतिहासिक व धार्मिक चरित्रों पर श्रद्धा, संतोष, सादा जीवन, श्रमशीलता, एकपत्नीत्व, पातिव्रत, ईश्वर, प्रारब्ध, पुनर्जन्म पर विश्वास, नारी के प्रति श्रद्धा और रक्षा का संकल्प, शरणागत रक्षा, रूप नहीं गुण को महत्व देते हुए विचार समता, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय कर्तव्य पालन, आदि पर अपने विचार व्यक्त करते हैं। वह प्रेम और सेवा से ही पाप का प्रायश्चित सम्भव मानते हैं क्योंकि हमारे सामाजिक क्रियाकलापों का आधार यही है। त्योहारों को वह प्रेम और सेवा की वस्तु मानते हैं। सेवा और प्रेम से ही समता एकता और मानवता की स्थापना संभव है। यही ईश्वर और स्वर्ग का संबल है, आधार है। प्रेम की व्यापकता इस बात में तय करते हैं कि राष्ट्रीय प्रेम के समक्ष दैहिक प्रेम महत्वहीन है। लिखते हैं-''यदि ईश्वर की ईश्वरता कहीं देखने में आती है तो केवल प्रेम में।''

वह कर्मवादी हैं। यद्यपि भाग्य पर भी विश्वास करते हैं किन्तु कर्म से ही मुक्ति और सुख संभव मानते हैं। उनका सम्पूर्ण साहित्य सेवा, प्रेम और कर्म का एकीकृत रूप है। अनेक कहानियों-(जीवनसार, इज्जत का खून, मुक्तिधन, वज्रपात, कामना तरू, कर्मों का फल, प्रतिशोध. आदि); उपन्यासों तथा निबन्धों-लेखों में ''भाग्य का खेल'' पर आस्था व्यक्त करते हैं किन्तु उसके बावजूद वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर निराशावादी नहीं बनते क्योंकि कर्मवाद पर उनका गहन विश्वास है, वह कर्म से ही मुक्ति मानते हैं। धर्म का मूल भी कर्म में ही निहित है। 'श्रीकृष्ण और भाव जगत' नामक निबन्ध में लिखते हैं-''यह गौरव भगवान् कृष्ण को ही है कि उन्होंने निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों को ही संयुक्त कर दिया। कर्मों में हानि या लाभ से उदासीन रहना वीरों का ही काम है। ममत्व के पंजे से निकलना मृत्यु के मुंह से निकलना है। आज यह ईश्वरहीन सभ्यता किसी संक्रामक रोग की तरह फैलती जा रही है। ईश्वरहीन उद्योग में शांति कहां? ऐसे समय में संसार के उद्धार का एक ही उपाय है और वह है कर्मयोग। इसी बात को समक्ष रखकर हम ममत्व, स्वार्थ और संघर्ष के पंजे से छूट सकते हैं।''

इसी तर्क पर प्रेमचंद राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा के आदर्शों को ग्रहण करते हैं और सांस्कृतिक विरासत गीता, महाभारत, रामायण की महत्ता स्वीकारते हैं।

आस्तिकता प्रेमचंद को विरासत में मिली थी। वह सर्वव्यापी ईश्वर पर विश्वास करते थे। यद्यपि प्रेमचंद की आस्तिकता और नास्तिकता को लेकर काफी विवाद है। हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा वर्ग उन्हें नास्तिक कहता है, स्वयं प्रेमचंद अपने को नास्तिक कहते हैं किंतु शोध की दिशा में कार्य करते समय प्रेमचंद साहित्य का अवगाहन करने के पश्चात् मुझे शताधिक प्रमाण मिले हैं जिनके आधार पर प्रेमचंद को आस्तिक हिन्दू सिद्ध किया जा सकता है। हालांकि अपने लेखों तथा पत्रों में उन्होंने कई बार स्पष्ट किया है कि ईश्वर मन की कल्पना है, अमीर शोषक वर्ग ने स्वार्थ सिद्धि के लिए, गरीबों पर शासन करते रहने के लिए, उनमें भय का दबाव डालने के लिए धर्म से जोड़कर ईश्वर की सृष्टि की है 'वास्तव में ईश्वर मानवीय क्रियाकलापों में हस्तक्षेप नहीं करता, भिन्न ईश्वर भावना के खिलौने हैं। साकार ईश्वर की कल्पना दूषित है।' द्रष्टव्य है कि साकार ईश्वर की सत्यता पर शंका करते हुए भी प्रेमचंद निराकार ईश्वर की सत्ता से इंकार नहीं करते और ईश्वर तत्व का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। भारत का कल्याण आत्मवाद के विकास में ही मानते हैं। "बासी भात में खुदा का साझा", "घमण्ड का पुतला", "डामुल का कैदी" आदि कहानियों में और प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प आदि उपन्यासों में तथा अनेक लेखों में ईश्वर के प्रति अटूट आस्था व्यक्त करते हैं। 'अशान्ति' नामक निबन्ध में लिखते हैं-"प्रत्येक प्राणी विश्वात्मा का एक अंश है, जो कुछ है विश्वात्मा का ही है, जीव निरंतर भगवान् की ओर बढ़ना चाहता है, अपने लुप्त ऐश्वर्य को अपनाना चाहता है, वह स्वयं सृष्टि का स्वामी है, यह ज्ञान उसकी अन्तरात्मा में छिपा हुआ है। जगत मिथ्या है, माया की अनोखी शान है, उसकी सब कुछ अपनाने की इच्छा अहंकार और अभिमान का रूप धारण कर लेती है। उससे मेरा और मैं का गर्व पैदा हो जाता है।...... ईश्वर जो करता है, भले के लिए करता है।" इसी तरह "एकता" नामक लेख में लिखते हैं-"यह समूची सृष्टि परमात्मा की इच्छा के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है, प्राणी विवेक की शरण लेकर अविवेक से हमेशा युद्ध करता रहता है।" यही नहीं कहानियों में, उपन्यासों और वैचारिक लेखन में शताधिक अंश प्रेमचंद की आस्तिकता के प्रमाण हैं, यथा-"देखिए परमात्मा क्या करते हैं, ईश्वर शांति दे, ईश्वर सद्गति

दे, हमारे तो रोम-रोम में आप विराज रहे हैं, आपको कैसे भुला दें, ईश्वर आत्मा को शांति दे, दुःख सह लेने की शक्ति दे, ईश्वर आपको स्वर्ग प्रदान करे, ईश्वर ने चाहा तो, ईश्वर से यही याचना है, ईश्वर बड़ा कारसाज है' आदि। ये सारे उदाहरण प्रेमचंद के ईश्वर के प्रति आस्था और आस्तिकता के प्रमाण हैं। एक पत्र में उनका कथन कि "मैं संदेह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ" से भी सिर्फ खण्डित विश्वास की ध्वनि निकलती है। जिसका कारण "लाटरी ने फिर धोखा दिया, ठाकुर जी की भक्ति किस उम्मीद से करूँ" जैसी भौतिक महत्वाकांक्षाओं की असफलता का दुख ही ज्यादा हो सकता है। 'होता जा रहा हूँ' से भी आहत आस्तिकता की ध्वनि निकल रही है। लेकिन इन कमजोर तथ्यों के आधार पर उन्हें नास्तिक कहना उनके प्रति अन्याय करना है। इसके आधार पर उन्हें अन्तर्विरोधी तो कहा जा सकता है। मध्यवित्त वर्ग के जागरूक सदस्य होने के नाते प्रेमचंद भी वर्गीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके और समाज की आस्था को खुलकर नकार नहीं सके किंतु बराबर उनके मन में ईश्वर को लेकर एक अन्तर्विरोध बना रहा जिसे अन्ततः वह तोड़ते नजर आते हैं और स्वयं को नास्तिक कह देते हैं। यह अन्तर्विरोध भारतीय जन का अन्तर्विरोध है और प्रेमचंद भी इसके इकाई या प्रतिनिधि हैं।

इसी तरह प्रेमचंद पुनर्जन्म, भूत-प्रेत, जादू-टोने, तंत्र-मंत्र को लेकर भारतीय जनता के समान ही अन्तर्विरोध के शिकार रहे। जबकि उनका तर्क प्रवीण प्रगतिशील मन इसकी सत्ता स्वीकार करने में बराबर कतराता रहा किंतु वर्गीय संस्कार और सामाजिक आस्था के प्रति खुलकर विद्रोह प्रेमचंद नहीं कर सके। अनेक कहानियों (कामनातरू, नागपूजा, गरीब की हाय, बलिदान, पूर्व संस्कार, भूत, पिसनहारी का कुँआ आदि) व उपन्यासों (कायाकल्प, रंगभूमि) में पुनर्जन्म पर विश्वास व्यक्त किया गया है। जादू-टोने के लिए 'निर्मला', 'वरदान' उपन्यासों में तथा तंत्र साधना की सफलता का विश्वास 'रंगभूमि' (विनय और सोफिया के प्रेम प्रसंग) में, प्रेमाश्रम (राय साहब में) और 'कायाकल्प' में देखा जा सकता है। पुनर्जन्म का संकेत गबन में देते हैं "मृत्यु उस अनन्त यात्रा का विश्राम मात्र है, जहां यात्रा का अंत नहीं, नया उत्थान होता है।" इसी प्रकार रंगभूमि में "जीव तो अमर है, मृत्यु तो केवल पुनर्जन्म की सूचना है। एक उच्चतर जीवन का मार्ग। विनय फिर संसार में आयेगा।" भूत-प्रेम के प्रति भी प्रेमचंद का अंध विश्वास बना रहा। चाहे "वरदान", "सेवासदन", "रंगभूमि", "कायाकल्प" आदि उपन्यास हों, चाहे "भूत", "बलिदान", "नागपूजा"

आदि कहानियां या प्रेमचंद के जीवन के अंतरंग प्रसंग। 14 नवम्बर 1921 के पत्र में पं० रामदास गौण को लिखते हैं-"पुत्री कमला डर गई है। अनुष्ठान आदि करके बाधा दूर करें।" प्रेमचंद की पहली पत्नी भी प्रेत बाधा से ग्रस्त रहा करती थी, इसे प्रेमचंद ने स्वीकार किया है। शिवरानी देवी लिखती हैं कि वह हर कार्य के पीछे ईश्वर की इच्छा आरोपित करते थे। मृत्यु से थोड़ी देर पहले भी उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की थी। शिवरानी देवी के शब्दों में-"आप अपने आप बकने लगे-हे भगवान् आज तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कुछ दिनों के लिए अच्छा कर दो अगर इस प्रार्थना पर कान नहीं देते तो अगले जन्म में फिर मुझसे इन्हें (पत्नी को) मिला दें।" अतः स्पष्ट है कि प्रेमचंद ईश्वर, पुनर्जन्म, भाग्य, भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र पर विश्वास करते थे। भले ही इन्हें लेकर उनके संस्कारी और प्रगतिशील विद्रोही मन में एक अन्तर्विरोध सदैव बना रहा।

ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करते हुए प्रेमचंद संस्कृति और धर्म के मूल तत्वों के प्रति भी आकर्षित थे। सेवा, त्याग, प्रेम, सहयोग, समता, और सत्य के सुदृढ़ स्तम्भ पर ही धर्म और समाज की नींव दृढ़ रह सकती है। वह धर्म को वुद्धि ग्राह्य मानते हैं, हृदय ग्राह्य नहीं। इसीलिए वह मूर्तिपूजा का भी बुद्धिगत समर्थन करते हैं-"हमने भगवान को मनौती से, घूस से, दक्षिणा से प्रसन्न होने वाला स्वार्थी बना रखा है। हम मूर्तिपूजा के विरोधी नहीं, टका-पूजा के शत्रु हैं।" वह धर्म को ईश्वर और मनुष्य के संबंध की वस्तु का नाम देते हैं इसीलिए धार्मिक उदारता की अपील करते हैं। धर्म-परिवर्तन और शुद्धि व प्रायश्चित का उनके विचारों से कोई मेल नहीं है। वह कर्म से ही वर्ण मानते हैं और वर्ण परिवर्तन को विकास कहते हैं, हिन्दू-मुसलमान, छूत-अछूत की व्यवस्था को हेय मानते हैं। मनुष्यता का उत्कर्ष जाति वर्ण भेद भूलकर परस्पर प्रेम, सेवा, समता के समाज में रहने से ही संभव है। मन-वचन और कर्म की शुद्धता से ईश्वर की उपासना करना और मानवता के हितार्थ समर्पित रहना ही सच्चा धर्म है। धर्म का मूल स्तम्भ भय है। जाति की रक्षा और कल्याण ही धर्म का अभिप्रेय है। प्रेम, सेवा और निःस्वार्थ कर्म ही धर्म का मूल है, यही देवत्व और ईश्वरत्व की प्राप्ति का साधन है। जिस धर्म में ये बातें नहीं वह घृणित और त्याज्य है। सिर्फ तीर्थ, पूजा, रोजा, नमाज ही धर्म नहीं है, मन वचन धर्म की अशुद्धता से इसका महत्व नहीं रह जाता। इसे प्रेमचंद पाखण्ड का नाम देते हैं और अपने साहित्य में "मोटेराम शास्त्री" की सृष्टि करके, "हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य" के तीन निबन्ध लिखकर इसकी भर्त्सना

करते हैं। वह सेवा और प्रेम को धर्म का प्रमुख आधार मानते हैं। मन का मेल प्रेम से ही संभव है, शांति प्रेम से ही स्थायी रह सकती है। प्रेम भोग और स्वार्थ साधन का नाम नहीं है, यही धर्म का मूल है, सुख की कसौटी है और अखिल मानवता को एक सूत्र में बांधने की जंजीर। मानवता का विकास और उत्कर्ष ही धर्म का लक्ष्य है। प्रेमचंद धर्म की समीक्षा इसी कसौटी पर करते हैं। प्राचीन हिंदू धर्म में यही सारी बातें थीं इसलिए प्रेमचंद उसकी प्रशंसा करते हैं और आस्था व्यक्त करते हैं। स्वार्थी, ''परद्रव्येषु लोष्ठवत'' की नीति वाले पंडा पुजारी, ब्राह्मण, ढोंगी, पुरोहित वर्ग की निकृष्ट प्रवृत्ति, भेदभाव पूर्ण आचरण, ईश्वर को अपना समझने के अहंकार, धन दान लेकर भी जनता को अछूत समझने की मूढ़ता, लंगोटी लगाये, चरस गांजा का दम भरते, भभूत रमाये धूर्त दुराचारी मूर्ख साधु संन्यासियों और सामन्ती भोग भोगने वाले महन्तों के पाखण्ड का प्रेमचंद कबीर जैसी आक्रामक शैली में प्रबल विरोध करते हैं। जनता का रूपया जनता के विरोध में खर्च करने वाले मुफ्तखोर वर्ग से छुटकारा दिलाना भी प्रेमचंद अनिवार्य मानते हैं और इसे जनता की पूर्णमुक्ति से तादात्म्य करके देखते हैं-''आज स्वराज्य भी मिल जाय तो अंधविश्वास के सम्मोहन में अचेत जनता इससे ज्यादा सुखी न होगी।'' धार्मिक दासता से मुक्ति उनकी पूर्णमुक्ति की धारणा का एक अंग है।

प्रेमचंद पाखण्ड का विरोध करते हुए भी प्राचीन भारतीय संस्कृति की लुप्तता पर चिंतित हैं और उसकी पुनर्स्थापना का आग्रह करते हैं। ''आज हम कितनी बेदर्दी से उसी संस्कृति की जड़ काट रहे हैं, क्या आप विदेशी साहित्य की नींव पर भारतीय राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करेंगें। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय प्रधान है जहां हम दुराचरण में पड़ जाते हैं। हमारी सभ्यता का आधार धर्म है, सेवा और त्याग, पश्चिमी सभ्यता का संघर्ष, स्वार्थ और संकीर्णता। यदि आपने धर्म की सत्ता खो दी, अपनी संस्कृति को खो बैठे, तो हमारा अन्त हो जाएगा। वे दिन फिर कब आयेंगे जब हमारी पुरानी संस्कृति का अभ्युदय होगा।'' अतः पश्चिमी सभ्यता का परित्याग कर ही भारतीय संस्कृति की रक्षा सम्भव है। तभी कल्याण के पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है।

प्रेमचंद के समाज-दर्शन पर तत्कालीन सुधार आंदोलनों विशेष कर आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसायटी का किसी न किसी रूप में प्रभाव तो रहा ही है, साथ ही भारतीय संस्कृति की

मूल चेतना से सम्बद्ध और मध्यवित्त वर्गीय परिवार के अनुभवी चिंतक होने के कारण सत्यासत्य निरूपण के प्रति उनकी अपनी रूझान भी थी। प्रेमचंद सामाजिक सुधार से चलकर सामाजिक परिवर्तन की मंजिल पर पहुंचे थे। वह प्रारम्भ में भले ही वर्ग सहयोग की ऐतिहासिकता का अंकन करते रहे हों किन्तु अन्ततः वर्ग विरोध और वर्ग संघर्ष के मार्ग को ही सामाजिक समता और मानवता के विस्तार के लिए उपयोगी मानने लगे थे। वह कर्म पर विश्वास करते थे। श्रम की अनिवार्यता ही समाज में समता का स्वरूप निर्धारित कर सकेगी। इसीलिए वह अपनी जरूरत स्वयं पूरी करने का हल सुझाते हैं और सबके लिए श्रम का उचित लाभ दिलाने की पेशकश करते है। श्रम का अपहरण करने वाले शोषक वर्गों-सामन्त, जमींदार, मिल मालिक, अधिकारी, महाजन वर्ग का विरोध करते हैं और पूँजीवाद के खिलाफ हथियार बन्द होकर लड़ने का बल भारतीय शोषित वर्ग को देते हैं। व्यक्तिवादी सम्पत्ति के अंत के बाद ही समाजवाद आ सकेगा। समता को वह व्यापक स्तर तक ले जाते हैं- स्त्री पुरूष की समता, वर्गों में लाभ के उपयोग की समता। यह अवश्य है कि वह मार्क्सवाद को पूरी तरह से उद्घाटित नही कर सके। आलोचक भले ही इसे प्रेमचंद की "मार्क्सवाद के प्रति सूझ की कमी" मानें पर सत्य है कि वह सामाजिक कलाकार थे जो युगीन चेतना से जुड़े थे अतः रूसी समाजवाद को तद्वत उद्घाटित करना अनैतिहासिक व भ्रामक अतिवाद होता, जिससे प्रेमचंद बचते हैं। लेकिन सत्य है कि जिस समाजवाद की बात प्रेमचंद करते हैं, जिस तरह हथियार बन्द होने का आह्वान करते हैं, जिस तरह क्रांति का, हिंसा का, बलिदान का, आत्माभिमान का चित्रण करते हैं; साफ जाहिर है, वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की दिशा दिखाते हैं; एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जहां शोषण का अन्त हो, प्रेम, सेवा, त्याग की परस्पर भावना हो; सब सुखी हों, संतुष्ट हों। यह भी निर्विवाद मानते हैं कि ऐसा समाज मजदूर किसानों के नेतृत्व में ही सम्भव है। पूँजीपतियों से लाभ की आशा करने को वह कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने का नाम देते हैं। समाजवादी धारणा के तहत ही वह आर्य समाज से जुड़ते हैं, गाँधी से जुड़ते हैं, सुभाष से जुड़ते हैं, गोर्की और मार्क्स से जुड़ते हैं। इस तरह एक साथ सहयोग और संघर्ष दोनों की परीक्षा करते हुए संघर्ष को ही बेहतर और प्रासंगिक मान लेते हैं।

प्रेमचंद का जीवन दर्शन भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों से निर्मित हुआ था। वह जीवन को खेल और संसार को खेल का मैदान मानते हैं कि हानि

लाभ जीवन मरन, यश अपयश विधि के हाथ है। मनुष्य खेलने के लिए बनाया गया है। खिलाड़ी की तरह वह भी सौ बार हार कर जीतने का हौसला लिए, बिना धांधली किये, रोये, मार-पीट किये, पाली को संगठित बनाते हुए मैदान में डटे रहने के पक्षधर हैं। वह आशावादी हैं, उनमें हार हार कर ही जीतने की आशा बलवती है। मनोमालिन्य, द्वेष, बैर भुलाकर हंसते रहकर खेलते रहना ही सच्चे खिलाड़ी का धर्म है। मित्र दयानारायण निगम को पत्र में प्रेमचंद लिखते हैं-"दुनिया को एक तमाशगाह या खेल का मैदान समझ लिया जाय। हम क्यों ख्याल करें कि हमसे तकदीर ने बेवफाई की? खुदा का शिकवा क्यों करें? खेल में शरीक होकर खुद हार और जीत को बुलाते हैं। कज्जाक के हाथों लूटा जाना जिंदगी का मामूली वाकया नहीं, हादसा है लेकिन खेल में हारना और जीतना मामूली वाकये हैं। अब मैं शायद न कहूँगा कि हाय जिन्दगी अकारथ गयी, कुछ न किया।"

जीवन की क्षण भंगुरता पर वह गंभीरता से सोचते थे और आस्तिकता से बंधे रहते थे। गबन में लिखते हैं-"सागर की हिलोरों का कहां अंत होता है, कौन बता सकता है? ध्वनि कहां वायु मग्न हो जाती है?" इसी प्रकार "निर्मला" में लिखते हैं-"जीवन तुमसे ज्यादा असार भी दुनिया में कोई वस्तु है? क्या यह उस दीपक की भांति क्षणभंगुर नहीं है, जो हवा के एक झोंके से ही बुझ जाता है। सांस का भरोसा ही क्या? और इसी नश्वरता पर हम अभिलाषाओं के कितने विशाल भवन बनाते हैं, मानो हम अमर हैं।"

प्रेमचंद प्रेम, विनय, सेवा और सद्व्यवहार को जीवन का अंग मानते हैं। द्वेष, क्रोध, अहंकार, स्वार्थलिप्सा, वासना आदि मन की बाधक वृत्तियाँ हैं इनका त्याग करके ही मनुष्य का विकास किया जा सकता है। मन वचन कर्म की पवित्रता ही सच्ची उपासना है, सर्वज्ञ ईश्वर के पास पहुंचने का यही मार्ग है। परलोक और अध्यात्म को जीवम के लिये घातक मानते हुए प्रेमचंद "आंतरिक क्रांति मेरा सिद्धान्त है" पर अधिक जोर देते हैं। विषमता, विद्वेष और अशांति का कारण धन लिप्सा ही है, अतः संतोष से शांति पाई जा सकती है। संसार को खेल का मैदान कहने वाले प्रेमचंद परिस्थितियों को "मेरे कर्मों का फल" मानते हैं और ईश्वर को दोष मुक्त कर देते हैं। श्रम और लगन ही विकास की सीढ़ियाँ हैं। वह लिखते हैं-"अखबार निकालना मेरी हठधर्मी है, कुछ जिद्दी हूँ और हार नहीं मानना चाहता, खेती करता तो उसमें भी इसी तरह चिमटता।"

आत्माभिमान और देशाभिमान उनके रोम रोम में बसा था। देश के लिए कुर्बानी को वह धर्म और देश सेवा कहते हैं। इज्जत और मर्यादा रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग तक करना उनकी दृष्टि में जायज था। मातृभूमि के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाली ऐतिहासिक कहानियां और लेख तथा स्वयं प्रेमचंद का जीवन इसके प्रमाण हैं। उनकी सबसे बड़ी आकांक्षा स्वराज्य संग्राम में विजयी होने की थी और यह विजय देशी-विदेशी दोनों तरह के शोषकों को धाराशायी करके ही संभव हो सकती थी, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था।

स्त्री को वह सेवा, त्याग, पवित्रता की देवी के रूप में देखना चाहते थे। बालकों का आदर्श ईमानदार, परिश्रमी, स्नेही, शालीन और क्षमाशील तथा सद्गुण संपन्न होना मानते हैं। धनी खुशामदी और विलासी संतानों से वह घृणा करते हैं। उनके आदर्श समाज का स्वप्न है-"जिसमें सबको समान अवसर मिले" इसके लिए सामाजिक विकास का सिद्धान्त उत्तम है पर क्रांति से यदि ऐसे समाज का निर्माण हो सके ता प्रेमचंद उसका भी समर्थन करने की बात कहते हैं।

वह गांव के सादे-सरल जीवन में जीने के आकांक्षी थे। शहर का कृत्रिम जीवन सहज विकास और सुख शांति में बाधक है। वह स्वीकार करते हैं-"अगर आदमी का काबू हो तो किसी देहात में जा बैठे, दो एक जानवर पाल ले, कुछ खेती कर ले और जिंदगी गांव वालों की खिदमत में गुजार दे। शहर में रहकर खासकर बड़े शहर में जिन्दगी, सेहत सब कुछ तबाह हो जाती है।" एक दूसरे पत्र में लिखते हैं-"यह शहरी जिंदगी, जहाँ परिस्थितियों ने लाकर मुझको पटक दिया है, मेरी मानसिक और भावनात्मक हत्या कर रही है। गांव का शांत जीवन मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग है।"

अपने साहित्य में प्रेमचंद शहरी जीवन की विडम्बनाओं और पश्चिमी सभ्यता जनित दुष्परिणामों के प्रति असंतोष व्यक्त करते हैं। रंगभूमि इसका उदाहरण है। वह मशीनी सभ्यता से उत्पन्न शहरी विलासी धनप्रधान सभ्यता से असंतुष्ट थे क्योंकि यह मानवता के विनाश और अशांति का कारण है। किन्तु विरोध के बावजूद वह विश्वस्त थे कि आर्थिक संग्राम के इस युग में इस सभ्यता को तत्काल रोका भी नहीं जा सकता, अतः जीना तो इसी सभ्यता में पड़ेगा पर जीने की शर्तें हमें खुद तय करनी पड़ेंगी और उनमें से एक शर्त होगी किसानों और मजदूरों का स्वराज्य।

प्रेमचंद जनसंख्या को सीमित करने के पक्षधर थे। वह जनसंख्या की

वृद्धि को भारत की भुखमरी का एक कारण मानते हैं। जैनेन्द्र को पत्र में लिखते हैं-"दो पुत्रों तक बधाई दूँगा, उसके बाद जरा सोचूँगा।" रंगभूमि में विनय कहता है-"हमारे देश में जनसंख्या जरूरत से ज्यादा हो गई है। हमारी जननी संतान वृद्धि के भार को अब नहीं संभाल सकती, भोजन का अभाव ही हमारे नैतिक और आर्थिक पतन का कारण है।" कहानी "गमी" में नायक तीसरी संतान को गमी (विपत्ति) की संज्ञा देता है। उनके उपन्यासों व कहानियों में सीमित परिवार ही चित्रित किये गये हैं। "कानूनी कुमार" में एक संतान के बीच सात वर्ष के अन्तराल का आग्रह है। उन्होंने "संतान निग्रह" के बिल का समर्थन किया और ब्रह्मचर्य पालन तथा कृत्रिम साधन के उपयोग -दोनों को मान्यता दी। प्रेमचंद का परिवार भी सीमित परिवार का ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रेमचंद साहित्य को मानव जीवन की आलोचना मानते थे और साहित्यकार को अपने काल का विधाता। साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन ही नहीं, आत्मपरिष्कृति भी है। वह जागृति प्रदान करने की वस्तु है। कर्म और संघर्ष की ओर प्रेरित करना उसका कार्य है। वह उसी साहित्य को कसौटी पर खरा पाते हैं जिसमें उच्चचिन्तन, स्वाधीनता का भाव, सौन्दर्य का सार, जीवन की सच्चाईयों का प्रचार हो, जो मनुष्यों में गति, संघर्ष बेचैनी और जागृति पैदा करे। साहित्य देश काल का प्रतिबिम्ब भी होता है। साहित्य में नग्न यथार्थ और कोरे आदर्श दोनों को घातक मानते हुए प्रेमचंद आदर्शोन्मुखी यथार्थ के समावेश की वकालत करते हैं। अपने साहित्य संबंधी निबंधों और भाषणों में प्रेमचंद ने मानवता को उन्नत करने वाले साहित्यिक उद्देश्यों की परिकल्पना की है। प्रगतिशीलता ही साहित्यकार का सबसे बड़ा गुण है। प्रेमचंद अपनी तर्कप्रवीण प्रगतिशीलता के माध्यम से ही नयी परम्परा का सृजन कर सके। वह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलते हैं। साहित्य कला होने के नाते उपयोगी है। वह "कला-कला के लिए" सिद्धान्त को भी महत्व देते हैं किन्तु यह सिद्धान्त तभी सफलीभूत हो सकता है जब देश सुखी सम्पन्न हो। परतंत्र देश के साहित्य के लिए तो "कला जीवन के लिए" का सिद्धान्त ही उपयुक्त और प्रासंगिक होता है। इसलिए प्रेमचंद साहित्य को जीवन का आलोचक और जीवन का सर्जक मानते हैं।

प्रेमचंद के रचनात्मक लेखन और विचारात्मक लेखन में काफी फासला नहीं है। दोनों में एकरूपता है। जहां कहीं उनमें अंतर दिखता है या अपनी

ही कही गयी बात को नकारते हुए नयी बात कहने का आग्रह है, वहीं प्रेमचंद के विकसित विचारधारा का प्रमाण भी मिलता है। तमाम समता के बावजूद उनमें अन्तर्विरोध भी है। अन्तर्विरोध मनुष्य का प्राकृतिक गुण है। अन्तर्विरोध रहित होना मनुष्य के लिए अच्छी बात नहीं है। अन्तर्विरोध भारतीय जनता और भारतीय मध्यवित्त वर्ग का एक सच है, प्रेमचंद या कोई भी समाज चिंतक उससे बच नहीं सकता। लेकिन प्रेमचंद के साहित्य में रचना और विचार दोनों को साथ लेकर और दोनों के बीच एक संगत क्रमबद्धता का विकास मिलता है।

प्रेमचंद अपने तमाम वर्गीय, वैचारिक अन्तर्विरोधों के बावजूद प्रगतिशील, ईमानदार, परम्पराभंजक और युग निर्माता साहित्यकार सिद्ध होते हैं। गरीबों की पक्षधरता, स्वाधीनता के लिए समर्पण की भावना, समूचे शोषक वर्ग के प्रति घृणा और उनसे संघर्ष करके किसान मजदूरों द्वारा सत्ता हस्तांतरण करने की चुनौती, धर्म के पाखण्डमय स्वरूप के खात्मे का संकल्प, नारी मुक्ति के लिए आस्था और मानवता की समृद्धि के लिए भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों सेवा, प्रेम, कर्म के सुपरिचित पथ पर चल कर निरंतर संघर्ष कर शोषण विहीन समाजवाद की स्थापना का संकल्प ही उनके महान लेखक होने का साक्ष्य है। प्रश्न यह नहीं कि उनमें कितने अन्तर्विरोध थे, महत्व इस बात का है कि वह मानवता की सुख समृद्धि के लिए देशी-विदेशी सभी तरह के शोषक वर्गों के विरूद्ध हथियार बन्द होकर संघर्ष करने की कितनी तीव्र चुनौती देते हैं और अन्त तक गरीबों की पक्षधरता करते हैं। इस मुद्दे पर भारतीय राजनीति, समाज, इतिहास और साहित्य का कोई भी सच्चा पारखी प्रेमचंद की रचनात्मक ईमानदारी और सामाजिक यथार्थवादी विचारधारा पर उंगली नहीं उठा सकता; ऐसी मेरी मान्यता है।



ा–
र–
9.
क
ाय
हीं
क,
ा।
ावं
ता

से
),
ह)
ी,
।
ना
ग

ग
त

ा
)
।





डॉ0 बालकृष्ण पाण्डेय

जन्म : उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जिले में कुण्डा-तहसील का एक गाँव-पुरनेमऊ (मनोखर-बाग) शैक्षिक प्रमाण-पत्र में 28 मई 1959.

शिक्षा : बजरंग महाविद्यालय कुण्डा से स्नातक करने के उपरान्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से एम0 ए0 और यहीं से 1985 में कवि, कथाकार, आलोचक, प्रो0 दूधनाथसिंह के निर्देशन में डी0फिल। पिता श्री केशव प्रसाद पाण्डेय एवं माता श्रीमती गनपति देवी से शिक्षा तथा संघर्ष की प्रेरणा।

लेखन : सूरदास (आलोचना पुस्तक), गौरैया से छोटा आदमी (बाल कहानी संग्रह), रोचक कहानियां (बाल कहानी संग्रह) विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविता, कहानी, आलोचना, लेख एवं समीक्षाएं प्रकाशित। अनियत कालीन पत्रिका, 'तेजस्वी' का संपादन (एक अंक) और 'नवदूवी' तथा 'प्रतिज्ञा-प्रतीक' का सहसंपादन।

नौकरी : उ0 प्र0 के प्रान्तीय उच्च शिक्षा विभाग (पी0 ई0 एस0) में प्रथम नियुक्ति अगस्त 1990।

सम्प्रति : रीडर, हिन्दी विभाग, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय फतेहपुर (उ0प्र0) दूरभाष (05180) 228123 (आवास)।